भारत पर अमरीकी फंदा

भारत पर अमरीकी फंदा

एल. नटराजन

प्राक्कथन : डॉ. जे. सी. कुमारप्पा



अनुवादक : ओमप्रकाश संगल

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, बम्बई ४.

पहला हिन्दी संस्करण : जुलाई १९५३

प्रकाशक का नोट

अंग्रेजी में इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही भारत के राजनीतिक क्षेत्र में तहलका मच गया। सभी ने एक स्वर से इसकी सराहना की। इसी बात को ध्यान में रखकर हम इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवाद स्वतंत्र है और हिन्दी संस्करण के आकार को थोड़ा छोटा बनाने के लिये कहीं-कहीं हमने इसे संक्षिप्त भी बना दिया है। लेकिन मूल पुस्तक की सभी बातें इसमें शामिल हैं। समालोचना के लिये इस पुस्तक का कोई भी अंश उधृत किया जा सकता है। लेकिन आम तौर पर इसके किसी अंश या अध्याय को हिन्दी या दूसरी भाषाओं में प्रकाशित करने के लिये प्रकाशक की लिखित अनुमति लेना आवश्यक है। —जुलाई १९५३



मूल्य तीन रुपया

विषय सूची



प्राक्कथन

पिछली शताब्दियों में, प्रत्येक देश को अपनी परम्पराओं, रहन-सहन के अपने विशेष ढंग, अपनी संस्कृति, और अपनी विशेष विचारधारा के अनुसार अपना जीवन ढालने की स्वतंत्रता थी। समय-समय पर पड़ोस के सरदार इस स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करते थे और अपने समृद्धिशाली पड़ोसियों को लूटने के लिये उतर आते थे। उनके अनुयायी देश में ही रह जाते थे, और कभी कभी तो नये राजवंश भी क़ायम कर देते थे।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद इन व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की जगह निर्बलों के संगठित शोषण ने ले ली। यह शोषण सीधे-सादे लोगों के समूहों को, देशों को या पूरे राष्ट्रों को पराधीन रख कर किया जाता है। इसके लिये जो तरीक़े अपनाये जाते हैं, वे विभिन्न ढंग के हैं और उनके नाम भी अलग-अलग हैं, परन्तु उन सबका असर एक सा ही होता है। उनका वास्तविक उद्देश्य बड़े पैमाने के मशीनोंवाले उद्योगों के वास्ते कच्चा माल और मज़दूर प्राप्त करना है। व्यक्तिगत दासता, अर्द्ध-गुलाम अथवा कम्मी प्रथा, या सामन्तवाद की तुलना में यह एक उन्नत अवस्था है।

ब्रिटेन भारत में अपने साथ सामन्ती पृष्ठभूमि लेकर आया था। इसलिये, अपने उपनिवेशों के साथ उसके जो सम्बंध स्थापित हुए, उनके साथ एक ऐसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था क़ायम हुई जिसे राजनीतिक साम्राज्यवाद कहना चाहिये। इसका अन्तिम उद्देश्य तो शोषण ही था, परन्तु साथ में पराधीन राष्ट्रों के प्रति भी कुछ जिम्मेदारी समझी जाती थी। इस प्रणाली में शासक देश पर यह जिम्मेदारी रहती थी कि वह सुराज्य स्थापित करे।

कुछ समय बाद अमरीकी इस मैदान में उतरे। वे अपने साथ दासता या गुलामी की परम्परा लाये थे। इसलिये, "अविकसित" देशों पर नियंत्रण रखने का उनका ढंग अंग्रेज़ों के ढंग से भिन्न था। अमरीकावाले आर्थिक रास्ते पर चल रहे हैं, जिसमें प्रजा की सुख-सुविधा का लगभग कोई ध्यान नहीं रखा जाता। 15809

इसके अतिरिक्त, आजकल संसार के राष्ट्रों को दो विचारधाराओं के झण्डे के नीचे एकत्रित करने की चेष्टा की जा रही है। एक ओर प्राइवेट या निजी उद्योग की विचारधारा है; दूसरी ओर है, सामाजिक न्याय की विचारधारा। लोगों से अपने विचार मनवाने के इस संघर्ष में दुनिया दो प्रतिद्वन्दी दलों में बँटती जा रही है। अमरीका निजी उद्योग का समर्थन करता है, जिसका आधार निजी सम्पत्ति है और जिससे निजी मुनाफ़ा उत्पन्न होता है। सोवियत रूस सामाजिक न्याय का समर्थन करता है जिसका आधार मनुष्य की बुनियादी समानता और उससे उत्पन्न होनेवाली यह आवश्यकता है कि जीवन में सभी को समान अवसर हासिल होना चाहिये।

इन दो कैम्पों के कारण संसार दो दलों में विभाजित हुआ जा रहा है। रूस अपना काम एक मिशनरी की तरह करता है। जिस बात में वह विश्वास करता है, उस पर अमल करता है और अपने सिद्धान्तों को कार्यक्षेत्र में उतार कर दिखाता है; और इस प्रकार पड़ोसियों को अपनी मिसाल से समझाकर अपने अनुयाइयों की तादाद बढ़ा रहा है।

किन्तु, अमरीका दूसरे देशों को अपने चंगुल में फँसाने के लिये हर तरह के हथकण्डों का प्रयोग कर रहा है, जिनमें धोखा, कपट, बल-प्रयोग, ज़ोर-ज़बर्दस्ती और आर्थिक प्रपंच—सब कुछ शामिल हैं। उसके उपाय ऐसे होते हैं जिनसे देश स्वाधीन नहीं होते, बल्कि मकड़ी के जाले में फँसते जाते हैं। जाल इस होशियारी से बुना जाता है कि शिकार देश को यह पता भी नहीं चलता कि हो क्या रहा है; और वह देश जितना ही छटपटाता है, उसका अन्त उतना ही नज़दीक आता जाता है।

दुर्भाग्य से, लोग आजकल प्रायः इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि रुककर अपने चारों ओर की घटनाओं पर कुछ क्षण विचार करने की भी उन्हें फ़ुरसत नहीं रहती। ज़िन्दगी की छीना-झपटी और भाग-दौड़ उन्हें इस बात की इजाज़त नहीं देती कि वे बैठकर परिस्थिति का मूल्यांकन करें। और ज़िन्दगी के इस दबाव का इस्तेमाल, ज़िन्दगी को खतम करने के लिये किया जाता है।

अमरीका को दुनिया भर में अपना आर्थिक जाल फैलाते हुए डेढ़ सौ वर्ष से अधिक हो गये हैं। परन्तु भारत में अभी तक वह अधिक सफल नहीं हो

सका था। कारण कि अंग्रेज़ अपने स्थिर स्वार्थों की रक्षा करने के लिये और ईर्षा की वजह से भारत को अमरीकी फन्दे से बचाये हुए थे। पर हाल में, यह बचानेवाली बाड़ गिर गयी है और भारत का बेरहमी से शोषण करने का रास्ता खुल गया है। यह बड़े दुख की बात है कि यह चीज़ नेहरु जैसे देशभक्त नेता के नेतृत्व में हो रही है। अमरीकियों के छल-छंद—जो अपनी कामयाबी के लिये आधुनिक मनोविज्ञान का भी प्रयोग करते हैं—इस सीधे, सरल, सहज-विश्वासी राजनीतिज्ञ के लिये बड़े कठिन सिद्ध हो रहे हैं।

अतः यह और भी जरूरी हो जाता है कि साधारण आदमी को उन तमाम कोशिशों की पूरी जानकारी करायी जाय जो उसे फँसाने के लिये हो रही हैं। इसलिये, भारत के लिये यह एक बड़ी खुशी की बात है कि ऐसी तमाम जानकारी, बिना अधिक वाद-विवाद में उलझे, एक छोटी सी किताब में जमा कर दी गयी है। **यह पुस्तक क्या है मानो ऐसी जानकारी का भण्डार है**। लेखक ने इस बहुमूल्य सामग्री को जमा करके और बड़े सरल ढंग से उसे पाठकों के सामने पेश करके हम सबको अपना ऋणी बना लिया है। लेखक ने बताया है कि पिछले सौ बरस से भी ज्यादा अरसे के दौरान में भारत को अपने आर्थिक जाल में फँसाने के लिये अमरीका ने कौन-कौन से हथकण्डे चलाये हैं। यह किताब इसका एक बहुत ही दिलचस्प क़िस्सा है और वह हमें एक बड़े खतरे से आगाह करता है। यदि हमने इस चेतावनी की ओर ध्यान नहीं दिया, तो फिर लाज़िमी तौर पर और शीघ्र ही हम पर भी मुसीबत का वह पहाड़ टूट सकता है जो कोरिया पर टूटा है। मेरी यह जोरदार मनोकामना है कि समय रहते ही हमारी आँखें खुल जायें और हम सजग और सतर्क हो जायें।

मगनवाड़ी,
वर्धा, मध्य प्रदेश.
३१ अक्तूबर, १९५२.

जे. सी. कुमारप्पा

भूमिका

"दक्षिणी एशिया आज एशिया का राजनीतिक दृष्टि से सबसे दृढ़ भाग है। इसमें ऐसे देश शामिल हैं जिनका दृष्टिकोण पश्चिम की ओर झुका हुआ है, जो आम तौर पर पश्चिम से सहयोग करते हैं, जो कम्युनिज्म की अन्दरूनी समस्याओं से परिचित हैं, और जो आक्रमण से अपनी रक्षा करने का दृढ़ निश्चय रखते हैं।...

"इस भाग में ४५ करोड़ लोग रहते हैं जो दुनिया की कुल आबादी का पांचवां हिस्सा और आज़ाद दुनिया की आबादी का तिहाई हिस्सा होते हैं।...

"अगर कभी ये लोग हमसे अलग होकर कम्युनिज्म के साथ चले गये, यदि ये लोग भी उन ८० करोड़ लोगों के साथ मिल हो गये जो आज कम्युनिज्म के नियंत्रण में हैं, तो दुनिया की ज्यादातर आबादी कम्युनिज्म के नीचे चली जायगी।...

"इस इलाक़े के अलग-अलग देशों को लिया जाय, तो जाहिर है कि क्षेत्रफल और आबादी दोनों की दृष्टि से, इनमें सबसे बड़ा भारत है। भारत में ३५ करोड़ लोग रहते हैं। यह आज़ाद दुनिया के सब से बड़े देशों में से है।...दोनों ही दृष्टि से—आबादी और खनिज पदार्थों तथा दूसरे भौतिक साधनों की दृष्टि से—भारत का पश्चिमी संसार के लिये अत्यधिक महत्व है।"

—जौर्ज सी. मघी, सहायक विदेश-मंत्री, अमरीकी प्रतिनिधि सभा की विदेश विभाग समिति के सामने बोलते हुए; २४ जुलाई, १९५१।

"एशिया की कुंजी अब भारत में है। यदि भारत हमारे हाथ से जाता रहा, तो सारा एशिया जाता रहेगा। फिर छोटे देशों में बचने की सामर्थ्य न रहेगी।...

"तब अमरीका अकेला पड़ जायगा और उसका कोई मददगार न रहेगा। और तब शायद लड़ाई जीतने का भी समय हाथ से निकाल जायगा।"

—जस्टिस विलियम ओ. डगलस का 'लुक' पत्रिका में लेख; १४ अगस्त, १९५१।

उपरोक्त दो उद्धरणों को पढ़कर पाठकों की समझ में आ जायगा कि अमरीकी सरकार की नज़रों में भारत का आजकल कितना भारी महत्व है। अमरीकियों की दृष्टि में अब भारत अंग्रेज़ों की बपौती सम्पत्ति नहीं रह गयी है जिसे कोई छू नहीं सकता। न अब वह उनके लिये, केवल एक गौण महत्व का क्षेत्र है। भारत एशिया में, अमरीका की एशियाई नीति का केन्द्र-बिन्दु बन गया है।

हम भारतीयों के लिये भी अमरीका केवल एक विदेशी मुल्क नहीं है, बल्कि एक ऐसा देश है जिसका हमारे भविष्य पर भारी प्रभाव पड़नेवाला है। अमरीका को हम अपने लिये चाहे न्यामत समझें या खतरा, किन्तु उस शक्तिशाली देश और उसकी सरकार के साथ हमारे देश के सम्बंधों का बुनियादी महत्व है। स्वभावतः, अमरीका के प्रति हमारी क्या नीति हो, यह एक ऐसा सवाल बन गया है, जिस पर आज भारत में सबसे अधिक और गरम बहस चल रही है।

परन्तु यह बहस या तो प्रायः एकाध तात्कालिक प्रश्नों को लेकर होती है, या समाजवाद और पूंजीवाद की आम बहस उसका आधार बन जाती है। विरोधी पक्षों में से, किसी की तरफ़ से भी अभी तक समस्या का सर्वांगीण अध्ययन हमारे सामने नहीं आया है। यह कमी अकारण नहीं है। एक राजनीतिक प्रश्न के रूप में अमरीका ने अभी हाल ही में भारतीय चेतना में प्रवेश किया है, गोकि इसकी प्रतिक्रिया बड़ी सख़्त हुई है। घटना-चक्र इतनी तेज़ी से घूम रहा है कि ऐसी कोई पुस्तक लिखना असम्भव है, जो चन्द महीने के अन्दर ही पुरानी न पड़ जाय।

इन सब कठिनाइयों को जानते हुए भी, यदि मैंने यह पुस्तक लिखने का साहस किया है तो केवल इसलिये कि इस प्रश्न का हमारे जीवन के लिये और हमारी अगली पीढ़ी के जीवन के लिये भारी महत्व है।

पहले दो अध्यायों में इतिहास के बारे में कुछ बातें कही गयी हैं, जिनकी जानकारी होना मौजूदा बहस के लिये जरूरी है। उनके बाद दूसरे महायुद्ध के बाद के दोनों देशों के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सम्बंधों का विस्तृत विश्लेषण आता है। यद्यपि इस पुस्तक का सम्बंध खास तौर पर भारत से है, परन्तु कुछ चर्चा पाकिस्तान की भी की गयी है।

ऐसे आरोपों से, जिन्हें विपक्षी विना किसी सवूत के एक-दूसरे पर लगाया करते हैं, मैंने अपने को अलग रखने की कोशिश की है। मेरी कोशिश यह रही है कि केवल तथ्यों पर विचार करूँ और सोचूँ कि हमारे राष्ट्रीय हितों के लिये उनसे क्या अवश्यम्भावी परिणाम निकलते हैं। तथ्य एकत्र करने में काफ़ी समय और मेहनत लगी है। यदि दूसरे अनेक मित्रों का सहयोग और सहायता मुझे न मिलती तो मैं यह काम कभी पूरा न कर पाता। विशेष रूप से, मैं एक अमरीकी मित्र का बड़ा कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे न सिर्फ़ अखबारों की कतरनें, सरकारी प्रकाशन, और दूसरी बहुत सी बहुमूल्य सामग्री भेजी, बल्कि मेरे अनगिनत सवालों के जवाबों का पता लगाने में अपना बहुत सा समय खर्च किया। मुझे इस बात का बड़ा खेद है कि यह मित्र अपना नाम गुप्त रखना चाहते हैं और इसके लिये तैयार नहीं हैं कि सह-लेखक के रूप में उनका नाम भी किताब पर प्रकाशित हो। इस देश के कई मित्रों ने परामर्श और अपनी राय देकर मेरी बड़ी मदद की है, जिसके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ। और अन्त में, अमरीकी सूचना विभाग को भी उस सहयोग के लिये धन्यवाद देना आवश्यक है जो उसने अनजाने में मुझे दिया है।

एल. नटराजन

दिल्ली,
१५ जून, १९५२.

पहला अध्याय

दूसरे महायुद्ध के पहले भारत-अमरीका सम्बंध

भारत और अमरीका के बीच व्यापार

अमरीका ने सबसे पहले १७८५ में भारत से सीधे व्यापार करना शुरू किया। उस साल **ग्रैण्ड टर्क** नामक एक अमरीकी जहाज कलकत्ते के सफ़र को भेजा गया। अमरीका अभी हाल में ही आज़ाद हुआ था। उसके व्यापारियों ने पूर्व में ब्रिटिश और फ्रांसीसी कम्पनियों के झगड़ों से फ़ायदा उठाया और दोनों से सुविधाएँ ऐंठी। अमरीका की फेडरल (संघ) सरकार ने इस व्यापार को बढ़ाने के लिये क़दम उठाने शुरू किये। १७९१ के चुंगी के क़ानून (टैरिफ़ ऐक्ट) के द्वारा इस प्रकार के कर लगाये गये जिनसे अमरीकी जहाज़ों में आनेवाले आयात को बढ़ावा मिलता था। भारत से व्यापार करने के लिये उदारतापूर्वक कर्ज़ दिये गये। १७९४ में अमरीका की ब्रिटेन से एक संधि हुई जिसे जे-संधि के नाम से पुकारा जाता है। उसके मुताबिक अमरीका को भारत में व्यापार की विशेष सुविधाएँ मिल गयीं। १८०० में अकेले कलकत्ता से बारह जहाज़ माल भर कर बोस्टन के लिये रवाना हुए। इसी साल भारत से अमरीका जानेवाले सामान की क़ीमत तीस लाख डालर आँकी गयी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अफ़सरों ने बहुत सी दौलत ग़ैर-क़ानूनी ढंग से जमा कर ली थी और उसे वे सीधे इंगलैण्ड न ले जा सकते थे। अमरीकियों ने इस दौलत को ढो-ढो कर काफ़ी पैसा कमाया। जे-संधि के मुताबिक अमरीकावाले केवल भारत और अमरीका के बीच व्यापार कर सकते थे। परन्तु नेपोलियन के युद्धों के काल में अमरीकी व्यापारियों ने इस संधि को ताक पर उठाकर रख दिया और वे भारत का सामान योरप पहुँचाने लगे। इससे उनका व्यापार खूब बढ़ा। भारतीय कपड़े और मसाले के आयात ने अमरीका को,

> "अनेक प्रकार के कारखाने खोलने में मदद की, जैसे रेशम कातने के कारखाने, मोरक्को चमड़ा तैयार करने के कारख़ाने और 'उन

बड़ी सम्पत्तियों की नींव डाली जिनसे न्यू इंगलैण्ड के अनेक पुराने परिवारों की दौलत की शुरुआत हुई थी।" (एमेरी आर० जौन्सन की पुस्तक "अमरीका का देशी और विदेशी व्यापार" से उद्धृत)

इस व्यापार की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उस ज़माने के बोस्टन में भारत से व्यापार करनेवालों की शान ही निराली थी। रूई का व्यापार करनेवाले करोड़पति भी उनका मुक़ाबला नहीं कर सकते थे। बहुत से बन्दरगाह वाले शहरों में 'इंडिया रो' नाम से शानदार मकानों की पाँत ही अलग हुआ करती थी। उस पाँत में यदि किसी का घर हो, या बोस्टन के इंडिया व्हार्फ़ में दफ़्तर हो तो बड़ी इज्जत की बात समझी जाती थी।

परन्तु नेपोलियन के युद्धों के बाद भारतीय व्यापार का अमरीका के लिये महत्व जाता रहा। शुरू में उससे फ़ायदा हुआ था क्योंकि उससे अमरीका में उद्योग-धंधे शुरू करने के लिये कुछ पूंजी जमा हो गयी थी। परन्तु बाद में उससे नुक़सान ही होता था। अंग्रेज़ों की बात दूसरी थी। उन्हें भारत को और भी तरह-तरह से लूटने की छूट मिली हुई थी। मगर अमरीकावालों को तो केवल व्यापार से ही संतोष करना पड़ता था। गोकि उससे व्यक्तिगत रूप से अमरीकी व्यापारियों को बहुत लाभ भी होता था, परन्तु अमरीका के पास कोई ऐसी चीज़ न थी जिसे वह भारत भेज सकता। इसलिये भारत से आये हुए माल के बदले में उसे खज़ाना भेजना पड़ता था। इससे उस देश का नुक़सान हो रहा था। इसलिए, न्यू इंगलैण्ड (अमरीका के एक इलाक़े का नाम) के नये कपड़ा-उद्योग की मदद करने के लिये १८१६ में भारतीय कपड़े पर चुंगी लगा दी गयी। यदि अमरीका से अब भी लकड़ी और बर्फ़ का निर्यात न होता रहता और अमरीकी व्यापारी भारतीय अफ़ीम को चोरी से चीन ले जाने का व्यापार न करते रहते, तो १८१६ के बाद भारत में व्यापारिक दृष्टि से अमरीका की कोई दिलचस्पी न रह जाती।

पर अफ़ीम का व्यापार भी कुछ दिन बाद बन्द हो गया। १८६१–६५ में अमरीका में गृहयुद्ध छिड़ गया। इन दोनों कारणों से भारत-अमरीका का व्यापार नहीं के बराबर रह गया। साथ ही, अमरीकी उद्योग-धंधों के ये एक नया युग आरम्भ हो गया। पिछली शताब्दी के अन्तिम चास वर्षों में अमरीका में उद्योग-धंधों की जितनी उन्नति हुई उतनी और

किसी देश में नहीं हुई। बहुत जल्द अमरीका ताल ठोंक कर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मैदान में कूद पड़ा, और उसके मुक़ाबले में औरों का ठहरना मुश्किल मालूम पड़ने लगा। उसे अपने उद्योग-धंधों के लिये बेशुमार कच्चा माल चाहिये था, तैयार माल बेचने के लिये उसे बाज़ारों की ज़रूरत थी और पूंजी लगाने के लिये दूसरे देशों में सुविधाओं की आवश्यकता थी। उसने दुनिया की दूसरी बड़ी ताक़तों की मिसाल पर चलने की कोशिश की और फ़िलीपाइन्स आदि देशों में साम्राज्यवादी कार्रवाइयाँ शुरू कर दी। २७ अप्रैल, १८९८ को सेनेटर एलबर्ट जे. बेवरिज ने शान बघारते हुए यह कहा :

"अमरीका के कारख़ाने अब इतना माल पैदा कर रहे हैं कि अमरीकी जनता उसे इस्तेमाल नहीं कर पाती। अमरीका की धरती इतनी उपज पैदा कर रही है कि यहाँ के लोग उसे ख़र्च नहीं कर सकते। विधाता ने स्वयं हमारी नीति निर्धारित कर दी है। दुनिया का व्यापार हमारे हाथ में होना चाहिये और वह हमारा होकर रहेगा। और हम उसी ढंग से उस पर अधिकार करेंगे जो ढंग हमारी माँ, इंगलैण्ड हमें बता चुका है। हम दुनिया भर में अपनी कोठियाँ खोलेंगे ताकि वहाँ अमरीकी माल का वितरण हो सके। हम समुद्र की छाती पर अपने जहाज़ों का जाल बिछा देंगे। हम अपनी शान के मुताबिक एक विशाल जहाज़ी बेड़ा बनायेंगे।" ('हमारे जमाने के इतिहास' में किन्सी हो द्वारा उद्धृत)

लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अंग्रेज़ उद्योगपतियों ने अमरीका को भारत के बाज़ार में घुसने नहीं दिया। भारत की अंग्रेज़ी सरकार ने इस काम में [illegible] मदद की। १९०० में भारत के आयात का केवल १'७ प्रतिशत भाग अमरीका से आया। अमरीकी अफ़सरों ने यह शिकायत की :

"अमरीका बराबर [illegible] हिन्दुस्तान से आनेवाले आयात को बढ़ाता जा रहा है, लेकिन उसके निर्यात में कोई बढ़ती नज़र नहीं आती और उसका मूल्य भारत से आनेवाले आयात के मूल्य से बहुत कम होता है।" ("विदेशी व्यापार का मासिक विवरण," वाशिंगटन, दिसम्बर १९०२)

बीसवीं सदी के शुरू में व्यापार के मामले में, अंग्रेजों और अमरीकियों की प्रतिद्वंदिता बहुत बढ़ गयी। भारत की भूमि भी इस संघर्ष से अछूती न रही। नाम को भारत में हर देश का माल आने की आज़ादी थी, पर असल में अंग्रेज़ व्यापारियों को अनेक विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं। एक यह नियम था कि सरकारी ज़रूरत का सारा सामान या तो भारत में, या इंगलैण्ड में खरीदा जायगा। इससे अमरीकी व्यापारियों को मुश्किल होती थी। फिर भी १९०० और १९११ के बीच भारत के आयात में अमरीका का हिस्सा १·७ से बढ़ कर ३·८ प्रतिशत हो ही गया।

अमरीका को पहली महत्वपूर्ण सफलता देशी राज्यों में मिली। मैसूर और बड़ौदा की सरकारें विशेष रूप से अमरीकियों की मित्र थीं। मैसूर में कावेरी प्रपात के बिजली पैदा करने के केन्द्र में अमरीका की जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी की मशीनें अमरीकी इंजीनियरों द्वारा लगायी गयीं। सी. एफ. बीम्स नामक एक अमरीकी, राज्य का चीफ़ इंजीनियर नियुक्त कर दिया गया। १९०७ में आर. सी. व्हाइटनैक नामक एक अमरीकी, बड़ौदा सरकार के आर्थिक सलाहकार के पद पर नियुक्त किया गया। एक और अमरीकी को राज्य का शिक्षा सम्बंधी सलाहकार बना दिया गया। अमरीका में शिक्षा प्राप्त करके लौटे कई हिन्दुस्तानियों को भी बड़ौदा सरकार में ऊँचे ओहदों पर तैनात किया गया। महाराजा बड़ौदा ने स्वयं अमरीका का खूब दौरा किया और उनके युवराज जैसिंह राव ने १९११ में अमरीका के हरवर्ड कालिज से बी. ए. पास किया। सैम्युअल हिगिनबौटम नामक एक अमरीकी पादरी ग्वालियर, रतलाम, कोटा, झालावाड़, धार और जाओरा की रियासतों का खेती-सम्बंधी सलाहकार बन गया और उसकी कोशिशों के फलस्वरूप अमरीका की बनी हुई खेती की बहुत सी मशीनें हिन्दुस्तान आयीं।

प्रथम महायुद्ध के पहले हिन्दुस्तान के बाज़ार में अमरीका ने इन चीज़ों की बिक्री में खास तरक्की की: मिट्टी का तेल और पेट्रोल, सीने की मशीनें, टाइप-राइटर और छापे की मशीनें, और कुछ धातु का सामान। अमरीका से सबसे अधिक माल स्टैण्डर्ड ऑयल कम्पनी भारत लाती थी।

परन्तु ब्रिटिश भारत में अमरीका की इस काल की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि टाटा के मशहूर लोहे और इस्पात के कारखाने,—टाटा आयरन

एण्ड स्टील वर्क्स—की स्थापना में उसका बड़ा हाथ रहा। टाटा ने अमरीकी मशीनें खरीदने और अमरीकी विशेषज्ञों को मंगाने पर छ करोड़ डालर खर्च किये और १९३७ तक उसके उद्योग का संचालन अमरीकी इंजीनियरों के हाथों में रहा।

पहले महायुद्ध में ब्रिटेन से माल आना कम हो गया। अब अमरीका के पौबारह थे। उसने दोनों हाथों से भारत के साथ व्यापार बढ़ाना शुरू कर दिया। १९०९–१४ में भारत के आयात व्यापार में अमरीका का हिस्सा ३ प्रतिशत था। १९१४–१९ में वह बढ़कर ७ प्रतिशत हो गया। भारत के निर्यात में अमरीका का हिस्सा इसी दौरान में ८ से बढ़कर १२ प्रतिशत हो गया। भारत से व्यापार करनेवाले देशों में अब दूसरा नम्बर अमरीका का था। अमरीका की अनेक व्यापारिक कम्पनियों ने भारतीय शहरों में अपने दफ़्तर खोल दिये और बहुत सी अंग्रेज़ों द्वारा संचालित कम्पनियाँ भी अमरीकी कारखानेदारों की एजेन्ट बन गयीं। अमरीकी व्यापारी भारत में दौरा करने के लिये आने लगे। भारत में विज्ञापन करने पर बड़ी-बड़ी रक़में खर्च हुई। भारत और अमरीका के बीच बाक़ायदा जहाज़ चलने लगे।

अंग्रेज़ों के लिये अमरीका का मुक़ाबला इतना सख़्त हो गया कि युद्ध के कुछ दिन बाद ही एक अमरीकी पत्रिका ने इस आशय चेतावनी दी :

> " जॉन बुल को सावधान हो जाना चाहिये। यदि उसे अंग्रेज़ी माल के सबसे बड़े और सबसे अधिक मुनाफ़ा देनेवाले बाज़ार को बचाना है, तो जान बुल को जाग जाना चाहिये; क्योंकि भारत में अमरीकी व्यापार ने जो तरक्क़ी की है, उससे सचमुच अंग्रेज़ों के कान खड़े हो जाने चाहिये।" (" लिटरेरी डाइजेस्ट ", १८ दिसम्बर १९२०, पृष्ठ २३)

भारत में ब्रिटेन के ट्रेड कमिश्नर ने कहा कि " इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि अब हिन्दुस्तान में हमें हमेशा ही अमरीका का मुक़ाबला करना पड़ेगा।"

इसके बाद अंग्रेज़ों ने खूब जोर के साथ जवाबी हमला शुरू किया। इम्पीरियल प्रीफरेन्स एग्रीमेण्ट (ब्रिटिश साम्राज्य के देशों में बने मालपर कम

चुंगी लगाने का समझौता—अनु०) जैसे तरीक़ों के ज़रिये कुछ हद तक ब्रिटेन अमरीकी हमले को रोकने में सफल भी हो गया। दो महायुद्धों के बीच के काल में, दुनिया की बदलती हुई आर्थिक परिस्थिति के साथ-साथ अमरीका का भारत के साथ व्यापार भी घटता-बढ़ता रहा, परन्तु भारत के पूरे विदेशी व्यापार की तुलना में उसकी मात्रा एक सी रही। और मोटरों, टाइप-राइटरों और दूसरी छोटी मशीनों की बिक्री में अमरीका ने खास तरक्क़ी की। हालीवुड के फ़िल्मों ने भारतीय सिनेमा पर से पाथे-फ़्रेरेज़ कम्पनी के क़ायम एकाधिकार को नष्ट कर दिया।

भारत में लगी हुई अमरीकी पूंजी

दूसरे महायुद्ध के पहले कुछ अमरीकी पूंजी भी भारत में आयी।

इण्टरनेशनल बैंकिंग कार्पोरेशन ने (जिसे बाद में नेशनल सिटी बैंक आफ़ न्यू यौर्क ने खरीद लिया) १९०३ में बम्बई में और १९०४ में कलकत्ता में अपनी एक शाखा खोली। अमेरिकन एक्सप्रेस कम्पनी ने भी भारत में दो शाखाएँ स्थापित कर ली।

जूट (चटकल) उद्योग में इन अमरीकी कम्पनियों का हाथ था : अमेरिकन मैन्युफ़ैक्चरिंग कम्पनी, लुडलौ जूट कम्पनी, ऐंगस कम्पनी, क्लीवलैण्ड-ऐक्रोन बैग कम्पनी (बाद में यह चेज़ बैग कम्पनी के हाथ बिक गयी) और रीगल सैक कम्पनी।

क्डिर, पीबडी एण्ड कम्पनी को चपड़े में दिलचस्पी थी। मेलौन ने भारत में अल्यूमीनियम के कारख़ानों को ख़रीद लिया।

फ़ायरस्टोन रबर कम्पनी ने बम्बई में एक बड़ा टायर बनाने का कारख़ाना खोला। रेमिंग्टन रैण्ड कम्पनी ने कलकत्ता में टाइप-राइटर बनाने का एक कारख़ाना खोला। १९३९ में अमरीका की नेशनल कार्बन कम्पनी ने ब्रिटेन की एवरेडी बैटरी कम्पनी को ख़रीद लिया। एवरेडी के कारख़ाने में सूखी बैटरियाँ बनायी जाती थीं। कनाडा फोर्ड मोटर कम्पनी की एक शाखा १९२६ में यहां खोली गयी जिसका प्रधान दफ़्तर और कारख़ाना बम्बई में था। १९२८ में जनरल मोटर कम्पनी ने बम्बई में मोटरकारों और ट्रकों के हिस्सों को जोड़ने का काम शुरु किया। १९३९ में उसने इसी ढंग का एक नया कारख़ाना खोला जिसका नाम था कमर्शियल बौडी बिल्डिंग कार्पोरेशन।

इसके अलावा कई अमरीकी कम्पनियों ने आयात-निर्यात तथा बिक्री की एजेंसियों का काम करना भारत में शुरू कर दिया। स्टैण्डर्ड-वैकुअम ऑयल कम्पनी और काल्टेक्स कम्पनी पेट्रोल वितरण करने लगी।

यद्यपि सीधे ढंग से भारत में लगी हुई अमरीकी पूंजी, ब्रिटिश पूंजी से काफ़ी कम थी; परन्तु वास्तव में, भारत में अमरीकी पूंजी इससे कहीं अधिक थी। इसका सही अन्दाज पाने के लिये ब्रिटेन और कनाडा की कम्पनियों के ज़रिये अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दुस्तान में आयी अमरीकी पूंजी को भी ध्यान में रखना पड़ेगा।

उदाहरण के लिये, अमरीका के धन-कुबेर जे. पी. मौर्गन की कम्पनी को लीजिये। इस कम्पनी के मातहत एक ब्रिटिश कम्पनी थी जिसका नाम 'मौर्गन, ग्रेनफ़ेल एण्ड कम्पनी' था। इस कम्पनी के कुछ हिस्सेदार— सर टामस (बाद में लार्ड) केटो और तीन अन्य व्यक्ति—'यूल, केटो एण्ड कम्पनी' में भाग ले रहे थे, जो कलकत्ता में ऐण्ड्रयू यूल एण्ड कम्पनी के नाम से काम करती थी। यह हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी मैनेजिंग एजेंसी थी। इसके नियंत्रण में अनेक कम्पनियाँ थीं जो तरह-तरह का व्यापार कर रही थीं—जैसे जूट, चाय, जहाजों से माल ढोना, कोयला खानें, आटा, तेल, मकान बनाना, रबड़, चीनी, कागज़, छापखाने, बिजली पैदा करना और बीमा। भारत में मौर्गन का प्रतिनिधि केटो था। वह मर्केण्टाइल बैंक ऑफ़ इण्डिया का भी उपाध्यक्ष और डायरेक्टर था। इस अंग्रेजी बैंक की शाखाएँ सिर्फ़ सारे हिन्दुस्तान में ही नहीं, बल्कि चीन, पूर्वी डच द्वीप-समूह, स्याम और मौरीशस में भी फैली हुई थीं।

भारत में अमरीकी पादरी

साहसी अमरीकी व्यापारियों के पीछे-पीछे हिम्मतवाले ईसाई पादरी भी हिन्दुस्तान आये। बल्कि सच तो यह है कि अमरीका ने जब सबसे पहले अपने पादरियों को विदेशों में भेजने का निश्चय किया, तब इन पादरियों ने भारत को अपने क्षेत्र के रूप में चुना और १८१२ में वे कलकत्ता पहुँच भी गये। वहाँ से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जब उन्हें निकाल दिया तो वे बम्बई पहुँच गये। वहाँ उन्होंने १८१५ में अमरीकी मराठी मिशन खोला। १८३३ में ब्रिटेन की सरकार ने हुक्म निकाला कि

ईस्ट इण्डिया कम्पनी से इजाज़त लिये विना भी पादरी लोग भारत में बस सकते हैं। इसके वाद अमरीकी पादरियों ने यहां अपना काम वढ़ाना शुरू किया। १८५७ के विद्रोह के समय तक वे वम्बई, उत्तर प्रदेश (यू. पी.), मद्रास और आसाम में अपने केन्द्र खोल चुके थे।

उस समय अमरीकी पादरी प्रायः धार्मिक स्कूल खोला करते थे और ईसाई धर्म के साहित्य को भारतीय भाषाओं में प्रकाशित किया करते थे। वहुत कम लोग उनके उपदेश सुनकर ईसाई बनना स्वीकार करते थे। जो थोड़े वहुत वन जाते थे, वे मिशन में ही नौकरी कर लेते थे। पादरियों का अधिकतर समय चौराहों पर खड़े होकर या गिरजा-घरों में उपदेश देने में वीतता था।

पर, लगभग १८८० से ईसाई वननेवालों की संख्या तेज़ी से वढ़ने लगी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम २५ वरसों में हमारे देश में जो वार-वार अकाल पड़े, उनसे पादरियों का काम आसान हो गया। वे अकाल-पीड़ितों की सहायता करते। जनता उनका अहसान मानकर ईसाई वन जाती। अव प्रत्येक मिशन की सफलता इस वात से नापी जाने लगी कि किसने कितने लोगों का धर्म परिवर्तन किया है। पादरियों को रुपये-पैसे की कमी न रही। यह वात भी मतलव से खाली नहीं है कि ठीक इन्हीं दिनों अमरीका के उगते हुए एकाधिकारी (इजोरदार) पूंजीपतियों ने विदेशों में काम करनेवाले मिशनों के कामों में दिलचस्पी लेना और उन्हें धन की सहायता देना शुरू किया। माइरन एच. फ़ेल्प्स नामक एक अमरीकी ने, जो वरसों तक भारत का तथा हिन्दू धर्म का अध्ययन कर चुका था, १९१० में लिखा था :

> "यह धन अधिकतर (पादरियों को) इसलिये दिया जाता है कि व्यापार में उससे फ़ायदा होने की उम्मीद रहती है। आप में से वहुतों ने जौन डी. रौकफ़ेलर का नाम ज़रूर सुना होगा। वह स्टैण्डर्ड ऑयल कम्पनी का मालिक और दुनिया का सवसे धनी आदमी है और विदेशी मिशनों को वड़ी-वड़ी रक़म दान में देता है। कुछ वर्ष हुए मैंने न्यू यौर्क के एक दैनिक पत्र में रौकफेलर के सेक्रेटरी मि. गेट्स से एक भेंट का वृतान्त पढ़ा था। उसमें गेट्स ने वताया था कि रौकफेलर साहव विदेशी मिशनों को जो रुपया दान में देते हैं,

उससे उनके व्यापार में बड़ा लाभ होता है, क्योंकि जिन देशों की जनता के बीच ये मिशन काम करते हैं, उनके साथ व्यापारिक लेन-देन बढ़ जाता है।" ("हिन्दू आदर्श व उनकी सुरक्षा" से, पृष्ठ १५-१६)

उन्नीसवीं सदी का अन्त होते-होते अमरीकी पादरियों ने शिक्षा और डाक्टरी के क्षेत्र में अपनी कार्रवाइयाँ काफ़ी बढ़ा ली। उन्होंने अनेकों कालिज और अस्पताल खोले। उन्होंने नीचे लिखे कालिज खोले: वेलोर का वूरहीज कालिज, मदुरा का अमेरिकन कालिज, गुण्टूर का आंध्र क्रिश्चियन कालिज, इलाहाबाद का ईविंग क्रिश्चियन कालिज, लखनऊ में लखनऊ क्रिश्चियन कालिज और इसाबेला थोबर्न कालिज, लाहौर का फ़ोरमैन क्रिश्चियन कालिज और रावलपिण्डी का गौर्डन कालिज। मद्रास के वीमेन्स क्रिश्चियन कालिज और क्रिस्टौफ़र्स ट्रेनिंग कालिज अंग्रेज और अमरीकी पादरियों के संयुक्त प्रयत्नों से खुले थे। बम्बई के विल्सन कालिज तथा मद्रास क्रिश्चियन कालिज को अमरीका से सहायता मिलती थी।

पादरियों के काम का क्षेत्र बढ़ा तो उनकी तादाद भी बढ़ गयी। १८८५ में भारत में अमरीकी पादरियों की संख्या १३५ थी, बीसवीं सदी के प्रथम दशक के शुरू के सालों तक वह १,५०० तक पहुँच गयी। अब धर्मोपदेशकों के अलावा डाक्टर, नर्स, सम्पादक और शिक्षक भी अमरीका से आने लगे। इन लोगों का चुनाव बहुत ध्यानपूर्वक किया जाता था। प्रसिद्ध भारत-हितैषी पादरी जे. टी. सण्डरलैण्ड ने इस बारे में यह लिखा है:

"विदेशों में छाँट-छाँट कर सबसे 'ठोस' लोग, यानी सबसे कम प्रगतिशील विचारों के लोग भेजे जाते हैं।...ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि जिन लोगों को सरकार के विदेशी विभाग में नौकरियाँ न मिल सकीं, उन्हें पादरियों के पद पर भर्ती होने में कोई कठिनाई न हुई।" ("न्यू वर्ल्ड" नामक पत्रिका के मार्च १८९८ के अंक में छपे "भारत में ईसाई मिशन" शीर्षक लेख से, पृष्ठ ४२)

भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के उभार से सभी पादरियों को, विशेष कर अमरीकावालों को, काफ़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अमरीकी पादरी अभी तक हमेशा अंग्रेजी सरकार के घनिष्ठ सहयोग से काम करते आये थे। वे अंग्रेजों की नीति के गुण गाया करते थे और अपने अनुयाइयों को

हिन्दुस्तानियों, भारतीय धर्मों और भारतीय परम्पराओं को नीची दृष्टि से देखना सिखाते थे। किसी हद तक उन्होंने अपने हिन्दुस्तानी अनुयाइयों की भारतीयता भी नष्ट कर दी थी। १८५७ के विद्रोह के बाद एक अमरीकी पादरी ने गुमान के साथ यह कहा था :

"एक भी देशी (यानी हिन्दुस्तानी) ईसाई, विद्रोह में शामिल नहीं हुआ...कई जगह तो इन देशी ईसाइयों ने उचित समय पर खबर देकर (विद्रोह के बारे में) षड्यंत्रों को रोकने में मदद दी।" (रे. वि. बटलर की पुस्तक "दी लैण्ड आफ दि वेदाज़" से, पृष्ठ ४६४)

एक दूसरे अमरीकी सज्जन ने इस शताब्दी के शुरू में लिखा था :

"आजकल ब्रिटिश सरकार पादरियों की, विशेषकर अमरीकी पादरियों की मदद के लिये कुछ उठा नहीं रखती।...धन, ज़मीन, हर चीज़ जो सरकारी तौर पर मिशनों को दी जा सकती है, उन्हें दी जाती है।...

"लार्ड कर्ज़न, विभिन्न प्रान्तों के गवर्नर, और दूसरे सरकारी अफ़सर...इस बात के गवाह हैं कि जनता में असंतोष बढ़ने और विद्रोह फैलने के जब-जब अवसर आये, तब-तब उन्होंने (अमरीकी पादरियों ने) शान्ति और व्यवस्था क़ायम रखने में और सरकार की मदद के लिये भारी काम किया।" (विलियम एलरौय कर्टिस की पुस्तक "मौडर्न इंडिया" से, पृष्ठ ४६१-६४)

अतः स्वाभाविक था कि राष्ट्रीय चेतना के बढ़ने के साथ-साथ भारत के लोग पादरियों की कार्रवाइयों को नापसन्द करने लगें। भारतीयों को अंग्रेज नौकरशाहों और अमरीकी पादरियों में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता था। देश की ईसाई जनता पर भी राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव पड़ना लाज़िमी था। उसके बीच से मांग उठने लगी कि गिरजा घरों पर से विदेशी नियंत्रण ख़तम होना चाहिये।

कुछ वर्षों के बाद अमरीकी मिशनों ने अपनी नीति बदल दी। अब वे ईसाई धर्म को 'स्वदेशी' रूप देने की कोशिश करने लगे। भारतीय ईसाइयों को कुछ ज़िम्मेदारी के पद दिये गये। अंग्रेज सरकार से तो मित्रता क़ायम रही, पर अब कुछ राष्ट्रवादी नेताओं से भी मेल-जोल बढ़ाया गया। परन्तु ज़ाहिर है, राष्ट्रीय विद्रोह के समय दो नावों पर पैर रखना संभव न था।

१९३० या १९४२ में जिन चन्द अमरीकी पादरियों ने भारतीय मांगों का समर्थन किया, उन्हें तुरन्त अमरीका वापिस बुला लिया गया।

राष्ट्रीय आन्दोलन से उत्पन्न विरोध के बावजूद अमरीकी मिशनों का काम बराबर बढ़ता ही गया। १९३८ में भारत के अन्दर अमरीका और कनाडा के मिशनों में २,००६ विदेशी कर्मचारी काम करते थे। और उस वर्ष तक वे ७,६८,४३८ हिन्दुस्तानियों का धर्म परिवर्तन कर चुके थे। अमरीका से उनके केन्द्रीय कार्यालयों ने एक वर्ष के अन्दर तीस लाख डालर उनकी सहायता के लिये भेजे थे और स्वयं भारत में उन्हें दस लाख डालर से अधिक की आमदनी हुई थी। भारत में विदेशी मिशनों का कुल जितना काम था, उसका एक-तिहाई से अधिक १७ अमरीकी संस्थाएँ करती थीं। उनके नियंत्रण में ४,३५७ स्कूल चलते थे जिनमें १५२,६९० विद्यार्थी पढ़ते थे। वे १८ अनाथालय, ९३ अस्पताल, और २०० से अधिक दवाखाने चलाते थे।

भारत की स्वतंत्रता के प्रति अमरीका का रुख

अभी हाल तक, सरकारी तौर पर भारत का अमरीका से कोई राजनीतिक सम्बंध नहीं था। परन्तु भारत में एक राजनीतिक सवाल ऐसा था जिसकी ओर से दुनिया का कोई देश आँखें नहीं मूंद सकता था। वह था भारत की स्वतंत्रता का सवाल। भारत के लोग विदेशी सरकारों और संस्थाओं को इसी कसौटी पर परखते थे कि उनका भारत की आज़ादी की मांग के बारे में क्या कहना है। हम यह देखें कि अमरीका का इस मामले में क्या रुख था?

कुछ दिनों से अमरीका के सरकारी प्रतिनिधि यह दावा करने के आदी हो गये हैं कि उनका देश भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन का सदा समर्थक और शुभचिन्तक रहा है और उसने लगातार भारत की मदद की है। कुछ भारतीय अफ़सरों ने भी 'इस पुरानी मदद' के लिये अमरीकी सरकार को धन्यवाद देना शुरू कर दिया है। उदाहरण के लिये भारतीय राजदूत बी. रामा राव ने २३ सितम्बर, १९४८ को न्यू यॉर्क में कहा था:

> "हमारे स्वतंत्रता संग्राम के समय अमरीका से जो नैतिक सहायता हमें दी थी, उसके लिये भारत उसका जितना कृतज्ञ हो, उतना ही थोड़ा है।" (हिन्दुस्तान टाइम्स, २४ सितम्बर, १९४८)

२

भारतीय राजदूत बी. आर. सेन ने १९ दिसम्बर, १९५१ को राष्ट्रपति ट्रूमन के सामने अपना अधिकार-पत्र पेश करते हुए कहा था कि "भारत" उस 'हमदर्दी और मदद को कभी नहीं भूल सकता जो उसे अमरीका की जनता तथा सरकार से "अपनी आज़ादी की लड़ाई के समय मिली थी।" यह बात भी काफ़ी अजीब है कि भारत सरकार की ओर से यह कृतज्ञता उन दो सज्जनों ने जाहिर किया जिन्होंने स्वयं भारत के स्वतंत्रता संग्राम से कभी कोई हमदर्दी नहीं दिखाई थी। बल्कि सेन साहब ने तो अपने अंग्रेज़ मालिकों की तरफ़ से हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने में काफी नाम ही कमाया था।

यह सच है कि विभिन्न अवसरों पर अनेक अमरीकी संस्थाओं एवं व्यक्तियों ने जोरों से भारत की आज़ादी की मांग का समर्थन किया है। भारतीयों ने सदा उनका अहसान माना है और इस समर्थन से बल प्राप्त किया है। परन्तु इस चीज़ का जितना ज़ोरदार प्रचार हिन्दुस्तान में हुआ है, उससे लोगों के दिमाग़ में एक गलत तसवीर बन गयी है। उसमें भारत के मित्र तो बहुत उभर कर सामने आते हैं, परन्तु विरोधियों पर और उन पर जो 'तटस्थ' रहना चाहते थे, एक पर्दा सा पड़ जाता है।

इसलिये पहले यह देखना चाहिये कि अमरीका में कौन लोग हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का समर्थन कर रहे थे, और कौन उसके विरोधी थे, उनके हित क्या थे और उनका प्रभाव कितना था।

इस शताब्दी के प्रथम दशक में कुछ अमरीकी बुद्धिजीवियों ने भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन का समर्थन किया था। उन्होंने माइरन एच० फ़ेल्प्स के नेतृत्व में "सोसायटी फ़ार दि एडवांसमेण्ट आफ़ इंडिया" नामक एक समिति भी बनायी थी जो लन्दन के कांग्रेस दफ़्तर से सम्बंध रखती थी। असल में, उस समय बहुत से अमरीकी बुद्धिजीवी क्यूबा और फ़िलीपाइन में अमरीकी सरकार की कार्रवाइयों की निन्दा कर रहे थे। इन्हीं में से कुछ लोग भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में भी दिलचस्पी रखते थे। परन्तु अमरीकी सरकार की नीति बिल्कुल इसकी उल्टी थी। अमरीकी राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट ने तो ऐसे शब्दों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन किया था कि उनका उपयोग करने में शायद अंग्रेज़ भी संकोच करते। १८ जनवरी, १९०९ को राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने एक भाषण में कहा था :

"योरपीय नस्ल के लोगों द्वारा एक दूसरे महाद्वीप के घने वसे हुए देशों पर सफलतापूर्वक राज करने का सबसे महान उदाहरण हमें हिन्दुस्तान में मिलता है।...सचमुच यह तो रोमन साम्राज्य से भी बड़ा कार्य है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय साम्राज्य का सफलता से शासन चलाकर अंग्रेजों ने वह काम किया है जो पिछली दो शताब्दियों की श्वेत जाति की सबसे महत्वपूर्ण और सबसे प्रशंसनीय सफलताओं में गिना जायगा।...अधिकतर जनता बहुत सुख में है। सच तो यह है कि यदि अंग्रेजी शासन हिन्दुस्तान से हटा लिया जाय तो पूरे देश में खून-खराबी और लूटमार मच जायगी; और वे तमाम लोग जो निर्बल हैं, जो सबसे अधिक मेहनती हैं और क़ानून को मान कर चलते हैं—वे सब लूट लिये जायेंगे और उन पर तरह-तरह के जुल्म ढाये जायेंगे; और देशी लोगों में फ़ायदा सिर्फ़ उनका होगा जो क़ानून को नहीं मानते और जो हिंसक और खून के प्यासे हैं।... मानवता के प्रत्येक शुभचिन्तक को ... समझना चाहिये कि भारत में इंगलैण्ड ने जो कुछ किया है, उससे भारत का अतुलित लाभ हुआ है, उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी है और उसकी सभ्यता फली-फूली है। वहाँ अंग्रेजी शासन स्थायी और शक्तिशाली बना रहे — हमें इसीसे गहरा संतोष होना चाहिये।..."

दूसरे महायुद्ध के पहले अमरीकी सरकार के ऊँचे पदाधिकारियों की ओर से सिर्फ़ एक बार ही हिन्दुस्तान की आज़ादी के बारे में कुछ कहा गया था। उसे हमने ऊपर दे दिया है। ध्यान रहे कि यह और किसी का नहीं, स्वयं अमरीका के राष्ट्रपति का बयान था।

बात बयानों पर ही खतम न हुई। कुछ दिन बाद भारतीय क्रान्तिकारी हरदयाल को, जिन्होंने अमरीका में शरण ली थी, देश से निकालने की कार्रवाई शुरू हो गयी।

पहले महायुद्ध के काल में, भारतीय स्वतंत्रता के समर्थकों पर अमरीका में सख़्त दमन हुआ। ग़दर पार्टी के जो सदस्य अमरीका में रहते थे, पुलिस उनके पीछे लग गयी। बहुतों को गिरफ़्तार करके जेलों में डाल दिया गया। और अमरीका के युद्ध में शामिल होने के बाद फ़ौरन ही उनके खिलाफ़

षड्यंत्र के मुक़दमे चलाये गये। इन मुक़दमों में अंग्रेज़ अधिकारी खुलेआम दखल देते थे। इस स्थिति से क्षुब्ध होकर रावर्ट मौर्स लोवेट (जिन्होंने अपना जीवन नागरिक अधिकारों के संघर्ष में होम कर दिया था) ने "न्यू रिपब्लिक" नामक अख़बार में १ अप्रैल, १९३१ को यह लिखा :

> "इन मुक़दमों के सिलसिले में अमरीकी अधिकारियों ने अंग्रेज़ों की जिस तरह ख़ुशामद की है, उसका कोई समर्थन नहीं कर सकता।"

प्रथम महायुद्ध का अन्त होने के बाद भारत की आज़ादी की मांग को पहले से अधिक समर्थन मिलने लगा। १९२० में अमरीका की सोशलिस्ट पार्टी और फ़ार्मर-लेबर (किसान-मज़दूर) पार्टी ने भारतीय स्वतंत्रता का समर्थन करते हुए प्रस्ताव पास किये। ये दोनों ही उग्रवादी संगठन थे। सोशलिस्ट पार्टी ने उस समय तक समाजवाद को त्यागा नहीं था और उसका नेता यूजीन डेब्स युद्ध का विरोध करने के कारण जेल में बन्द था। कुछ उदारवादी व्यक्तियों और पादरियों ने भी यही रुख़ लिया। इनमें रेवरेण्ड सण्डरलैण्ड और रेवरेण्ड जौन हेन्स होम्स प्रमुख थे। ये लोग गांधीवाद से प्रभावित थे। दिसम्बर १९२० में न्यू यौर्क में "भारत की स्वतंत्रता के प्रेमी" नामक एक संस्था भी क़ायम की गयी।

परन्तु जब भारत की ओर से मांग की गयी कि राष्ट्रपति विल्सन की प्रसिद्ध १४ बातें भारत पर भी लागू की जायें, तो विल्सन ने इस गुलाम देश की पुकार की ओर कोई ध्यान न दिया। उल्टे, उनकी सरकार ने हिन्दुस्तानियों पर दमन जारी रखा। शैलेन्द्रनाथ घोष ने भारतीय जनता की ओर से अमरीकी राष्ट्रपति को एक पत्र लिखने की हिम्मत की थी। उन्हें एक विदेशी सरकार का एजेन्ट बताकर जेल में डाल दिया गया। "भारत की स्वतंत्रता के प्रेमी" नामक उपरोक्त संस्था की संगठनकर्ता श्रीमती एग्नेस स्मेडले को भी जेल में बन्द कर दिया गया।

इन्हीं दिनों, अमरीका के घोर प्रतिक्रियावादियों ने भी भारत में दिलचस्पी लेना शुरू किया। ये लोग अंग्रेज़ों के विरोधी थे और वारसाई की संधि की मुख़ालफ़त करते थे। अंग्रेज़ों को बदनाम करने के लिये उन्होंने आयरलैण्ड और हिन्दुस्तान का सवाल उठाना शुरू किया। परन्तु एक बार विल्सन को हराने और वारसाई की संधि को अमरीका से अस्वीकार कराने

में उन्हें सफलता मिल गयी, तो फिर उन्होंने हिन्दुस्तान का कभी नाम तक न लिया।

१९२१ से १९३० तक अमरीका में भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन के समर्थन में बहुत कम प्रचार हुआ। सन तीस के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के समय भी कुछ इने-गिने अमरीकियों ने ही भारत के समर्थन में आवाज उठायी। महात्मा गांधी को यह बात मालूम थी। इसीलिये, गोलमेज सम्मेलन के बाद जब कई लोगों ने उन्हें अमरीका आने का निमंत्रण दिया, तो वह वहां जाने के लिये तैयार नहीं हुए। बाद में गांधीजी ने इसका कारण बताते हुए कहा था:

> "मुझे इस बात का विश्वास नहीं था कि वहाँ जाकर मैं भारत के लिये कुछ कर सकूँगा। अमरीका के लोग दूसरों की बात नहीं सुनते। वे दूसरों का आदर-सत्कार तो खूब करते हैं, पर करते अपने मन की है...।" (टी. ए. रमन द्वारा लिखी गयी किताब "गांधीजी क्या चाहते हैं," में पृष्ठ ६५ पर उद्धृत)

भारत का सच्चा समर्थन केवल कुछ पादरियों, उदारवादियों, हब्शी नेताओं और उग्रवादी संगठनों तक ही सीमित था। कभी-कभी कुछ प्रतिगामी और अन्तर्राष्ट्रीयता-विरोधी लोग भी ब्रिटेन को गाली देने के लिये **शिकागो ट्रिब्यून** और **न्यू यौर्क डेली न्यूज** में लेख लिखते समय हिन्दुस्तान की याद कर लिया करते थे। लेकिन, अमरीकी सरकार न हिन्दुस्तान के बारे में कभी कुछ कहती थी और न भारतीय आन्दोलन में कोई दिलचस्पी ही प्रकट करती थी।

अतः अमरीकी सरकार का भारत के प्रति रुख यदि बहुत अच्छा हुआ तो तटस्थता का रुख रहता था, वरना कभी-कभी सक्रिय विरोध का रुख बन जाता था। आज यदि अमरीकी सरकार, अमरीकी जनता के एक भाग की साम्राज्य-विरोधी भावनाओं का श्रेय स्वयं लेना चाहे, तो यही कहना ही पड़ेगा कि यह एक बेईमानी की बात है। जब कि यह बात भी सबों को मालूम है कि अमरीकी जनता के इस भाग की साम्राज्यवाद-विरोधी भावनाएँ, स्वयं उस समय की अमरीकी सरकार के भी खिलाफ़ थीं और उसके कारण एग्नेस स्मेडले जैसी प्रमुख महिलाओं को जेल तक जाना पड़ा था।

गांधीजी के मशहूर अनुयायी डाक्टर भारतन कुमारप्पा ने यह ठीक ही कहा था :

> " हिन्दुओं (यानी हिन्दुस्तानियों—अनु.) के प्रति...अमरीका ने तटस्थता का रुख अपनाया। उसकी समझ है कि भारत ब्रिटेन का निजी मामला है, उसके बारे में चुपचाप दर्शक बन कर रहना ही उचित है। यदि अमरीका ने भारत में कभी कोई दिलचस्पी दिखायी तो यह समझ कर कि वह जादूगरों और साधुओं का ऐसा देश है जहाँ के योगी कंदराओं में समाधि लगाये बैठे रहते हैं, नाखून बढ़ा लेते हैं, कीलों के बिछौने पर सोते हैं और लोगों के हाथ देखते हैं। " ('अमरीका में मेरा विद्यार्थी जीवन,' पृष्ठ ६)

अमरीका में हिन्दुस्तानी

किसी देश की जनता की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के पहले उस देश के लोगों के साथ हमदर्दी का बरताव किया जाता है। यहां यह देखना चाहिये कि अमरीकी सरकार और अमरीकी जनता हिन्दुस्तानियों के साथ कैसा व्यवहार करती थी ?

इस शताब्दी के पहले दशक में बहुत से हिन्दुस्तानी रोज़गार की तलाश में अमरीका चले गये थे। १९०७ और १९१० के बीच उनकी संख्या पांच हजार तक पहुँच गयी थी। इनमें से अधिकतर सिख थे। वे अमरीका के पश्चिमी समुद्र तट पर जाकर बस गये और फ़ार्मों, रेलों, और लकड़ी के कारखानों में काम करने लगे।

यदि कोई आज यह कहे कि इन लोगों का अमरीका में स्वागत हुआ था, तो यही कहना पड़ेगा कि उसकी बुद्धि मारी गयी है। इन सिखों का अमरीका में हर जगह अपमान हुआ। कालों-गोरों के दंगों में उन्हें बुरी तरह मारा-पीटा गया। कुछ जगहों में उन्मत्त भीड़ों ने कई, सिखों को लगभग क़त्ल ही कर दिया। इस तरह की एक घटना ५ सितम्बर १९०७ को वाशिंगटन राज्य के बेलिंघम नामक स्थान में हुई थी जिसका वर्णन एक उस समय के समाचार पत्र ने इन शब्दों में किया था :

"... लकड़ी के कारखानों के छ सौ मजदूरों की एक भीड़ ने पुरवियों के मुहल्ले पर हमला किया और पूरी तरह से आतंकित करके उन्हें शहर के वाहर खदेड़ दिया। वहुत से हिन्दुओं (अमरीका में सभी हिन्दुस्तानियों को प्रायः हिन्दू कहते हैं —अनु०) को चोटें आयीं, पर कोई मरा नहीं। शहर के सबसे गरीव इलाके में बने इन लोगों के गन्दे घरों पर हमला किया गया। उनका सारा सामान सड़कों पर फेंक दिया गया और कुछ जगहों पर वहुमूल्य वस्तुएँ चुरा ली गयीं।...अधिकारियों ने परिस्थिति को अपने क़ावू के वाहर समझा और चेतावनी देने से अधिक कुछ न किया। ..." ("दि वर्ल्ड टुडे" नामक पत्र के नवम्बर १९०७ के अंक में, वर्टर डौड का लेख)

अमरीका जानेवाले हिन्दुस्तानियों के वारे में जाँच करने के लिये अमरीकी सरकार की ओर से जो कमीशन नियुक्त किया गया था, उसने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि : पश्चिमी (प्रशान्त महासागर के) तट पर,

"हिन्दुओं को सव से कम पसन्द किया जाता है, या कहना चाहिये कि हमारे देश में पूर्वी एशियाई देशों के जितने लोग भी आये हैं, उनमें सवसे खराव हिन्दुओं को समझा जाता है।" (जून, १९१२)

उन्मत्त भीड़ ने जो काम शुरू किया था, उसे सरकार ने पूरा कर दिया। १९१० के वाद सरकारी अफ़सरों ने सरकारी क़ानून को उठाकर ताक पर रख दिया। वे सभी हिन्दुस्तानियों को देश में आने से रोकने लगे। हजारों ऐसे लोग जो अपनी सारी जमीन-जायदाद वेचकर रोजगार की तलाश में अमरीका आये थे, समुद्र तट से ही लौटा दिये गये। सैकड़ों लोग जो पहले आ गये थे, देश से निकाल दिये गये। हजारों हिन्दुस्तानी, अत्याचार के भय से खुद अमरीका छोड़ कर चले गये।

१९१७ में सरकार ने एक क़ानून वना कर हिन्दुस्तानियों का आना रोक दिया। इसके छः वर्ष वाद सुप्रीम कोर्ट ने भगत सिंह ठिण्ड के मुक़दमे में फ़ैसला सुनाया कि हिन्दुस्तानी अमरीका के नागरिक नहीं वन सकते। इस फ़ैसले से कई ऐसे हिन्दुस्तानियों से भी नागरिकता का अधिकार छीन लिया गया जो वरसों पहले उसे प्राप्त कर चुके थे। कुछ की अमरीकन पत्नियों तक की अमरीकी नागरिकता जाती रही।

१९२४ में एक और क़ानून बना जिसके द्वारा अमरीका में प्रवेश करने और वहाँ का नागरिक बनने का अधिकार विशेष रूप से हिन्दुस्तानियों से छीन लिया गया। भारत अपमान की इस कड़वी घूँट को पीकर रह गया। श्री विठ्ठलभाई पटेल ने इसके जवाब में भारत की केन्द्रीय असेम्बली में एक बिल पेश किया। इससे अमरीकी नागरिकों से वे तमाम विशेष अधिकार छीन लिये जाते जो उन्हें फ़ौजदारी के मुक़दमों आदि के सिलसिले में भारत में मिले हुए थे। स्वराज्य पार्टी ने इस बिल का समर्थन किया। उधर महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपना क्रोध इन शब्दों में प्रकट किया :

> "अमरीका में तो ईसा को भी नहीं घुसने दिया जाता क्योंकि एक तो उनके पास काफ़ी पैसे न निकलते, दूसरे वह एशियाई थे!"

लेकिन, १९२४ के क़ानून से ही इस दुर्व्यवहार का अन्त नहीं हुआ। इस शताब्दी के तीसरे दशक में उटाह राज्य में हिन्दुस्तानियों पर बमबारी की गयी। देश से निकालना भी जारी रहा। १९२० और १९४० के बीच अमरीका में रहनेवाले ६,००० हिन्दुस्तानियों में से लगभग आधे को अपना कारबार, नौकरी और परिवार छोड़कर अमरीका से निकल जाना पड़ा। भारतीय विद्यार्थियों पर तरह-तरह के बंधन लगाये गये। उन्हें केवल उसी विद्यालय में पढ़ना पड़ता था जिसे अमरीकी श्रम-मंत्री उनके लिये तै कर दे। पढ़ाई के साथ-साथ वे कोई काम करके जीविका नहीं कमा सकते थे। और शिक्षा समाप्त करते ही उन्हें अमरीका छोड़ देना पड़ता था। भारतीय व्यापारियों पर भी अमरीका में अनेक ऐसी बन्दिशें लगा दी गयीं जिनसे दूसरे देशों के व्यापारी मुक्त थे।

इसके अलावा राज्य के क़ानूनों में भी वहां हिन्दुस्तानियों के साथ असमानता का व्यवहार किया जाता था। अमरीकी जनता के नाम एक अपील में श्रीमती कमलादेवी चटोपाध्याय और डी. पी. पंड्या ने लिखा था :

> "हिन्दू अपने नाम से न सम्पत्ति खरीद सकते हैं और न बेच सकते हैं। इसलिये प्रायः वे किसी अमरीकी मित्र के नाम से खरीद या बिक्री करते हैं। कई ऐसा उदाहरण सामने आया है जब कि उन अमरीकी मित्रों ने हिन्दुओं के साथ विश्वासघात करके उनकी सम्पत्ति को ले लिया है।"

इसी व्यवहार को देखकर पी. कोदंडा राव ने, जो विदेशों में रहनेवाले भारतीयों के बारे में विशेषज्ञ माने जाते हैं, अपनी किताब में लिखा है :

"ऐसा मालूम होता है कि अमरीका की नजरों में हिन्दुस्तान को सबसे तुच्छ समझा जाता है। इसका कारण कुछ हदतक यह मालूम होता है कि अमरीका के प्रभावशाली क्षेत्रों में हिन्दुस्तानियों के बारे में अनुचित राय घर बनाये बैठा है। उदाहरण के लिये ६ जनवरी १९१९ के कैलीफोर्निया के स्टेट लेबर ब्यूरो की एक विशेष रिपोर्ट में कहा गया था कि 'हिन्दुओं में कोई नैतिकता नहीं होती' और वे ऐसे विदेशी हैं जिन्हें 'यहाँ कोई नहीं चाहता'।" (मई, १९४४)

अमरीका और रवीन्द्रनाथ टैगोर

यहाँ तक कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ भी अमरीका ने यही व्यवहार किया। उनकी पहली तीन यात्राओं में जो कुछ हुआ, उससे गुरुदेव के मन को ऐसी ठेस पहुँची कि उन्होंने प्रण कर लिया कि भविष्य में वह कभी अमरीका नहीं जायेंगे। अपनी पहली यात्रा के बारे में उन्होंने यह लिखा :

"खुफ़िया एजेंसी के कुछ लोग मेरे पास आये और बोले कि सान फ्रांसिस्को की हिन्दू क्रान्तिकारी पार्टी ने मुझे जान से मार डालने का निश्चय किया है क्योंकि वह मेरे राजनीतिक विचारों को पसन्द नहीं करती। जाहिर था कि इन लोगों को किसी ने पैसे देकर भेजा था। यह गप्प अखबारों में भी छाप दी गयी और जब मैंने इसका खण्डन करना चाहा कि ऐसी बात सम्भव नहीं है, तो अखबारों ने उसे छापने से इनकार कर दिया। यह शायद इसलिये कि थोड़े दिनों में ही वहाँ एशियाइयों के खिलाफ़ कानून बननेवाला था और इस प्रकार की झूठी खबरों को प्रचारित करने से अमरीका में बसे हुए हिन्दुओं के खिलाफ़ वातावरण तैयार होता था...।

"हिन्दुस्तान लौटने के बाद मुझे जापानी समाचार पत्रों के द्वारा खबर मिली कि उपरोक्त पार्टी के खिलाफ़ (अमरीका में) भारत के ब्रिटिश शासन को उलटने के लिये गुप्त प्रयत्न करने का मुक़दमा चलाया जा रहा है। इस मुक़दमे में मेरा नाम भी लिया गया और

 1509 1501

कहा गया कि मैंने जर्मनों से रुपया लिया था और बदले में मैं अमरीका में उनका कुछ काम करना चाहता था। इसके साथ, यह आरोप भी लगाया गया कि मैं अपने देश के लिये अमरीका में कुछ गुप्त राजनीतिक साज़िश करने गया था। मैंने राष्ट्रपति विल्सन को एक तार भेज कर इस प्रकार के इल्ज़ामों को वापिस लेने का अनुरोध किया। लेकिन मुझे तार का कोई जवाब तक नहीं मिला। ...” ('एटलान्टिक मंथली' नामक पत्र के जून १९२७ के अंक में लेख, पृष्ठ ७३०)

उनकी दूसरी यात्रा, जिसमें उन्होंने राष्ट्रवाद पर भाषण दिये थे, विशेष सफल नहीं हुई। १९२१ में वह तीसरी बार गये तो उनके साथ बड़ा ही अपमानजनक व्यवहार हुआ। उन्हीं के शब्दों में सुनिये : अमरीकावालों को,

“शक था कि मैं एक राजनीतिक षड्यंत्रकारी था जो उनके देशवासियों के सरल स्वभाव से अनुचित लाभ उठाने की कोशिश कर रहा था। मेरे कुछ घनिष्ठ मित्रों ने मुझे बताया कि हिन्दुस्तान छोड़ने से पहले मैंने जलियाँवाला बाग़ के अत्याचारों के ख़िलाफ़ जो बयान दिया था, शायद उसी के फल-स्वरूप मेरे ख़िलाफ़ अमरीका में ज़बर्दस्त प्रचार हो रहा था।” (उपरोक्त लेख)

बार-बार निमंत्रण पाने पर गुरुदेव ने १९२९ में फिर अपनी कनाडा यात्रा के बाद अमरीका जाने का प्रयत्न किया। परन्तु सरकारी अफ़सरों ने उन्हें रोक कर तरह-तरह से तंग किया और उन्हें लौट आना पड़ा। इस सम्बंध में उन्होंने अमरीकी सरकार के बर्बर क़ानूनों की निन्दा करते हुए एक बयान भी अख़बारों को दिया था। १९३० में अमरीका को बदनामी से बचाने के लिये हैनरी मौरगेंथो के नेतृत्व में एक प्रभावशाली स्वागत समिति का संगठन किया गया। उसके निमंत्रण पर रवीन्द्रनाथ टैगोर अन्तिम बार १९३० में अमरीका गये।

दूसरा अध्याय

दूसरे महायुद्ध के दौर में भारत—अमरीका सम्बंध

दूसरे महायुद्ध के काल में भारत और अमरीका के बीच सीधा और घनिष्ठ सम्बंध क़ायम हुआ। युद्ध के कारण ब्रिटेन भारत से सामान्य व्यापारिक सम्बंध नहीं रख पा रहा था। इससे अमरीका को भारत के साथ आर्थिक सम्बंध बढ़ाने का अवसर मिला। अमरीका के लड़ाई में शामिल होने के बाद ब्रिटेन जैसे-जैसे अमरीका पर निर्भर होता गया, वैसे-वैसे भारत पर अमरीका का असर बढ़ता गया। हिन्दुस्तान में एक लाख से भी अधिक अमरीकी फ़ौज पहुँच गयी। अमरीकी समाचार समितियों के दफ़्तर खुल गये। अमरीका के सरकारी समाचार केन्द्र क़ायम हुए। तरह-तरह के अमरीकी प्रतिनिधि और दूत-मण्डलियाँ भारत आने लगीं। इस सबसे भारत-अमरीका सम्बंधों का एक बिलकुल नया अध्याय शुरू हुआ। भारतीय जनता के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों में अब अमरीका का स्थान गौण नहीं रहा।

अमरीकी कर्ज़ और व्यापार

इस नये अध्याय का परिचायक १९४०–४५ के बीच भारत-अमरीका के बीच व्यापार का बहुत अधिक बढ़ जाना था।

वर्ष	अमरीका से भारत को निर्यात	भारत से अमरीका को आयात
	(हजार डालरों में)	
१९४०	६८,४२८	१०२,२०४
१९४१	९८,१६२	१३१,५१०
१९४२	३७७,७९३	१०५,१३७
१९४३	५५३,८६५	१२५,७८४
१९४४	७७७,५५७	१४४,८९२
१९४५	४९१,२५१	१७३,१५७

(फ़ॉरेन कौमर्स वीकली, वाशिंग्टन, १० अक्तूबर १९४६)

परन्तु यह सामान्य ढंग का व्यापार न था। निर्यात में जो बढ़ती हुई वह अधिकतर उस सामान के कारण हुई थी जो अंग्रेज़-अमरीकी समझौते की शर्तों के अनुसार १९४२ से लड़ाई के कर्ज़ (लैण्ड-लीज़) के रूप में हिन्दुस्तान भेजा जा रहा था। आयात का कुछ भाग भी इसी प्रकार बदले में हिन्दुस्तान द्वारा दिया गया लड़ाई का क़र्ज़ा था।

अमरीकी सरकार के आँकड़ों के अनुसार 'लैण्ड-लीज़' के मातहत भारत को भेजे गये सामान की क़ीमत १ अक्तूबर, १९४५ तक २,१२८,८०३,००० डालर हो गयी थी। बदले में, भारत ने १ जुलाई, १९४५ तक ६३९,४४३,००० डालर का सामान दिया। भारत में आनेवाले सामान का बड़ा भाग गोले-बारूद का था, जिसकी क़ीमत १,२८८,४९८,००० डालर होती थी। बाक़ी में, १६१,७२१,००० डालर का पेट्रोल आदि, ४९४,६७३,००० का औद्योगिक सामान, और १८३,९११,००० डालर की खेती की उपज थी।

इस सारे सामान का बहुत छोटा भाग हिन्दुस्तान के इस्तेमाल के लिये था। उन दिनों भारत मित्र राष्ट्रों की दक्षिणी-पूर्वी एशियाई कमान का सामान जमा करने का केन्द्र था। चीन को गोला-बारूद भी यहीं से भेजा जाता था। इसलिये 'लैण्ड-लीज़' के मातहत जो सामान भारत आता था, उसमें से अधिकतर दूसरे देशों को चला जाता था। भारत-सरकार हिसाब-किताब इस तरह रखती थी कि पता नहीं लग सकता था कि आये हुए सामान में से कितना बाहर चला गया और कितना देश में इस्तेमाल हुआ। परन्तु, इतना मालूम है कि ज़्यादातर गोला-बारूद यहाँ तैनात अंग्रेज सिपाहियों को दिया जाता था। खेती की उपज में भी अंग्रेज़ सिपाहियों के लिये भोजन का ही सामान होता था। औद्योगिक सामान में वे चीज़ें होती थीं जिनकी भारत के आवाजाही के साधनों और बन्दरगाहों आदि को सुधारने के लिये ज़रूरत थी। लड़ाई के सामान को ढोने के लिये उन्हें सुधारना अत्यंत आवश्यक था।

इसके बदले में भारत ने जो सामान दिया, उसकी मात्रा बहुत ही अधिक थी और वह ऐसे समय दिया गया था जब स्वयं भारत को भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। भारत ने बेशुमार रबड़, चाय,

अवरक, मैंगनीज़ और दूसरा कच्चा माल, फ़ौजी सामान, और करोड़ों गज़ कपड़ा वदले में दिया। इसके अलावा, भारत ने अमरीकी फ़ौजों और जहाज़ियों को तरह-तरह से आराम पहुँचाया। इन सब चीज़ों के दाम बाज़ार भाव से बहुत कम रखे गये और हिसाब भी ठीक तरह से नहीं रखा गया। अक्सर तो अन्दाज़ से ही हिसाब की ख़ानापूरी कर ली जाती थी।

इस वदले की 'लैण्ड-लीज़' से भारत में मुद्रा-प्रसार बहुत बढ़ गया और लड़ाई के ज़माने में लोगों की आर्थिक हालत बेहद ख़राब हो गयी। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि भारत को किस तरह अपना पेट काट कर अमरीकी और ब्रिटिश सरकारों की ज़रूरतें पूरी करनी पड़ी थीं। बड़ा अजीब सा सौदा था। हिन्दुस्तान चूंकि अंग्रेज़ों के शासन में था, इसलिये उसे अपना बहुमूल्य सामान और मदद अमरीका को देना पड़ती थी; बदले में, अंग्रेज़ सरकार को लड़ाई का सामान मिलता था, जिसके एक भाग को वह भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन को कुचलने के लिये इस्तेमाल करती थी। सीधे शब्दों में "लैण्ड-लीज़" हिन्दुस्तान को लूटने का साधन बन गया था।

और लूटनेवाले कभी यह तक नहीं सोचते थे कि हिन्दुस्तान की जनता पर क्या बीत रही है। जैसा कि डाक्टर आर्थर उपहम पोप ने **न्यू यॉर्क टाइम्स** के १३ दिसम्बर, १९४७ के पत्र में लिखा था:

> "मिसाल के लिये, उससे (भारत से) कहा गया कि अनाज की पैदावार कम करके फ़ौज के लिये जूट की खेती करो। भारत ने आज्ञापालन की, परन्तु डरते-डरते कि अनाज की पैदावार कम करने करने पर कहीं अकाल न आ जाय। वही हुआ भी—अकाल आया, और बहुत ही भयंकर रूप में आया।"

अमरीका की मज़दूर संस्था, "कांग्रेस ऑफ़ इण्डस्ट्रियल आर्गनाइज़ेशन्स" (सी. आई. ओ.) ने १९४३ में अमरीका तथा ब्रिटेन की सरकारों को हिन्दुस्तान में अकाल पड़ने की आशंका से आगाह किया और सुझाव रखा कि गोला-बारूद ले जानेवाले अमरीकी जहाज़ों में थोड़ा-थोड़ा करके अनाज भी भारत भेजा जाय। पर उनकी भी कोई सुनवाई नहीं हुई। ५ नवम्बर, १९४३ को मज़दूर नेता हैरी ब्रिजेज़ ने सी. आई. ओ. के सम्मेलन में यह कहा:

"हमारी बात नहीं सुनी गयी, और मैं आपको बताना चाहता हूँ कि हमारी बात क्यों नही सुनी गयी। अमरीकी सरकार की तरफ़ से एडमिरल लैण्ड ने और ब्रिटेन की ओर से सर आर्थर स्लेटर ने हमसे कहा : 'देखिए, अब आप लोग गहरे सामाजिक प्रश्नों में जा रहे हैं; आप लोग गड़बड़ कर रहे हैं।' मतलब सिर्फ़ यह था कि युद्ध में सहायता पहुँचाने की दृष्टि से ही हमने जो सुझाव रखा था, उसे मानने पर उन्हें भारतीय जनता को बचाने के लिये, चन्द आना फ़ी हफ़्ता और ख़र्च करना पड़ जाता।"

नतीजा यह हुआ कि भारत के पचास लाख निवासी बेमौत मर गये। इस सब को ध्यान में रख कर देखा जाय तो मालूम होगा कि १९४६ में "लैण्ड-लीज़" का जिस तरह हिसाब किया गया, वह भारत के साथ सरासर अन्याय करना था। जापान के साथ युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी, भारत जो सामान सप्लाई करता रहा था, उसके एवज में उसे अमरीका से साढ़े ४ करोड़ डालर मिलना था। लेकिन उसे खारिज कर दिया गया। भारत में जो "लैण्ड-लीज़" का फ़ौजी सामान अभी पड़ा हुआ था, अमरीका को उसे उठा लेने का अधिकार दे दिया गया। अमरीका या अमरीकी सैनिकों के नाम १ जून, १९४६ के पहले का जो भी हिसाब निकलता था, उसे चुकाने की जिम्मेदारी भारत सरकार ने अपने सिर ले ली। भारत सरकार से कहा गया कि देश में पड़े हुए "लैण्ड-लीज़" के अमरीकी सामान को नीलाम करके जो कुछ मिले, उसका आधा अमरीका को सौंप दे, बाक़ी से खुद संतोष करे। पर "लैण्ड-लीज़" के मातहत अमरीका से २२ करोड़ ६० लाख आउंस जो चांदी आयी थी, उसे लौटाने की जिम्मेदारी से भारत बरी न हुआ। ३१ मार्च, १९४९ को सारा हिसाब होने पर मालूम हुआ कि भारत के यहां अब भी अमरीकावालों का १७८,४०५, ६४८'२० डालर बकाया है जो भारत को चुकाना पड़ेगा।

"लैण्ड-लीज़," सहायता, या पारस्परिक सहायता की मदों में आने वाले सामान के अलावा, १९४० और १९४५ के बीच भारत और अमरीका का जो व्यापार रहा, उसके आँकड़े इस प्रकार दिये गये हैं:

वर्ष	भारत को अमरीका से निर्यात	भारत से अमरीका को आयात
	(हजार डालरों में)	
१९४०	६८,४२८	१०२,२०४
१९४१	८९,६००	१३१,५१०
१९४२	९०,५२१	१०५,१३७
१९४३	२९,४४९	१२५,८३७
१९४४	४९,०८३	११०,९८८
१९४५	६८,४९६	१४६,४७०

(**फ़ॉरेन कौमर्स वीकली,** वाशिंगटन, १० अक्तूबर, १९४९)

भारत के व्यापार में ब्रिटेन और अमरीका का हिस्सा कितना-कितना प्रतिशत था, यह नीचे के आँकड़ों से पता चलेगा :

वर्ष	भारत का आयात		भारत का निर्यात	
	ब्रिटिश भाग	अमरीकी भाग	ब्रिटिश भाग	अमरीकी भाग
१९४१-४२	२१·१	२०·१	३२·२	१९·७
१९४२-४३	२६·८	१७·३	३०·६	१४·८
१९४३-४४	२५·१	१५·८	३०·४	२०·२
१९४४-४५	१९·८	२५.७	२९·०	२१·२

(**भारत के व्यापारिक सम्बंध और व्यापारिक नीतियाँ—विशेष कर अमरीका के सम्बंध में,** लेखक : डॉ. बी. एन. गांगुली; साइक्लोस्टाइल किया हुआ लेख, पृष्ठ ८)

१९३७-३८ में भारत के आयात में अमरीका का भाग केवल ७·४ प्रतिशत, और निर्यात में केवल १०·१ प्रतिशत था। उसकी तुलना में, ज़ाहिर है, काफ़ी तेज बढ़ती हुई। इतिहास में पहली बार ब्रिटेन और अमरीका के भाग बराबर हो गये; और १९४४-४५ में तो अमरीका भारतीय आयात में ब्रिटेन से भी आगे निकल गया।

भारत से मैंगनीज़, अबरक, लाख, और दूसरी ऐसी वस्तुओं के निर्यात में काफ़ी तेज़ बढ़ती हुई जिनकी अमरीका में लड़ाई का सामान तैयार करने वाले कारखानों को सख़्त ज़रूरत थी। इससे भारत से जानेवाले माल की मात्रा अमरीका से आनेवाले माल की तुलना में बढ़ गयी। ७ अक्तूबर, १९४६ को भारत सरकार के अर्थ विभाग ने एक बयान में बताया :

> "युद्ध के आरम्भ से ३१ मार्च, १९४६ तक भारत ने ४०५ करोड़ रुपये के बराबर अमरीकी डालर कमाये और २४० करोड़ रुपये खर्च किये; और इस तरह १६५ करोड़ रुपये की बचत हुई।"

परन्तु, ब्रिटिश सरकार ने इसका इन्तज़ाम कर दिया था कि ये डालर भारत को न मिलने पायें। उसने व्यवस्था की थी कि ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल देश जितने डालर कमायें, वह सब लन्दन में एक "साम्राज्य डालर कोष" में जमा रहें। इस प्रकार भारत के लगभग ५० करोड़ डालर लन्दन में रोक लिये गये। और लड़ाई के बाद भारत के पास इतने डालर भी न रहे कि वह अपनी ज़रूरत का सामान अमरीका में ख़रीद सकता। मजबूर होकर उसे ब्रिटेन का मुँह ताकना पड़ा।

भारत में अमरीका की आर्थिक कार्रवाइयाँ

चूँकि ब्रिटेन, अमरीकी सहायता पर निर्भर करने लगा था, इसलिये उसे मन मारकर धीरे-धीरे भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर अधिकार के मामले में अमरीका को भी अपना हिस्सेदार बनाना पड़ा।

इसका सबसे बड़ा उदाहरण संयुक्त अबरक मिशन था जो भारत की अबरक की सारी पैदावार को ख़रीद लेने के लिये बनाया गया था। इस मिशन में तीन सदस्य अंग्रेज़ थे और तीन अमरीकी। ये सभी व्यापारी थे। भारतीय खान-मालिक और व्यापारी भाव आदि के बारे में रोज़ अपना रोना रोया करते थे, पर उनकी सुनता कौन था? होता वही था, जो ये विदेशी व्यापारी तै करते थे।

जहाज़ों तथा इस्पात के उद्योग के बारे में भी अंग्रेज़ों तथा अमरीकियों के संयुक्त मिशन बनाये गये। बंगलौर की हिन्दुस्तान एयरक्राफ़्ट फ़ैक्टरी भी अमरीकी हवाई सेना को अपने जहाज़ों की मरम्मत करने के लिये किराये-

पर दे दी गयी। हिन्दुस्तान में पुर्जे जोड़ कर मोटर गाड़ियाँ तैयार करने का ठेका फोर्ड और जनरल मोटर कम्पनियों को दे दिया गया।

परन्तु, इसका मतलब यह नहीं था कि ब्रिटेन चुपचाप, बिना कोई बखेड़ा किये भारत का आर्थिक नियंत्रण अमरीका को सौंप देने को तैयार था। अमरीकी सरकार ने १९४२ में भारत-सरकार की राय से ग्रेडी टेकनिकल मिशन यहाँ भेजा था ताकि वह भारत की आर्थिक परिस्थिति की जाँच करके उत्पादन बढ़ाने के उपाय सुझाये। इस मिशन की अन्तिम रिपोर्ट को भारत सरकार ने प्रकाशित तक नहीं होने दिया और उसकी सिफारिशों को ठुकरा दिया।

भारत-अमरीका के व्यापारिक सौदे

युद्ध काल में ही अमरीका ने भारत की सबसे बड़ी कम्पनियों से सम्पर्क स्थापित करना शुरू किया और भारत के बड़े पूंजीपतियों ने भी अमरीका में दिलचस्पी लेनी शुरू की। युद्ध का अन्त होते-होते तो यह प्रवृत्ति बहुत प्रबल हो उठी।

भारत सरकार ने भारतीय उद्योगपतियों का एक प्रतिनिधि मण्डल १९४५ में अमरीका भेजा। इसीके साथ देशी रियासतों के उद्योगपतियों का भी एक प्रतिनिधि मण्डल वहाँ गया। योजना मंत्री सर आर्देशिर दलाल सरकार की तरफ़ से अमरीका गये। भारतीय फ़िल्म उद्योग के प्रतिनिधि अखिल भारतीय कारखानेदार संघ (मैन्युफ़ेक्चरर्स एसोसियेशन) के प्रतिनिधि और कुछ व्यापारी भी अमरीका की यात्रा कर आये।

इसी तरह की यात्राएँ ब्रिटेन की भी हो रही थीं, गोकि उस समय ब्रिटेन के साथ हमारे देश का राजनीतिक समझौता होने के कोई आसार नज़र नहीं आ रहे थे। इससे भारत में चिन्ता पैदा हुई। इन पूंजीपतियों में से बहुत से कांग्रेस के समर्थक थे, परन्तु साथ ही, उन्होंने लड़ाई के दिनों में ब्रिटिश सरकार से सहयोग करके बेशुमार मुनाफ़ा कमाया था। इसलिये, उनकी अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाइयों से शक पैदा होना स्वाभाविक था। ऐसा लगता था मानो भारतीय पूंजीपतियों की पूरी नीति में ही परिवर्तन होनेवाला है। पूंजीपति वर्ग से सदा मित्रता रखनेवाले महात्मा गांधी तक को इससे आश्चर्य हुआ। उन्होंने अख़बारों में बयान देकर इस बात पर चिन्ता प्रकट की कि

श्री विड़ला जैसे पूंजीपति भी सरकार के भेजे हुए मण्डलों में शामिल होकर विदेश गये हैं, और वे कहीं विदेशों के साथ कोई अनुचित वादा या सौदा न कर लें। जब विड़ला ने उन्हें विश्वास दिलाया कि वे लोग ऐसी कोई बात नहीं करेंगे, तब कहीं जाकर महात्मा गांधी ने अपना विरोध त्यागा।

भारतीय मरचेण्ट्स चैम्बर (व्यापारी संघ) ने तो और भी स्पष्ट शब्दों में इन हरकतों का विरोध किया। २ मई, १९४५ को उसने एक बयान में कहा :

"भारत पसन्द करेगा कि उसका औद्योगिक विकास न हो, परन्तु वह यह नहीं चाहेगा कि इस देश में नयी ईस्ट इण्डिया कम्पनियाँ क़ायम हो जायें। उनसे न केवल भारत की आर्थिक स्वतंत्रता संकट में पड़ जायगी, बल्कि राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना भी मुश्किल हो जायगा।"

मालूम पड़ता था कि इस प्रश्न पर पूंजीपति वर्ग में दो मत थे। एक दल प्रमुख और शक्तिशाली उद्योगपतियों का था। ये लोग अपनी बढ़ी हुई दौलत का इस्तेमाल संयुक्त कम्पनियाँ खोलकर ब्रिटेन और अमरीका का साझीदार बनने के लिये करना चाहते थे। दूसरा दल उन लोगों का था जो पूंजीपति वर्ग के अन्दर राष्ट्रीय एवं स्वदेशी आन्दोलन के मुख्य आधार थे और जिनमें अधिकतर छोटे उद्योगपति और छोटे व्यापारी शामिल थे। उनके पास इतने अधिक साधन न थे कि वे अन्तर्राष्ट्रीय सौदे कर सकें। परन्तु दो दलों का यह मतभेद बहुत दिन तक नहीं चला—कम से कम ऊपरी तौर पर तो ऐसा ही दिखाई दिया। भारत तथा ब्रिटेन के बीच राजनीतिक बातचीत फिर से आरम्भ होने पर दूसरे सवालों ने उसे पीछे ढकेल दिया।

इसी बीच भारतीय पूंजीपतियों तथा अमरीकी पूंजीपतियों के बीच कई सौदे हुए जिनके द्वारा उन्होंने साझे में कम्पनियाँ खोलीं। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं :

मोटर गाड़ियाँ : बिड़ला की हिन्दुस्तान मोटर कम्पनी ने अमरीका की स्टुडबेकर कार्पोरेशन से, वालचन्द हीराचन्द की प्रीमियर ऑटोमोबाइल्स कम्पनी ने क्राइस्लर कार्पोरेशन से, और मोटर हाउस (गुजरात) लिमिटेड ने कैसर फ्रेज़र एक्सपोर्ट कार्पोरेशन से साझा किया।

रेडियो और बिजली का सामान : फ़ज़लभाई फ़ोटोफ़ोन इक्विपमेण्ट कम्पनी ने रेडियो कार्पोरेशन ऑफ़ अमरीका से साझा किया।

रेयॉन (नक़ली रेशम): नेशनल रेयॉन कार्पोरेशन ने, जिसे सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास, सर आर्देशिर दलाल, ए. डी. श्रॉफ़, वालचन्द हीराचन्द आदि ने बनाया था, अमरीका की स्केनाण्डोआ रेयॉन कारपोरेशन ऑफ़ उटिका और लौकवुड, ग्रीन एण्ड कम्पनी ऑफ़ न्यूयौर्क से समझौता किया। लौकवुड ग्रीन कम्पनी सलाहकार इंजीनियरों की फ़र्म है।

इस जमाने में अंग्रेजों के मुक़ाबले में अमरीकी फ़र्मों से साझा करना ज़्यादा पसन्द किया जाता था, क्योंकि ख़याल था कि उनसे बेहतर शर्तों पर समझौता हो सकता है। परन्तु, अमरीकी धनकुबेरों के सामने भारतीय उद्योगपतियों की क्या बिसात थी। और अमरीकी पूंजीपतियों के लिये पूंजी लगाने के वास्ते सारी दुनिया पड़ी हुई थी—सोवियत रूस और पूर्वी योरप को छोड़कर। जाहिर है कि वे मुँहमांगी शर्तों पर ही हिन्दुस्तानियों से साझा करने को राजी हो सकते थे। इसलिये अमरीकी कम्पनियों ने जो शर्तें भारतीय पूंजीपतियों के सामने रखीं, वे ऐसी न थीं जो बराबर के दर्जे के साझीदारों के बीच होती हैं। १६ नवम्बर १९४५ को **ईस्टर्न इकोनोमिस्ट** ने लिखा :

"भारत ने जो शर्तें पेश की हैं, वे ऐसी नहीं हैं कि अधिकतर अमरीकी पूंजी लगानेवालों को पसन्द आ सकें, वे लोग (यानी अमरीकी पूंजीपति) उत्पादन में, हिसाब-किताब में, पैदावार कैसी हो यह तै करने में और माल की बिक्री किस ढंग से की जाय, यह निश्चय करने में अपना हाथ चाहते हैं। इसके बिना वे साझा करने को तैयार न होंगे।"

शुरू में, भारतीय पूंजीपति हर चीज़ पर अमरीकी नियंत्रण को मानने के लिये तैयार न थे। परन्तु अन्त में, अमरीकी पूंजीपति अपनी अधिकतर शर्तें मनवाने में कामयाब हो गये। मिसाल के लिये, रेयॉन वाले समझौते में यह तै पाया कि भारतीय कम्पनी को केवल टेकनिकल मदद देने के बदले में (इसमें मशीनों के दाम शामिल नहीं थे) भारतीय साझीदार, ४ लाख रुपये तुरन्त, ११ लाख हर साल तनख़ाओं के रूप में और सवा लाख रुपये वार्षिक रायल्टी के रूप में अमरीकी कम्पनी को, १० साल तक लगातार देते रहेंगे। दूसरे समझौतों की शर्तें गुप्त रखी गयीं।

मोटर गाड़ियोंवाले समझौतों में बिड़ला व स्टुडबेकर का समझौता केवल पुर्ज़ों को जोड़कर मोटर गाड़ी बनानेवाले कारख़ाने से सम्बंधित था।

प्रीमियर-क्राइस्लर समझौते में हिन्दुस्तान में मोटर बनाने की भी बात थी, परन्तु अभी तक इस सिलसिले में कोई कामयाबी नहीं मिली है। मोटर हाउस-क़ैसर समझौते में शुरू में बाहर से मोटर मंगाने, फिर पुर्जे मंगाकर जोड़ने और अन्त में मोटर बनाने की बात थी। परन्तु, यह योजना भी सफल नहीं हुई और यह अधवना कारखाना १९४९ में एक अंग्रेज़ कम्पनी के हाथ बेच दिया गया।

सच पूछा जाय तो इन समझौतों के द्वारा कदम पीछे ही हटाया गया था। १९३६ में वालचन्द हीराचन्द, एम० विश्वेश्वरैय्या आदि ने एक मोटर बनाने का कारखाना खड़ा करने के लिये एक कम्पनी खोली थी और उसके लिये वाल्टर क्राइस्लर तथा हैनरी फोर्ड से सहयोग के वचन ले लिये थे। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने नयी कम्पनी को टैक्स के मामले में कोई सुविधा देना जरूरी नहीं समझा और १९४२ में पूरी योजना त्याग दी गयी। युद्ध के काल में जो समझौते हुए, उनसे भारत के औद्योगीकरण में सहायता नहीं मिली, बल्कि उनके ज़रिये भारत के बड़े से बड़े उद्योगपति भी अमरीकी कम्पनियों के अदना एजेण्ट बन गये। इनमें से एक भी समझौता ऐसी नहीं था जिससे किसी मुख्य उद्योग की नींव पड़ती हो। ध्यान में रखने की बात है कि किसी देश की स्वतंत्रता अन्त में बुनियादी उद्योगों पर ही निर्भर करती है।

भारतीय मामले में अमरीकी हस्तक्षेप

लड़ाई के ज़माने में हिन्दुस्तान की आज़ादी का सवाल बड़े ज़ोरों से दुनिया के सामने आया। अमरीका ने भी इन्हीं दिनों पहली बार इस सवाल में दिलचस्पी ली। राष्ट्रपति रूज़वेल्ट भली भाँति जानते थे कि युद्ध उद्योग और भारत में तैनात अमरीकी सेनाओं की सुरक्षा के लिये भारतीय जनता के रुख का कितना भारी महत्व है। उन्हें इस बात की भी चिन्ता थी कि युद्ध के बाद एशियाई देशों में अमरीका की प्रतिष्ठा और इज्जत कितनी रहेगी। साथ ही वह यह बात भी अच्छी तरह समझते थे कि अब ब्रिटेन चूँकि अमरीका की सहायता पर निर्भर करता है, इसलिये अमरीका ब्रिटेन के हर मामले में हस्तक्षेप कर सकता है।

अमरीकी सरकार ने १९४१ से भारत के साथ सीधा सम्पर्क बनाना शुरू किया। इसी वर्ष दोनों देशों के बीच दूतों की अदला-बदली हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व घटना थी, क्योंकि इसके पहले तक वाशिंगटन में भारतीय दूत सर गिरिजाशंकर वाजपेयी, ब्रिटिश राजदूत लार्ड हैलीफ़ैक्स के आधीन थे। इसके पहले तक भारत में अमरीकी दूत के लिये भी ऐसा कोई काम न था जो साधारणतः राजदूतों के हुआ करते हैं, क्योंकि भारत अंग्रेजों का गुलाम था।

इसके बाद अमरीकी सरकार ने भारत से एक व्यापारिक संधि की बातचीत शुरू की। यह भी एक असाधारण प्रस्ताव था क्योंकि उस समय तक भारत सरकार को किसी विदेशी सरकार से संधि करने का अधिकार न था। प्रस्तावित संधि का उद्देश्य, वास्तव में, तो उस व्यवस्था को हटाना था जिसके अनुसार ब्रिटिश साम्राज्य में बने माल पर भारत कम चुंगी लगाता था और अमरीका आदि दूसरे देशों के माल पर अधिक। इससे अमरीकी व्यापार को नुक़सान पहुँच रहा था। अटलांटिक चार्टर का मसौदा तैयार करते समय भी अमरीकी सरकार ने इस बात पर जोर दिया था। परन्तु, अंग्रेजों ने डट कर उसके प्रस्ताव का विरोध किया और बात जहां की तहां रह गयी थी।

पर्ल हारबर पर जापानियों के हमले के बाद भारत की राजनीतिक परिस्थिति में भी अमरीका दिलचस्पी लेने लगा। एक अमरीकी अफ़सर को राजदूत बना कर भारत भेजा गया। भारत के मुख्य शहरों में अमरीका के युद्ध समाचार विभाग की शाखाएँ खुल गयीं। कूटनीतिक सम्मेलनों में भारत की अक्सर चर्चा होने लगी। हिन्दुस्तान के सवाल को लेकर ब्रिटिश तथा अमरीकी सरकारों के बीच पैंतरेबाजी चलने लगी।

चर्चिल अमरीकी हस्तक्षेप से नाराज़ थे। उनकी राय में अमरीकियों को भारत के मामले में टांग अड़ाने का कोई अधिकार न था, और इसका उद्देश्य केवल अंग्रेजों के हितों को काटकर अमरीका का उल्लू सीधा करना था। यह शक निराधार भी न था। साम्राजी चुंगी व्यवस्था को, जिसका हमने ज़िक्र किया है, ख़तम कराने की कोशिशें इसकी सबूत थीं। ३ मार्च, १९४३ को भारत में राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के व्यक्तिगत प्रतिनिधि विलियम फ़िलिप्स ने सुझाव रखा कि भारत तथा ब्रिटेन के प्रतिनिधियों का एक गोलमेज़ सम्मेलन अमरीकी प्रतिनिधि की अध्यक्षता में हो और ब्रिटेन उसमें जो कुछ वादे करे, अमरीका उनका ज़ामिन बनना क़बूल करे। भला चर्चिल यह कैसे भूल सकता था कि ब्रिटेन ने भी इसी तरह दूसरों का ज़ामिन बन-बन कर अपना साम्राज्य बढ़ाया था! १४ मार्च को फ़िलिप्स ने राष्ट्रपति रूज़वेल्ट को लिखा :

"राष्ट्रपति महोदय, मेरा दृढ़ मत है कि भारत में हमारी सैनिक स्थिति को देखते हुए, इन तमाम मामलों में हमारा हाथ रहना ज़रूरी है। जब जापान के खिलाफ़ लड़ाई में मुख्य भाग हमें ही लेना पड़ेगा, तब अंग्रेज़ों का यह कहना किसी प्रकार भी उचित नहीं है कि इन मामलों से हमारा कोई सम्बंध नहीं है।"

उधर चर्चिल की यह कोशिश थी कि अमरीका से ज़ोर डलवा कर हिन्दुस्तान को रास्ते पर लाया जाय। अप्रैल १९४२ के शुरू में सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स ने कर्नल लुई जौन्सन को निमंत्रण दिया कि कांग्रेस कार्य-समिति के साथ बातचीत के दौरान में वह ग़ैर-सरकारी तौर पर मध्यस्थ का काम करें और अंग्रेज़ों के इस प्रस्ताव का समर्थन करें कि एक भारतीय को देश का रक्षा मंत्री नियुक्त कर दिया जाय, किन्तु रक्षा विभाग का कोई काम उसके हाथ में न रहे। भारतीय नेताओं ने इस प्रस्ताव को तो नहीं माना, परन्तु इस बातचीत का एक परिणाम यह ज़रूर हुआ कि भारतीय नेता अमरीका से मदद की आशा करने लगे, और इससे ब्रिटेन की बजाय अमरीका का ही फ़ायदा हुआ।

उधर ब्रिटिश सरकार को भी अमरीका की मदद की ज़रूरत थी, इसलिये वह हिन्दुस्तान में जो कुछ भी करती थी, पहले अमरीकी सरकार को उसकी सूचना दे देती थी। १८ जून १९४२ को ही लार्ड हैलीफ़ैक्स ने अमरीकी सरकार के वैदेशिक विभाग को बता दिया था कि ब्रिटिश सरकार गांधी और कांग्रेस के खिलाफ़ सख़्त कार्रवाई करने की तैयारी कर रही है। ८ अगस्त सन १९४२ को उप-प्रधान मंत्री एटली ने अमरीकी प्रेसीडेन्ट रूज़वेल्ट को सूचित कर दिया था कि ब्रिटिश सरकार गांधी तथा कांग्रेस नेताओं को गिरफ़्तार करनेवाली है।

अमरीकी सरकार भारत में अपने समर्थकों की संख्या बढ़ाना चाहती थी। अमरीका के आम लोगों को भारत में तैनात अमरीकी सिपाहियों की सुरक्षा की चिन्ता थी। अंग्रेज़ों ने अमरीका में भारत के खिलाफ़ बहुत प्रचार किया, परन्तु जनता को दमन की नीति पसन्द न आयी। अमरीकी सरकार इस समय दोहरी नीति पर चल रही थी। एक तरफ़ उसकी कोशिश यह थी कि ब्रिटेन को समझा-बुझा कर उससे गांधी तथा दूसरे नेताओं के साथ समझौते

का कोई क़दम उठवाये। इसके लिये अमरीकी सरकार के नेता और प्रतिनिधि भारतीय नेताओं से अच्छे सम्बंध रखने की कोशिश करते थे और साथ ही इस बात का भी खयाल रखते थे कि ब्रिटेन नाराज़ न हो जाय। ब्रिटिश दमन का तो अमरीका खुलेआम विरोध न करता था, परन्तु इस बात पर ज़ोर देता था कि भारत से समझौते की बातचीत जारी रखी जाय और उसका आधार यह हो कि अंग्रेज़ यह वचन दें कि फ़ौरन तो नहीं, पर युद्ध के बाद ज़रूर भारत को स्वतंत्रता दे दी जायगी। इस सम्बंध में बार-बार फ़िलीपाइन का उदाहरण दिया जाता था।

दूसरी तरफ़, अमरीकी सरकार अपने देश की जनता को चुपचाप रखने की कोशिश भी कर रही थी। अंग्रेज़ों ने अमरीका में एक बड़ी भारी प्रचार की मशीन खड़ी कर रखी थी। अमरीकी सरकार ने उसकी सहायता की। अमरीका के विदेश मंत्री कोर्डेल हल ने ब्रिटेन के विदेश मंत्री इडेन को मार्च १९४३ में लिखा :

"भारत को लेकर इस देश (अमरीका) में कहीं ब्रिटिश-विरोधी भावना न बढ़ जाय, हमने इसकी सचमुच बड़ी कोशिश की है।..."

यहाँ तक कि अमरीका में भारतीय स्वतंत्रता का समर्थन करनेवाले कई लोग गिरफ़्तार कर लिये गये। रैल्फ़ टैम्पलिन और डॉ. जे. होम्ज़ स्मिथ नामक दो अमरीकी पादरी इसी अपराध पर भारत से वापस बुला लिये गये थे। फ़रवरी १९४३ में, महात्मा गांधी के उपवास के समय उन्होंने वाशिंगटन में ब्रिटिश दूतावास पर धरना दिया। इन दोनों को गिरफ़्तार कर लिया गया।

सदा अमरीका का प्रचार करनेवाले सरदार जे० जे० सिंह को भी मानना पड़ा कि अमरीकी सरकार की भारत की आज़ादी में कोई दिलचस्पी नहीं है। जून १९४७ में प्रकाशित एक पुस्तिका में उन्होंने लिखा है :

"...अपने देशवासियों के साथ-साथ मुझे भी १९४२ में अमरीकी सरकार की पूर्ण निष्क्रियता को देखकर घोर निराशा हुई थी।...उस ज़माने में मैंने हरेक के दरवाज़े की कुंडी खटखटाई, उपराष्ट्रपति हैनरी वैलेस से लेकर नीचे तक सैंकड़ों व्यक्तियों से मिला, पर मैं आपको बताऊँ, अमरीकी सरकार का रुख देख कर मुझे बड़ी निराशा हुई और खेद हुआ। दिन-रात दीवार से सिर टकराते रहना अच्छा नहीं लगता था।"

("भारत और अमरीकी" पृष्ठ १६)

यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि अमरीका ने सबसे पहले अपने जिस ऊँचे अधिकारी को भारत भेजा, वह कर्नल जौन्सन था जो बाद में चल कर अमरीका का रक्षा मंत्री नियुक्त किया गया। जौंसन पहले "अमरीकन लीजन" नामक अर्द्ध-सैनिक संस्था का नेता था और राजनीति में उसका सम्बंध अमरीका के सबसे प्रतिक्रियावादी दलों से था। अमरीकी सेनेट की एक कमिटी के सामने बयान देते हुए जौंसन ने १५ जून, १९५१ को भारत में अपनी कार्रवाइयों के बारे में एक अजीब चीज बतलायी। सेनेट में सवाल-जवाब इस प्रकार हुआ:

"**सेनेटर ब्र्यूस्टर**: मेरे खयाल में आप किसी समय सरकार के प्रतिनिधि बन कर भारत गये थे? ठीक है न?

"**मि० जौंसन**: जी, हाँ।

"**सेनेटर ब्र्यूस्टर**: भारत में उस वक्त हमारी जो प्रचार करने वाली संस्था काम करती थी, 'अमरीका की आवाज' या जो कुछ भी उसका नाम रहा हो, आप उसके काम से तो परिचित थे?

"**मि० जौंसन**: मैं जब वहां था तो एक प्रचार करने वाली संस्था वहां थी, लेकिन वह अमरीकी संस्था नहीं थी। थोड़े से लोग थे, बड़े भले लोग, जो चीन से और दूसरी जगहों से आये थे और मुझ से भारत में मिले थे; और हम "जंगली बिल" डोनोवन के साथ...काम कर रहे थे।

"**सेनेटर ब्र्यूस्टर**: उस वक्त डोनोवन तो सरकार में था न?

"**मि. जौंसन**: जी, हाँ।

"**सेनेटर ब्र्यूस्टर**: यही संस्था थी जिसका मैं ज़िक्र कर रहा था।...

"**मि. जौंसन**: हाँ, यही संस्था थी जिसने, जब मैं भारत में था, तो मेरी सहायता की थी...।"

"जंगली बिल" डोनोवन का पूरा नाम मेजर जनरल विलियम जोसेफ़ ोवन है। लड़ाई के जमाने में वह अमरीका के जासूस विभाग का प्रधान था।

जॉनसन के बाद विलियम फ़िलिप्स को भारत में अमरीकी प्रतिनिधि नियत किया गया। यह सज्जन भी पहले जासूस विभाग के बड़े अफ़सर थे।

अमरीका की इस नीति से कि गुप्त रूप से तो वह ब्रिटेन को सलाह देता है पर सार्वजनिक रूप से भारत के मामले में सदा चुप्पी साधे रहता है, हिन्दुस्तान में असंतोष पैदा होना स्वाभाविक था। शायद गांधीजी को अमरीका के बारे में सबसे कम भ्रम था। उन्होंने १९४२ में ही च्यांग काई-शेक से कह दिया था कि "ये लोग (ब्रिटेन और अमरीका) हम हिन्दुस्तानियों के साथ कभी खुशी से बराबरी का व्यवहार न करेंगे।" कुछ समय बाद उन्होंने एक अमरीकी से बात करते हुए इस बात में बड़ा शक जाहिर किया कि अमरीकी सरकार ईमानदारी से चार स्वतंत्रताओं का समर्थन करती है। उन्होंने पूछा: "इनमें स्वतंत्र होने की स्वतंत्रता भी शामिल है या नहीं?" १९४३ और १९४४ में अक्सर अख़बारों में यह बनावटी ख़बर निकलती थी कि अमरीका गुप्त रूप से भारत का समर्थन कर रहा है। परन्तु कोई ठोस नतीजा लोगों को नज़र न आता था। इससे अमरीका के बारे में काफी नाराज़गी का भाव भारत में फैला और उससे अमरीकी अधिकारियों को काफ़ी चिन्ता हुई।

परन्तु १९४४ के ख़तम होते-होते सैनिक परिस्थिति सुधर गयी और भारत में अमरीका की फौरी दिलचस्पी भी कम हो गयी। १९४५ में श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित अमरीका गयीं ज़रूर, परन्तु भाषण देने के अतिरिक्त वह कोई राजनीतिक काम न कर सकीं। सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में अमरीकी अधिकारियों ने उनको कोई महत्व नहीं दिया और सम्मेलन के अन्दर यदि किसी ने भारत की स्वतंत्रता के समर्थन में आवाज़ उठायी तो केवल सोवियत के विदेश मंत्री मोलोतोव ने। इसके बाद अमरीकी सरकार का काम सिर्फ़ यह रह गया कि भारतीय नेताओं से बातचीत के सिलसिले में ब्रिटेन जो भी क़दम उठाये, उसके समर्थन में वह बयान निकाल दे। भारतीय जनता पर इसका क्या प्रभाव पड़ा, यह फ़रवरी १९४६ में जहाजियों की बग़ावत के समय बम्बई में दिखाई दिया जब यूनियन जैक के साथ ही वहां अमरीकी झण्डा भी जलाया गया।

भारत के आयात तथा निर्यात का मासिक औसत

वर्ष	भारत के आयात				भारत के निर्यात			
	लाख रुपयों में मूल्य		कुल आयातका प्रतिशत भाग		लाख रुपयों में मूल्य		कुल निर्यातका प्रति. भाग	
	अमरीका से	ब्रिटेन से	अमरीका से	ब्रिटेन से	अमरीका को	ब्रिटेन को	अमरीका को	ब्रिटेन को
१९३८	९५	४०१	७·३	३०·६	११२	४६६	८·३	३४·५
१९४६	३८६	८४१	१४·६	३१·८	५८४	५८५	२५·१	२५·१
१९४९	८४०	१,४४८	१६·०	२७·६	५७२	९३५	१६·१	२६·३
१९५०	८३९	९७९	१९·९	२३·३	८३५	९९४	१९·२	२२·८
१९५१	१,६७४	१,१९२	२६·२	१८·७	१,०८४	१,५६६	१८·१	२६·२
१९५२ (जनवरी)	३,७२०	१,५९९	४६·५	२०·०	१,००५	१,६३८	१६·३	२६·५

("मंथली ऐब्सट्रैक्ट ऑफ स्टैटिस्टिक्स," नयी दिल्ली, मार्च, १९५२)

तीसरा अध्याय

दूसरे महायुद्ध के बाद के काल में भारत-अमरीका का व्यापार

हमने देखा कि युद्ध काल में अमरीका ने भारत में अपने व्यापार को बहुत बढ़ाया और भारत के वैदेशिक व्यापार में उसका भाग अभूतपूर्व स्तर पर पहुँच गया। युद्ध के बाद उसने अपनी इस कामयाबी को पुख़्ता किया।

लड़ाई के पहले की तुलना में अमरीका में भारत का निर्यात बहुत बढ़ गया। भारत के वैदेशिक व्यापार में अमरीका का स्थान दूसरे नम्बर का हो गया। केवल ब्रिटेन उसके ऊपर था। भारत के आयात व्यापार में, १९५१ में अमरीका का हिस्सा ब्रिटेन से भी बहुत बढ़ गया। अब भारत में सबसे अधिक माल अमरीका से ही आता है। (पृष्ठ ४२ का टेबुल देखिये)

पाकिस्तान के साथ भी अमरीका का व्यापार बढ़ा है, पर इतना नहीं। १९५१ में पाकिस्तान के आयात में अमरीका का तीसरा स्थान था और निर्यात में आठवां। परन्तु, अमरीका द्वारा अधिकृत जापान वहां ब्रिटेन का बड़ा प्रतिद्वन्दी बन गया था।

अमरीका की जहाजी कम्पनियों ने भारत के व्यापार में घुसने की कोशिश की और उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। युद्ध के पहले अमरीकी जहाज भारत के वैदेशिक व्यापार के केवल २७ प्रतिशत भाग को ढोते थे। १९४९ तक वे भारतीय निर्यात के ५२ प्रतिशत भाग को और आयात के २५ प्रतिशत भाग को ढोने लगे।

भारत-अमरीकी व्यापार में यह तरक्की अंग्रेजों के तमाम विरोध और अड़ंगों का सामना करके हुई। १९४६ में, ब्रिटिश सरकार ने आयात-निर्यात के कण्ट्रोल के द्वारा ऐसे सैकड़ों सौदों को रोक दिया जो भारतीय तथा अमरीकी व्यापारी पहले से कर चुके थे। १५ अगस्त, १९४७ के बाद

ब्रिटेन ने इस बारे में दूसरा तरीक़ा अख्तियार किया। उसके यहां भारत और पाकिस्तान का पौण्ड पावना जमा था। उसका उपयोग करके ब्रिटेन ने दोनों देशों की वैदेशिक व्यापार सम्बंधी नीति पर प्रभाव डाला। लन्दन के डालर कोष में भारत ने करोड़ों डालर जमा किये थे। परन्तु १९४७ के अन्त में ब्रिटेन ने भारत को इस कोष से डालर देना बन्द कर दिया। १९४७ और १९४८ में भारत और पाकिस्तान के साथ पौण्ड पावने के सम्बंध में जो समझौते हुए, उनके द्वारा ब्रिटेन ने पौण्ड पावने के उस भाग को और कम कर दिया जिसे भारत और पाकिस्तान डालरों में बदल सकते थे। ऐसा करते समय इस बात का ख़याल नहीं रखा गया कि हिन्दुस्तान को डालरों की बड़ी कमी पड़ रही थी। नतीजा यह हुआ कि भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से उधार लेना पड़ा।

पौण्ड पावने पर ब्रिटेन का अधिकार रहने के कारण भारत को मजबूर होकर ब्रिटेन से ज़्यादा सामान मंगाना पड़ता था। इसके अलावा, ब्रिटेन ने दबाव डाल कर भारत को विवश कर दिया कि वह अपनी मुद्रा का मूल्य कम कर दे। स्टर्लिंग क्षेत्र का सदस्य होने के कारण भारत और पाकिस्तान को झुकना पड़ा और उन्हें १९४९-५० में अपने डालर आयात को २५% कम कर देना पड़ा।

पौण्ड पावने पर अंग्रेज़ों का अधिकार रहने से उन्हें कितना लाभ हो रहा है, इससे अमरीका अच्छी तरह परिचित था। इसलिये, उसने १९४५ से ही अंग्रेज़ों के इस अधिकार को कम करने की कोशिश शुरू कर दी थी। जब ब्रिटेन और अमरीका में कर्ज़े की बातचीत शुरू हुई, तब अमरीका ने शर्त रखी कि क़र्ज़ा लेना चाहते हो तो अधिकतर पौण्ड पावने को रद्द कर दो। अन्त में जो समझौता हुआ, उसकी १०वीं धारा में इस सम्भावना के लिये स्थान रखा गया और ऐसा करते समय भारत से पूछा तक नहीं गया। प्रधान न्यायाध्यक्ष फ्रेड एम विंसन ने, जो उस समय अमरीका के अर्थ मंत्री थे, २१ मई, १९४६ को बताया कि कर्ज़े की बातचीत के दौरान में यह योजना तैयार हुई थी कि पौण्ड पावने के तिहाई भाग को तो काट दिया जाय और आधे भाग को पचास साल तक के लिये रोक रखा जाय। परन्तु अमरीका की योजना सफल न हो पायी। क्योंकि एक तो भारत और

पाकिस्तान में पौण्ड पावना काटने या कम करने का सख़्त विरोध हुआ; दूसरे, ब्रिटेन गम्भीर आर्थिक संकट में फंस गया।

अतः समस्या ज्यों की त्यों बनी रही और अमरीका, ब्रिटेन से पौण्ड पावना ले लेने या व्यापार पर उसके प्रभाव को कम करने की किसी न किसी तरकीब की खोज में लगा रहा। १४ अक्तूबर, १९४९ को **न्यू यौर्क टाइम्स** ने यह समाचार छापा कि वालस्ट्रीट में अफ़वाह है कि अमरीकी सरकार ने भारत को सुझाया है कि वह पौण्ड पावने से केवल अपने नोटों की सुरक्षा का काम ले और ब्रिटेन में माल ख़रीदने के लिये चालू व्यापार की कमाई को इस्तेमाल करे। समझा जाता था कि इस सुझाव को मान लेने से किसी की प्रतिष्ठा को भी हानि न होगी और भारत, ब्रिटेन के मुक़ाबले में अमरीका से ज़्यादा माल खरीदने लगेगा। यह बात भी महत्वपूर्ण थी कि यह समाचार ठीक उस समय छापा गया था जब चिन्तामण देशमुख के साथ पं० नेहरू अमरीका में मौजूद थे, और क़र्ज पर गेहूँ लेने की तथा अमरीकी बैंकरों को भारत में पूंजी लगाने के लिये समझाने की कोशिश कर रहे थे।

पौण्ड पावने के प्रति अमरीका के रुख़ पर विचार करते समय यह याद रखना जरूरी है कि यह रक़म भारत ने युद्ध के काल में ब्रिटेन और अमरीका को बाज़ार भाव से कम दामों पर तरह-तरह का माल देकर कमाया था। भारत का रिजर्व बैंक इस माल के बदले में नोट छाप-छाप कर दे देता था। साम्राज्यवादी अर्थ-नीति के इस हथकण्डे से भारत में भयानक मुद्राप्रसार फैला जिससे जनता पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ा। ५ अप्रैल १९४६ तक, पौण्ड पावने की रक़म १७३० करोड़ रुपये तक पहुँच गयी थी। परन्तु, बाद में अनेक अनुचित बहाने बना कर ब्रिटिश सरकार ने उसे काफ़ी कम कर दिया। जो रक़म बची है, वह भी तेज़ी से ख़र्च होती जा रही है। जल्द ही वह समय आनेवाला है जब अंग्रेज़ों के हाथ में यह अस्त्र भी न रहेगा।

पौण्ड पावने के द्वारा भारत के वैदेशिक व्यापार में अंग्रेज़ अपना प्रमुख स्थान तो बनाये रहे, परन्तु यहां के व्यापार में अमरीका ने जो जगह बना ली थी, वहां से उसे निकालने में ब्रिटेन को कुछ ख़ास कामयाबी नहीं मिली। इसलिये, कहना चाहिये कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी स्वार्थों की अमरीकी हमलों से हिफ़ाजत करने के लिये पौण्ड पावने ने एक रक्षात्मक हथियार के रूप में काम दिया।

भारत-अमरीकी व्यापार का स्वरूप

भारत-अमरीकी व्यापार का भारत के लिये महत्व है, क्योंकि उसके वैदेशिक व्यापार का काफ़ी बड़ा हिस्सा अमरीका के साथ होता है। परन्तु इस व्यापार का अमरीका के लिये भी भारी महत्व है। जुलाई, १९४८ में अमरीका की राष्ट्रीय वैदेशिक व्यापार समिति ने कहा था:

> "भारत से आनेवाले माल की क़ीमत हमारे कुल वैदेशिक व्यापार का एक एक बहुत छोटा सा हिस्सा होती है; परन्तु आठ महत्वपूर्ण चीज़ें हमें सिर्फ़ भारत से ही मिलती हैं, और पन्द्रह दूसरी वस्तुओं का ८०% भाग भी हम उसी देश से मंगाते हैं।..." (साइक्लोसटाइल किया हुआ लेख)

प्रतिनिधि सभा (अमरीकी पार्लमेण्ट की निचली सभा) की वैदेशिक मामलों से सम्बंधित समिति ने भी यह बात मानी है कि अमरीका को सैनिक दृष्टि से जिन-जिन कच्चे मालों की घोर आवश्यकता है, उनमें से अनेक माल प्रायः हिन्दुस्तान से ही आते हैं।

> "भारत के पास ऐसी कई वस्तुएँ हैं जिन्हें अमरीका सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण मानता है। गोला-बारूद विभाग की सूची के अनुसार जिन वस्तुओं के भण्डार अमरीका जमा कर रहा है, उनमें से ये चीज़ें काफ़ी मात्रा में हिन्दुस्तान में पैदा होती हैं: बेरिल, रेंडी के बीज, क्रोमाइट, नारियल का तेल, कायनाइट, मैंगनीज़, अबरक, मोनेज़ाइट, अफ़ीम, काली मिर्च, प्राकृतिक रबड़ का दूध, रुटाइल, लाख, टैल्क और ज़िर्कोन। जूट, चमड़े (बकरों और बछड़ों की कच्ची खालें), और सीसेम के तेल के भण्डार तो नहीं जमा किये जाते, परन्तु अमरीका में उनकी बहुत कमी है, और ये माल भी भारत में तैयार होते हैं। ...इन सभी वस्तुओं की अमरीका को सख़्त आवश्यकता है।" (अमरीका की ८२ वीं कांग्रेस के पहले अधिवेशन की रिपोर्ट, १९५१, पृष्ठ ६)

अमरीका को जो सामान भारत भेजता है, उसमें ज़्यादातर वैसी चीज़ें ही शामिल हैं जिन्हें सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कच्चा माल कहा जाता है। इन वस्तुओं की मांग बहुत घट-बढ़ सकती है और बहुतों की जगह दूसरी वस्तुओं को

इस्तेमाल किया जा सकता है। अमरीका इन वस्तुओं का सबसे बड़ा खरीदार है। इसलिये, कुछ दिन के लिये इन मालों को ख़रीदना बन्द करके वह हिन्दुस्तान पर भारी दबाव डाल सकता है। और ऐसे दबाव का भारत के लिये गम्भीर आर्थिक परिणाम हो सकता है। उदाहरण के लिये, १९५२ के शुरू के महीनों में, जब अमरीका ने जूट, काली मिर्च और अबरक को बाजार भाव पर खरीदना बन्द कर दिया, तो भारत में गम्भीर आर्थिक और मुद्रा संकट शुरू हो गया। इस तरह के दबाव की बात छोड़ दी जाय, तब भी यह तो सोचना पड़ेगा कि यदि हम बिना कुछ सोचे-समझे अंधाधुंध मैंगनीज़ और अबरक निकाल-निकाल कर अमरीका के हाथ बेचते रहे, तो भारत के आर्थिक विकास का क्या होगा।

भारत अमरीका से अधिकतर रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीज़ें और अनाज मंगाता है। ब्रिटेन के साथ भी उसके व्यापार का यही रूप है। एक गुलाम मुल्क सदा साम्राज्यवादी मुल्क को कच्चा माल बेचता है और उससे रोज़मर्रा के इस्तेमाल की कारखानों में बनी चीजें खरीदता है। मालिक और गुलाम देशों के व्यापारिक सम्बंध इसी प्रकार के होते हैं।

भारत के आयात में मशीनों का स्थान बहुत नीचा है। १९४८ के पहले ६ महीनों में अमरीका से जितना सामान आया, उसमें मशीनों और गाड़ियों की क़ीमत ५ करोड़ ५३ लाख डालर थी जो कुल आयात का सिर्फ़ ३६ प्रतिशत भाग थी। और उसमें भी ६७ लाख डालर की बिजली की मशीनें थीं, १२ लाख का दफ़्तर का सामान था, १ करोड़ ५८ लाख की मोटरें और उनके कल-पुर्जे थे, ४९ लाख के हवाई जहाज और उनके कल-पुर्जे थे और १९ लाख के पानी के जहाज़ थे। यानी, औद्योगिक मशीनें केवल १ करोड़ ८६ लाख डालर की आयी थीं।

१९४८ के पहले ६ महीनों में ही पाकिस्तान ने २० लाख ६२ हज़ार डालर की मशीनें और गाड़ियाँ अमरीका से मंगायी थीं। वह अमरीका से आनेवाले कुल सामान का ३६ प्रतिशत होता था। औद्योगिक मशीनें उनमें भी बहुत कम थीं। उनकी कीमत केवल ६ लाख ५७ हज़ार डालर होती थी।

भारत के बहुमूल्य कच्चे माल और खनिज को बाहर भेज कर जो डालर मिले, उनसे अनाज, रेलवे इंजिन, मोटर गाड़ियाँ, जहाज़, अख़बारी काग़ज़,

और रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीज़ें ख़रीदी गयीं, न कि उद्योग-धंधों में काम आनेवाली मशीनें। भारत अमरीका के पुराने, सड़े-गले, बेकार माल को बाज़ार में निकालने का साधन बन गया है। १५ जून, १९४७ को **न्यू यॉर्क टाइम्स** ने लिखा :

"कल मालूम हुआ कि सरकार के व्यापार विभाग के यहाँ इस तरह की शिकायतों की बाढ़ सी आ गयी है कि अमरीकी व्यापारी भारत में बड़ी बेईमानी कर रहे हैं। व्यापार विभाग के अफ़सरों का कहना है कि ये व्यापारी भद्दे ढंग का माल बेचते हैं और अमरीका में अच्छे माल के जो दाम हैं, उनसे १०-१५ प्रतिशत ऊँचे दाम हिन्दुस्तानियों से वसूलते हैं।

"एक हिन्दुस्तानी ने १ लाख १२ हज़ार डालर का सामान ख़रीदा, पर जहाज़ के बम्बई पहुँचने पर पता चला कि उसमें ९ हज़ार डालर से भी कम का माल आया है। जिस माल का सौदा हुआ था, उसकी जगह भद्दे ढंग का, पुराना माल जहाज़ में भरा हुआ था।

"भारतीय बाज़ार से सम्बंधित एक बैंक अधिकारी ने बताया है कि नं. ४ के कलम निबों का हिन्दुस्तान से १० हज़ार डालर का आर्डर आया था। किन्तु यहां से भेजे गये ६ नम्बर के निब, जो भारतीय बाज़ार के लिये बिल्कुल बेकार हैं और वहां बेचे नहीं जा सकते..."

जो थोड़े बहुत डालर हिन्दुस्तान के पास थे, वे इस तरह बहाये जा रहे थे और मशीनें न मिल पाने की सफ़ाई भारत सरकार इन शब्दों में दे रही थी:

"भारत का तेज़ी से औद्योगीकरण करने के रास्ते में मुख्य कठिनाई मशीनों की कमी है। वह प्रधानतः अमरीका से ही मिल सकती हैं। परन्तु दो वजहों से वे हमें ज़रूरत के मुताबिक नहीं मिल पातीं : एक तो यह कि अमरीकी साधन योरपीय पुनर्स्थापन कार्यक्रम (मार्शल योजना—अनु०) को पूरा करने में लगे हुए हैं; दूसरे हिन्दुस्तान के पास डालर कोष बहुत कम है।" (वाशिंग्टन में भारतीय दूतावास का प्रकाशन "आज़ादी के एक वर्ष" से, पृष्ठ २३)

यह बात सच नहीं है कि मार्शल योजना के कारण भारत को अमरीका से मशीनें नहीं मिल सकीं। पहली बात तो यह है कि मार्शल योजना अप्रैल, १९४८ में शुरू हुई, और भारत सरकार यह सफ़ाई इसके पाँच महीने बाद ही देने बैठ गयी। दूसरे, मार्शल योजना का उद्देश्य योरप को मशीनें भेजना नहीं था। अप्रैल, १९४८ और दिसम्बर, १९५० के बीच, मार्शल योजना के मातहत जितना सामान योरप गया, मशीनें उसमें १० प्रतिशत भी नहीं थीं।

भारत को यदि अमरीका से मशीनें नहीं मिलीं, तो इसका कारण न तो यह था कि अमरीका के पास मशीनें नहीं थीं और न यह था कि भारत उनके दाम नहीं दे पाता। विक्टर पर्लो ने, जो पहले सरकारी अर्थशास्त्री थे, अपनी पुस्तक "अमरीकी साम्राज्यवाद" में लिखा है :

> "युद्ध काल में अमरीका के मशीन बनानेवाले कारख़ाने अपना उत्पादन जितना बढ़ा पाये थे, युद्ध के बाद उससे सदा बहुत कम मशीनें वे तैयार करते रहे हैं। इस काल में विदेशों के आर्डर को पूरा करना बहुत आसान था।" (पृष्ठ १०८)

और १९४९ में तो विदेशी आर्डरों का उन्हें और भी स्वागत करना चाहिये था, क्योंकि उस वर्ष स्वयं अमरीका के अन्दर मशीनों की मांग अकस्मात बहुत कम हो गयी थी।

युद्ध समाप्त होने के बाद से ही भारतीय अधिकारी और व्यापारी अमरीकी बाज़ार में मशीनें ख़रीदने का प्रयत्न कर रहे हैं। और उनको सदा असफलता ही प्राप्त हुई है। जैसा कि **हिन्दुस्तान टाइम्स** के एक सम्वाददाता ने जुलाई १९४८ में यह लिखा था कि अमरीकी कम्पनियाँ सीमेण्ट मिलाने, खेती करने और छापने की मशीनों तक के लिये हिन्दुस्तानी ख़रीदारों को दो-दो तीन-तीन साल तक इन्तज़ार करने को कहती थीं। जिन मशीनों के निर्यात पर कण्ट्रोल था, उनके लिये बार-बार दरख़ास्तें देने पर भी अमरीकी सरकार सिर्फ़ नाममात्र का कोटा हिन्दुस्तानियों को देती थी। और यह कोटा भी बेकार होता था क्योंकि भारतीय व्यापारियों को ये मशीनें केवल चोर बाज़ार में मिलती थीं और अमरीकी व्यापार विभाग सरकारी भाव से अधिक दामों पर निर्यात की बिलकुल इजाज़त न देता था।

जब भारत सरकार ने अमरीका में ६ लाख टन इस्पात खरीदने की चेष्टा की तो पहले तो अमरीकी सरकार ने उसे घटा कर २ लाख टन कर दिया और फिर उसमें से भी केवल ६० हज़ार टन दिये। भारत सरकार के उद्योग मंत्री ने इस बारे में जून १९४८ में कहा :

"...उन्नत औद्योगिक देश शुद्ध आर्थिक हितों को उतना महत्त्व नहीं देते जितना वे राजनीतिक कारणों को देते हैं।"

इसी प्रकार यह तर्क भी निराधार है कि हिन्दुस्तान के पास मशीनें खरीदने के लिये पर्याप्त डालर नहीं थे। यह सही है कि अंग्रेज़ों की तिकड़मों के कारण हिन्दुस्तान के पास डालर सीमित मात्रा में ही रहे हैं। परन्तु, साथ ही यह भी सच है कि युद्ध के समाप्त होने के बाद भारत के पास अतिरिक्त डालर जमा थे और युद्ध के बाद भारत पहले से कहीं अधिक मात्रा में अमरीका को निर्यात करने लगा है। डालरों की मौजूदा कमी दो कारणों से है। एक तो भारत को अपने डालर, मशीनों की बजाय दूसरी चीज़ों को ख़रीदने पर ख़र्च करने पड़ रहे हैं। दूसरे यह कि अमरीकी सरकार ने अपने देश में आनेवाले विदेशी माल पर तरह-तरह के बंधन लगा कर दूसरे सभी देशों के लिये कठिनाई पैदा कर दी है।

१९४६ तक भारत सदा अमरीका को माल अधिक भेजता था और वहाँ से मंगाता कम था और इसलिये हर साल कुछ डालर कमा लेता था। किन्तु, १९४७ से आयात, निर्यात से बहुत बढ़ गया है जो नीचे के आँकड़ों से स्पष्ट है, और इसलिये व्यापार का संतुलन भारत के प्रतिकूल हो गया है :

अमरीका के साथ व्यापार में भारत का मुनाफ़ा या घाटा

(लाख डालरों में)

१९४६	..	+५६७	१९४९	..	−१४४
१९४७	..	−१४७३	१९५०	..	+४२५
१९४८	..	−३३०	१९५१*	..	−१०८१

*(जनवरी से नवम्बर तक)

(ये आँकड़े अमरीकी सरकार के व्यापार विभाग के प्रकाशन, "स्टैटिस्टिकल ऐब्सट्रैक्ट ऑफ़ दि युनाइटेड स्टेट्स" १९५१ और "इण्टरनेशनल ट्रेड स्टैटिस्टिकल सीरीज़," जनवरी १९५२ से लिये गये हैं।)

इसके अतिरिक्त, कुछ दूसरी मदों में भी भारत को हर साल बहुत से डालर अमरीका को देने पड़ते हैं—जैसे सफ़र खर्च, माल का ढोना, बीमा और हिन्दुस्तान में लगी हुई पूंजी पर होनेवाला मुनाफ़ा।

पाकिस्तान की स्थिति भारत से बहुत भिन्न नहीं है, यद्यपि वहाँ की सरकार असली हालत पर पर्दा डालने की बहुत कोशिश करती है।

परन्तु, कोरिया की लड़ाई के शुरू होने के बाद कच्चे मालों के दामों में जो बढ़ती हुई और अमरीका से आनेवाले सामान में जो कमी हो गयी, उनके कारण पाकिस्तान की स्थिति कुछ सुधर गयी।

अमरीका के साथ व्यापार में पाकिस्तान का मुनाफ़ा या घाटा

(लाख डालरों में)

१९४८ ...	... + ९१
१९४९ ...	... − १७९
१९५० ...	... − २१
१९५१ (जनवरी से नवम्बर तक)	... + ९७

(ये आँकड़े भी अमरीकी व्यापार विभाग के उन्हीं प्रकाशनों से लिये गये हैं जिनसे भारतीय व्यापार के आँकड़े लिये गये थे।)

व्यापार में घाटा न हो, इस उद्देश्य से भारत और पाकिस्तान ने कई बार अमरीका से आनेवाले आयात पर प्रतिबंध लगाया। भारत ने अमरीका में अपना निर्यात बढ़ाने के उद्देश्य से रुपये का मूल्य कम कर दिया। वास्तव में, यह कार्रवाई अमरीकी दबाव के कारण ही की गयी थी। अमरीका के अर्थ मंत्री ने ब्रिटिश सरकार को पौण्ड का मूल्य कम करने का हुक्म दिया। भारत ने ब्रिटेन का अनुसरण किया। परन्तु रुपये का मूल्य कम करने से डालरों की कमी पूरी नहीं हुई। १९५० में अमरीकी आयात में सख़्ती से कमी करने पर ही स्थिति में कुछ सुधार हुआ। परन्तु १९५१ में भारत को फिर घाटा रहा और अन्न के आयात के बढ़ने के कारण १९५२ में तो और भी अधिक घाटा रहने की आशंका है।

डालर समस्या को हल करने के उद्देश्य से ही भारत और अमरीका ने जून १९४८ में एक चुंगी सम्बंधी समझौते पर दस्तखत किया था। यह

1589

समझौता "चुंगी और व्यापार से सम्बंधित जेनेवा वाले समझौते" के मातहत किया गया था। इसके द्वारा भारत ने ४ वस्तुओं पर, ब्रिटिश साम्राज्य के बने माल पर कम चुंगी लगानेवाली व्यवस्था, भंग कर दी और सोलह वस्तुओं पर अमरीका के हित में चुंगी की दर में परिवर्तन कर दिया। परन्तु परिणाम आशा के बिलकुल विपरीत हुआ। ६ जून, १९४८ को **न्यू यॉर्क टाइम्स** ने लिखा कि १९३८–३९ के व्यापार के आँकड़ों के आधार पर यदि हिसाब लगाया जाय तो चुंगी की नयी दरों के कारण भारत को प्रति वर्ष लगभग दस लाख डालर का नुक़सान होगा। परन्तु, १९४८–४९ में व्यापार भी पहले से बहुत बढ़ गया था और अमरीका से आनेवाली वस्तुओं का मूल्य भारत से जानेवाली वस्तुओं से बहुत अधिक हो गया था। इसलिये, वास्तव में, नयी दरों से करोड़ों डालर का वार्षिक नुक़सान हो रहा था।

भारत-अमरीकी व्यापार का परिणाम

भारत-अमरीकी व्यापार के इस संक्षिप्त सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि:

१. इस व्यापार से भारत के *औद्योगीकरण* में कोई मदद नहीं मिली, क्योंकि अमरीका ने उसे मशीनें नहीं दीं;

२. यह व्यापार असमानता के आधार पर होता रहा है जिससे भारत के लिये गंभीर आर्थिक कठिनाइयाँ पैदा होती रही हैं; और

३. अमरीका चूंकि भारत से बाहर जानेवाली वस्तुओं का मुख्य खरीदार है, इसलिये वह हिन्दुस्तान पर इस क़दर दबाव डाल सकता है जिससे कि व्यापारिक संकट पैदा हो जाना सम्भव है और जो बढ़कर देशव्यापी आर्थिक संकट का रूप धारण कर सकता है।

एक चौथी विशेषता और भी है जो इस व्यापार के सम्बंध में महत्व रखती है।

भारत के व्यापार पर, दूसरे औपनिवेशिक एवं अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों की भांति, पहले महायुद्ध के पहले तक अंग्रेजों का एकाधिकार था। बाद में अमरीका, जापान और जर्मन जैसे दूसरे उन्नत देशों ने भी घुसना शुरू किया। वैदेशिक व्यापार द्वारा इन चन्द देशों से बंधे रहने के कारण हिन्दुस्तान भी

उन तमाम आर्थिक संकटों की लपेट में आता रहा है जो इस शताब्दी में संसार में आये हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलन से आशा पैदा हुई थी कि जब हिन्दुस्तान की अपनी सरकार बन जायेगी तो व्यापार पर विदेशी नियंत्रण भी खतम हो जायगा और बाहरी दुनिया में बार-बार आनेवाले आर्थिक संकटों से भारत की रक्षा हो सकेगी। परन्तु यह आशा पूरी नहीं हुई। व्यापार में एकमात्र परिवर्तन बस यही हुआ कि अंग्रेजों और अमरीकावालों के बीच होड़ खूब चलने लगी। जर्मनी और जापान भी अब फिर मैदान में आ रहे हैं, पर वास्तव में वे दोनों भी अमरीका के ही नियंत्रण में हैं। जाहिर है कि अमरीका के हाथ में हमारे व्यापार के जाने से भारतीय अर्थ-व्यवस्था की रक्षा नहीं होती, क्योंकि यह बात सबों को मालूम है कि पिछले वर्षों में सभी आर्थिक संकट अमरीका से ही आरम्भ हुए थे।

प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री डॉक्टर ज्ञानचन्द ने हाल में कहा था कि भारतीय व्यापार की वर्तमान प्रवृत्ति और रचना ऐसी है कि हमारे आर्थिक सम्बंध लाजिमी तौर पर बहुत ही ढुलमुल और अस्थायी रहेंगे। कारण कि हमारा व्यापार मुख्यतः ब्रिटेन और अमरीका पर निर्भर करता है और भारत की अर्थ-व्यवस्था के दूसरे अंगों की तुलना में व्यापार पर विदेशी स्वार्थों का अधिक दृढ़ एकाधिकार है।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था को और संतुलित तथा दृढ़ बनाने का एक ही उपाय है। वह उपाय यह है कि हमें ऐसे देशों के साथ व्यापार बढ़ाना चाहिये जिनकी अर्थ-व्यवस्था को कभी आर्थिक संकटों की बीमारी नहीं होती। इसके लिये सोवियत संघ, चीन और पूर्वी योरप के देशों से दीर्घकालीन व्यापारिक समझौते करने चाहिये। परन्तु हालत यह है कि १९४९-५० में इन सभी देशों के साथ हमारा व्यापार, हमारे कुल वैदेशिक व्यापार का मुश्किल से ३ प्रतिशत भी नहीं था।

देशवासियों को इस स्थिति पर गंभीरता से विचार करना चाहिये।

चौथा अध्याय

अमरीकी पूंजी की भारत से मांग

जब अमरीका से मशीनें नहीं मिलीं और वैदेशिक व्यापार में भारी घाटा होने लगा तो अनेक हिन्दुस्तानी अफ़सर और व्यापारी इस नतीजे पर पहुँचे कि अब एकमात्र उपाय यह है कि अमरीका को किसी तरह समझा-बुझा कर भारत को आर्थिक मदद देने और अपनी पूंजी यहां लगाने के लिये तैयार करना चाहिये। इन महाशयों को आशा थी कि अमरीकी पूंजी मशीनों और मशीन चलानेवाले विशेषज्ञों के रूप में आयेगी। इस प्रकार, जो लोग कभी विदेशी पूंजी के आने का विरोध किया करते थे और समझते थे कि उससे देश की आर्थिक व्यवस्था का विकास नहीं हो सकेगा, वे ही अब धीरे-धीरे इस नतीजे पर पहुँच गये कि भारत की आर्थिक व्यवस्था के विकास की तो बात दूर रही, उसकी पुनर्स्थापना भी अमरीकी पूंजी के बिना असम्भव है। भारत सरकार के योजना कमीशन ने भारत की आर्थिक उन्नति की जो योजना बनायी है, उसमें एक-तिहाई पूंजी विदेशों से मंगाने की बात कही गयी है।

भारत के व्यापारिक और राजनीतिक नेताओं के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन युद्ध के अन्तिम दिनों में ही आना शुरू हो गया था। उस समय तक कांग्रेस की, और व्यापारी वर्ग के प्रमुख अंगों की नीति का आधार राष्ट्रीय योजना समिति का प्रस्ताव था। यह समिति कांग्रेस ने बनायी थी। स्वयं पं. नेहरू उसके अध्यक्ष थे और देश के बड़े-बड़े उद्योगपति उसके सदस्य थे। उसके प्रस्ताव में कहा गया था कि:

> "जब से अंग्रेज़ों का राज्य क़ायम हुआ है, तब से इतनी अधिक विदेशी पूंजी भारत की खेती, खानों और कल-कारख़ानों में लग चुकी है कि अब भारत के आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन पर काफ़ी हद तक विदेशी स्वार्थों का नियंत्रण क़ायम हो गया है। इस नियंत्रण से हमारे राष्ट्रीय विकास को क्षति पहुँची है और वह

रुक सा गया है।...जरूरी है कि ऐसे विदेशी स्वार्थों को, जो भारत के कुछ महत्वपूर्ण उद्योगों पर प्रभुत्व जमाये हुए हैं—और विशेषकर जिनका सम्बंध कम पाये जानेवाले प्राकृतिक साधनों से है—उनको राज्य उचित मुआवज़ा देकर अपने अधिकार में ले ले।"

राष्ट्रीय योजना समिति की एक उप-समिति ने यह मत प्रकट किया था कि :

"यदि राष्ट्रीय योजना के मातहत बनाये जाने वाले किसी उद्योग में विदेशी पूंजी लगाना बिल्कुल लाज़िमी हो जाय, तो इसकी मंजूरी ऐसी शर्तों के साथ देनी चाहिये ताकि विदेशी पूंजी का प्रभाव कम से कम रहे। इसके अतिरिक्त, ऐसे सभी उद्योगों, और कम्पनियों पर, जो इस योजना के मातहत बनी हों और जिनमें पूर्ण अथवा आंशिक रूप से विदेशी पूंजी लगी हो—ऐसे सभी उद्योगों की नीति एवं व्यवस्था पर सरकार का नियंत्रण रहना चाहिये।"

देश के बड़े-बड़े व्यापारियों ने १९४४ में ही इस नीति को तिलांजलि दे दी थी, जब उन्होंने बम्बई योजना बनायी थी। इस योजना में ७०० करोड़ रुपये की पूंजी बाहर से मंगाने की बात कही गयी थी। योजना प्रकाशित होने के बाद बड़े-बड़े भारतीय पूंजीपति ब्रिटेन और अमरीका की यात्रा आये। उन्होंने विदेशी पूंजी को संयुक्त कम्पनियों के रूप में भारत में आने के लिये निमंत्रण दिया और खुशामदें कीं। श्री मनु सूबेदार के शब्दों में, इस प्रकार भारतीय एवं विदेशी पूंजी के अनैतिक विवाह की तैयारी हो रही थी। बड़े व्यापारियों की ओर से कहा जाने लगा कि "विदेशी विशेषज्ञों व पूंजीपतियों का सहयोग लेने पर कम ख़र्च में" देश का औद्योगीकरण हो जायगा।

परन्तु ब्रिटेन और अमरीका के एकाधिकारी पूंजीपति आसानी से माननेवाले नहीं थे। उनकी अपनी शर्तें थीं। अंग्रेज़ तो केवल भारी मुनाफ़ों से ही संतुष्ट हो जाते, परन्तु अमरीकी पूंजीपति भारी मुनाफ़ों के साथ-साथ उद्योग-धंधों की प्रत्येक शाखा पर अपना पूर्ण नियंत्रण जमाना चाहते थे।

ये बातचीतें चल ही रही थीं कि कांग्रेस के नेता भारत की अन्तरिम सरकार में सम्मिलित हो गये। इस सरकार ने एक योजना सलाहकार बोर्ड बनाया। उसने दिसम्बर १९४६ में नयी सरकार की नीति का ऐलान किया,

जिसमें विदेशी पूंजीपतियों को कुछ सुविधाएँ तो दी गयी थीं, पर उनकी मनमानी शर्तों का विरोध किया गया था। बोर्ड ने कहा कि उद्योग-धंधों में सीधे विदेशी पूंजी नहीं लगायी जायगी और विशेषज्ञों को कोई विशेष अधिकार नहीं दिये जायेंगे। बोर्ड की रिपोर्ट में कहा गया था कि कुछ विशेष प्रकार के उद्योगों में आवश्यक हो सकता है कि एक निश्चित काल के लिये उनकी व्यवस्था विदेशी हाथों में छोड़ दी जाय। परन्तु ऐसे उद्योगों में विदेशी पूंजी के लगने के बाद भी "नियंत्रण भारतीय हाथों में ही रखा जायगा।" साथ ही, सरकार यह शर्त भी लगा देगी कि उद्योग की सभी शाखाओं के सभी पदों को संभालने के लिये भारतीयों को शिक्षा देने की व्यवस्था की जाय ताकि विदेशी कम्पनी के साथ "समझौते की मियाद खतम होने पर पूरी व्यवस्था को भारतीय अपने हाथ में ले सकें...।" बोर्ड ने आगे कहा था :

"हमारी यह राय है कि भारतीय उद्योग-धंधों में विदेशी कम्पनियों को नहीं घुसने देना चाहिये। देश के बुनियादी उद्योगों को विदेशी नियंत्रण से मुक्त रखना चाहिये और यह क्यों आवश्यक है, यह सभी जानते हैं। परन्तु, दूसरे उद्योगों पर भी, जैसे कि रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीजें बनानेवाले कारखानों पर भी यह बंधन लगाना (यानी विदेशी नियंत्रण नहीं होने देना—अनु०) आवश्यक है। उद्योग-धंधों की जिन शाखाओं में अभी भारतीयों ने प्रवेश नहीं किया है, उनमें यदि विदेशी कम्पनियों को पैर जमा लेने का अवसर मिला...तो फिर, हमारी राय में, इन शाखाओं में भविष्य में भी भारतीय कभी कुछ नहीं कर पायेंगे। किसी ने कोशिश भी की तो उसे विदेशी कम्पनियों के प्रबल यांत्रिक एवं आर्थिक साधनों के कारण बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। हमारी दृष्टि में, यह बेहतर होगा कि जिन वस्तुओं को हम अभी तैयार नहीं कर सकते हैं, उन्हें अभी हम बाहर से ही मंगाते रहें। विदेशी फ़र्मों को इन वस्तुओं को यहाँ तैयार करने की इजाज़त देने से यह ज़्यादा अच्छा होगा। कारण कि विदेशों से आनेवाले माल को तो कुछ दिन बाद हम कम कर सकेंगे या रोक सकेंगे, परन्तु यदि विदेशी स्वार्थ एक बार यहाँ जम गये तो उनको हटाना मुश्किल हो जायगा।"

अर्थात अभी सरकार के मुंह से राष्ट्रीय पूंजीपति ही बोल रहे थे, जो भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर विदेशी एकाधिकारी पूंजीपतियों का प्रभुत्व जम

जाने के खिलाफ़ थे। परन्तु धीरे-धीरे उनकी आवाज धीमी पड़ती गयी। भारत और विदेशों के बड़े पूंजीपतियों के दोहरे दवाव ने अन्त में इस आवाज को एकदम दवा सा दिया।

१९४७ में भारत का उत्पादन एकबारगी वहुत कम हो गया। अपने वादों को पूरा करना तो दूर रहा, नयी सरकार जनता के जीवन स्तर को नीचे गिरने से भी न वचा सकी। उसने अमरीकी सरकार के सामने हाथ फैलाना शुरू किया। अमरीकी पूंजीपतियों की ओर से और दवाव पड़ा। उन्होंने साधारण व्यापारिक शर्तों पर भारत को मशीनें देने से इनकार कर दिया और धमकी दी कि यदि भारत ने आर्थिक नीति में परिवर्तन नहीं किया तो क़र्ज़ भी न मिलेगा।

विदेशी पूंजी का भारत सरकार द्वारा स्वागत

भारत सरकार अमरीकी सरकार से कर्ज़ पाने की आस लगाये हुए थी। अमरीकावालों ने उस पर जोर डालना शुरू किया कि सरकारी कर्ज़ की आशा छोड़ कर विदेशी पूंजी का स्वागत करने के लिये भारत सरकार तैयार हो। इस काम में उन्हें विड़ला और टाटा जैसे बड़े पूंजीपतियों से मदद मिलने की पूरी उम्मीद थी, क्योंकि वे लोग पहले से ही विदेशी पूंजीपतियों के साथ गठवंधन कर चुके थे। भारत के छोटे पूंजीपतियों की मदद पाने के लिये उन्होंने एक तो उन पर बड़े पूंजीपतियों से जोर डलवाया, दूसरे भारत सरकार से मांग की कि मजदूरों तथा आम खरीदारों की जेव काट कर पूंजीपतियों की जेव भरनेवाली औद्योगिक नीति पर सरकार अमल करे।

अमरीकी पूंजीपतियों के प्रधान वक्ता का काम स्वयं राजदूत हेनरी ग्रेडी कर रहा था। वह देश भर में दौरा कर रहा था और जगह जगह भाषण और वयान देकर कह रहा था कि भारत को अपनी आर्थिक नीति वदलनी चाहिये और अमरीकी पूंजीपतियों को सुविधाएँ देनी चाहिये। अप्रैल, १९४७ में उसने कहा कि विदेशी कम्पनियों को जिन वाधाओं का सामना करना पड़ता है, उन्हें तुरन्त दूर करना चाहिये—उदाहरण के लिये भारत की "पेचीदा टैक्स व्यवस्था" में सुधार होना चाहिये। अगस्त में, उसने वम्वई में ऐलान किया कि अमरीकी पूंजी यहां भारतीय शर्तों पर नहीं आयेगी। नवम्बर में, कलकत्ता के भाषण में उसने धमकी दी कि जव तक राष्ट्रीकरण की वातें वन्द नहीं होंगी, तव तक अमरीका से क़र्ज़ नहीं मिलेगा।

इन धमकियों का असर पड़ा और १५ दिसम्बर, १९४७ को पं. नेहरू ने कलकत्ता में एसोसियेटेड चैम्बर्स ऑफ कौमर्स के सामने बोलते हुए ऐलान किया कि उनकी सरकार "विदेशी पूंजी और टेकनिकल सहायता का स्वागत करेगी।" उधर अमरीकी सरकार के व्यापार विभाग ने अमरीकी पूंजीपतियों को यह आश्वासन दिया कि :

"यद्यपि, १९४७ में (भारत में) उद्योगों का राष्ट्रीकरण करने तथा विदेशी निजी (प्राइवेट) पूंजी पर नियंत्रण लगाने के पक्ष मे प्रचार होता रहा, फिर भी वर्ष के अन्तिम तीन महीनों में सरकार ने प्राइवेट पूंजी के प्रति, और किसी क़दर विदेशी पूंजी के प्रति, समझौते का रुख़ दिखाया है।...

"हाल में खान और शक्ति विभाग के मंत्री ने विदेशी पूंजी तथा टेकनिकल सहायता की आवश्यकता स्वीकार की है। उन्होंने कहा कि वह जानते हैं कि कुछ हल्कों में विदेशी पूंजी और टेकनिकल सहायता के उपयोग करने के विरुद्ध कुछ मिथ्या धारणाएँ हैं। 'इन धारणाओं का १५ अगस्त के पहले तो कुछ औचित्य था पर अब बिल्कुल नहीं है, क्योंकि अब तो हम आज़ाद हो गये हैं, और जो भी विदेशी विशेषज्ञ या पूंजी अब यहाँ आयेगी वह पूरी तरह हमारे नियंत्रण में रहेगी और हमारी शर्तों पर आयेगी।' प्रधान मंत्री नेहरू ने भी अपने एक हाल के बयान में विदेशी पूंजी की सहायता मांगने की आवश्यकता का ज़िक्र किया और इशारा किया है कि सरकार ऐसा करने को राज़ी है।

"आस्ट्रेलिया के प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री और राष्ट्रीय आय के विशेषज्ञ, प्रोफ़ेसर कोलिन क्लार्क ने हिसाब लगाया है कि भारत को अपनी वास्तविक आय में प्रति वर्ष २ प्रतिशत बढ़ती के लिये, लड़ाई के पहले के डालरों में हर साल ५.०० करोड़ की विदेशी पूंजी मंगानी पड़ेगी।" ('इकोनोमिक रिव्यू ऑफ इंडिया,' १९४७—जुलाई १९४८)

इस प्रकार, माउण्टबेटन फ़ैसला मिलने के चन्द हफ़्ते के अन्दर ही राष्ट्रीय आन्दोलन के एक आधारभूत सिद्धान्त को एक "मिथ्या धारणा" क़रार दे दे दिया गया। सुझाव पेश होने लगे कि अंग्रेज़ों ने सौ साल में भारत में अपनी जितनी पूंजी लगायी थी, उससे अधिक पूंजी हर साल

विदेशों से मंगानी चाहिये। और कुछ दिन बाद पता चला कि यह "हमारी शर्तों" की बातें भी कोरी बातें ही थीं, क्योंकि शीघ्र ही अमरीकी शर्तों को मंजूर करने की तैयारियाँ भी होने लग गयी थीं।

इस पहली विजय के बाद अमरीकी पूंजीपति आगे बढ़े। विदेशी पूंजी का आम तौरपर स्वागत होने लगा तो उन्होंने अपने लिये और अधिक अधिकारों की मांग करना शुरु किया।

नवम्बर १९४७ में ही राजदूत ग्रेडी ने फ़रमाया था कि अमरीकी पूंजीपतियों को यह जानने की चिन्ता है कि मजदूरों तथा प्राइवेट पूंजी के प्रति भारत सरकार की साफ़-साफ़ क्या नीति रहेगी। अमरीका के कुछ भारतीय मित्रों ने, जैसे बंगाल के प्रधान मंत्री डॉक्टर विधानचन्द राय ने, इस सवाल को और भी साफ़ कर दिया। अमरीका के दौरे से लौटने के बाद डा० राय ने १० दिसम्बर को कलकत्ता में 'ईस्टर्न चैम्बर ऑफ़ कौमर्स' के सामने कहा कि :

> "जहाँ तक मैं अपने दौरे से समझ सका, वे लोग (अमरीकावाले) धन-जन से हमारी सहायता करने को तो उत्सुक हैं, पर शर्त यह है कि उन्हें भारत में कोई खतरा न दिखाई दे। यह खतरा भारत और पाकिस्तान के आपसी झगड़े के कारण नहीं, बल्कि भारत सरकार की औद्योगिक नीति के कारण उन्हें दिखाई देता है। औद्योगिक नीति से मेरा मतलब राष्ट्रीकरण की नीति और मजदूरों-मालिकों के झगड़ों को सुलझाने के सरकारी ढंग से है।"

३० अप्रैल १९४८ को, सत्रह अमरीकी पूंजीपतियों के एक दल ने दुनिया भर का दौरा करने के बाद न्यू यौर्क में कहा :

> "हमारे विचार में (पूंजी लगाने का) सबसे अच्छा अवसर भारत में है क्योंकि वह सब से धनी देश है। वहां सिर्फ़ एक ही सवाल है। वह है शान्ति और व्यवस्था क़ायम रखने का सवाल जो विदेशी पूंजी लगाने के बाद बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है।"

अमरीकी पूंजी की बुनियादी शर्तें साफ़ थीं: राष्ट्रीकरण का विचार छोड़ो, मजदूरों को सुविधाएँ देना बन्द करो, हड़तालें रोको, और पूंजीपतियों को नये अधिकार दो!

भारत सरकार बहुत जल्द झुक गयी। दिसम्बर १९४७ में (मज़दूरों और मालिकों के बीच) एक 'औद्योगिक संधि' की व्यवस्था की गयी। १७ फ़रवरी, १९४८ को पं. नेहरू ने पार्लमेंट में ऐलान किया :

"आर्थिक व्यवस्था में यकायक कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा। जहाँ तक सम्भव होगा, वर्तमान उद्योगों का राष्ट्रीकरण नहीं होगा।"

मार्च और अप्रैल में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नेता और कम्युनिस्ट नेता व कार्यकर्ता नज़रबन्दी क़ानून के मातहत पकड़कर जेलों में डाल दिये गये। उत्पादन बढ़ाने के बहाने, मज़दूरों की मांगों का सरकार विरोध करने लगी। जब विदेशी कम्पनियों के मज़दूर हड़तालें करते थे, तो उनके ख़िलाफ़ विशेष रूप से हिंसा का प्रयोग किया जाता था। इस दमन के पीछे अमरीका को खुश करने की भी ख़ाहिश थी। इसका सबूत **न्यू यॉर्क टाइम्स** का वह समाचार है जो उसने १ अप्रैल, १९४८ के अंक में बंगाल की विधान राय सरकार द्वारा ४०० कम्युनिस्टों को गिरफ़्तार करने तथा कम्युनिस्ट पार्टी को ग़ैर-क़ानूनी क़रार देने के बाद छापा था। समाचार इस प्रकार था :

"हाल में जो हिंसापूर्ण उपद्रव हुए हैं, उनके पीछे कम्युनिस्टों का प्रचार मालूम होता है।...नेशनल कारबन कम्पनी की, जो एक अमरीकी कम्पनी है, कलकत्ता वाले कारखाने में जो गड़बड़ हुई थी, उसके पीछे भी यही बात थी....

"अमरीका का जो अतिरिक्त फ़ौजी सामान वहाँ रह गया है, उसकी व्यवस्था करनेवाले (केन्द्रीय सरकार के) विभाग के ४,५०० कर्मचारी भी हड़ताल पर हैं।"

६ अप्रैल, १९४८ को अमरीका की मांगें सरकारी तौरपर मान ली गयीं। उस रोज पार्लमेंट ने औद्योगिक नीति पर एक प्रस्ताव पास किया। उससे यह स्पष्ट था कि वह प्रस्ताव अमरीकी पूंजीपतियों को खुश करने के लिये पास किया गया था। इस प्रस्ताव के मातहत सरकार का स्वामित्व उद्योग के केवल तीन क्षेत्रों तक सीमित कर दिया गया : अस्त्र-शस्त्र बनाने के कारख़ाने, रेलवे, और (एटम) अणु-शक्ति। यह सभी को मालूम है कि पहले दो क्षेत्रों पर अंग्रेज़ों के काल में भी सरकार का स्वामित्व था। बिजली के

उद्योग को सरकार के नियंत्रण में रखने की बात भी कही गयी। लेकिन, बाकी सभी क्षेत्रों को पूंजीपतियों के लिये खुला छोड़ दिया गया। ऐलान किया गया कि अगले दस साल तक किसी उद्योग का राष्ट्रीकरण नहीं किया जायगा।

सरकार ने इस प्रस्ताव के द्वारा विदेशी पूंजी को निमंत्रण दिया और शर्त सिर्फ़ यह लगायी कि "साधारण रूप से, स्वामित्व और नियंत्रण प्रधानतः भारतीय हाथों में रहेंगे।" परन्तु, साथ ही यह भी जोड़ दिया गया कि सरकार को यह अधिकार रहेगा कि खास मामलों में वह जैसा देश के हित में समझेगी, वैसा करेगी। प्रस्ताव की व्याख्या करते हुए एक सरकारी स्मृतिपत्र में बताया गया था :

> "प्रस्ताव में भारतीय उद्योग-धंधों में विदेशी पूंजी को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की गयी है। इसके साथ-साथ देश के हित में उस पर नियंत्रण रखने की भी व्यवस्था कर ली गयी है। प्रस्ताव के इस अंश से जाहिर होता है कि भारत सरकार अब पूंजी और व्यवस्था तथा टेकनिकल शिक्षा, दोनों ही क्षेत्रों में विदेशी सहायता की आवश्यकता स्वीकार करती है और भारतीय उद्योगों की मदद के वास्ते विदेशी पूंजी एवं विशेषज्ञों को यहाँ बुलाने को दूरन्देशी और बुद्धिमानी का काम समझती है।"

पाकिस्तान में मुस्लिम लीगी सरकार के सबसे पहले कामों में से एक यह भी था कि उसने अमरीका को काफ़ी बड़ी आर्थिक सुविधाएँ दे दीं। पाकिस्तान को बने अभी दो महीने भी नहीं हुए थे कि १२ अक्तूबर, १९४७ को **न्यू यौर्क टाइम्स** के कराँची संवाददाता ने लिखा :

> "पाकिस्तान और अमरीका के भावी सम्बंधों पर विचार प्रकट करते हुए एक जिम्मेदार सरकारी अधिकारी ने बताया कि यह बात महत्व से खाली नहीं है कि किसी राजनीतिज्ञ अथवा बड़े सरकारी कर्मचारी की जगह एम. ए. इस्फहानी जैसे एक बड़े व्यवसायी को वाशिंगटन में राजदूत पद के लिये चुना गया है। अमरीका में पाकिस्तान का इस समय जो काम है, उसमें सबसे अधिक महत्व का काम व्यवसायिक सम्पर्क है।
>
> "बलूचिस्तान और कलात में अमरीकी कम्पनियों को तेल निकालने की सुविधाएँ देने के बारे में विचार हो रहा है।...उत्तरी पश्चिमी

सीमाप्रान्त में तेल निकालने और खनिज पदार्थों का विकास करने तथा सिंचाई की बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित करने के बारे में भी कहा जाता है कि अमरीकी क्षेत्रों से बातचीत शुरू की गयी है।

"पाकिस्तान के अर्थ मंत्री गुलाम मुहम्मद ने कहा है कि अपने राष्ट्रीय विकास के इस बाल्य-काल में पाकिस्तान को निश्चय ही अमरीकी कारीगरों और इंजीनियरों की आवश्यकता है।...

"एक दूसरे सूत्र से मालूम हुआ है कि चटगाँव के विकास में अमरीकी पूंजी से मदद ली जाने वाली है...सूचना देने वाले की राय थी कि अमरीका को एक मित्र जहाजी अड्डे के रूप में चटगाँव में खासी दिलचस्पी होगी।"

२? अप्रैल १९४८ को पाकिस्तान सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति का ऐलान किया। उसने देशी पूंजी, और नये उद्योगों में आनेवाली विदेशी पूंजी दोनों को कर आदि के सम्बंध में कई बड़ी-बड़ी सुविधाएँ दे दी। ऐसे उद्योगों की संख्या बहुत कम कर दी जिनका भविष्य में कभी राष्ट्रीकरण किया जा सकेगा। विदेशी पूंजी का हार्दिक स्वागत किया गया। उस पर शर्तें केवल तीन लगायी गयीं: (१) पाकिस्तानियों को नौकर रखा जायगा और उनकी टेकनिकल शिक्षा का इन्तज़ाम किया जायगा; (२) विदेशी कम्पनियाँ पाकिस्तान में अपनी मातहती में जो व्यापार करनेवाली कम्पनियाँ खोलेंगी वे सब सरकार के यहाँ अपने को रजिस्टर्ड करायेंगी; और (३) कुछ उद्योगों में पाकिस्तानियों को ५१% तक पूंजी लगाने का अधिकार रहेगा और कुछ में ३० प्रतिशत तक।

पाकिस्तानियों को शिक्षा देने की बात कितनी खोखली है, यह ईरान में ईरानियन ऑयल कम्पनी के अनुभव से साबित हो चुकी है। दूसरी शर्त केवल व्यापार करनेवाली कम्पनियों तक सीमित थी। औद्योगिक कम्पनियों पर वह लागू नहीं होती थी। तीसरी शर्त के साथ यह जोड़ दिया गया था कि यदि देशी पूंजी न मिलती हो, तो सरकार और भी अधिक विदेशी पूंजी के आने की इजाज़त दे सकती है।

इस तरह भारत और पाकिस्तान दोनों में अमरीकी पूंजीपतियों के स्वागत में ये लोग मालाएँ लेकर खड़े हो गये। गुलाम देशों से साम्राज्यवादी

देश जितनी सुविधाएँ वसूल कर सकता है, उन सब को अमरीका ने हासिल कर लिया है। केवल एक बंधन बचा—वह यह कि कुछ उद्योगों में ५१ प्रतिशत पूंजी देशी होगी। परन्तु, असल में इससे कुछ बनने-बिगड़ने वाला न था, क्योंकि विदेशी पूंजीपतियों को दोनों देशों में आसानी से जाली साझीदार मिल सकते थे। १५ अप्रैल १९४८ के अंक में **कैपिटल** ने लिखा था :

> "यह समझने का कोई कारण नहीं है कि इस नियम के कारण कम्पनियों का नियंत्रण विदेशी पूंजीपतियों के हाथों से निकल जाने का कोई खतरा है। यदि विदेशी कम्पनी के पास ४९ प्रतिशत हिस्से भी रहे, तब भी उसके पास इतनी वोटें होंगी कि नियंत्रण कभी उसके हाथ से नहीं निकलने पायेगा।"

अमरीका का चार-सूत्री कार्यक्रम

१९४८ के अन्त तक अमरीका भारत सरकार को झुकाने के लिये बराबर दबाव डालता रहा, परन्तु पूंजी या मदद के नाम पर हिन्दुस्तान में कुछ नहीं आया।

१९४९ में अमरीका ने अपनी योजना सामने रखी। यह राष्ट्रपति ट्रूमन का प्रसिद्ध चार-सूत्री कार्यक्रम था। भारत और पाकिस्तान के ऊँचे सरकारी क्षेत्रों में तुरन्त उसके स्वागत में ढोल बजने लगे। दोनों देशों के प्रधान मंत्रियों ने नयी योजना की प्रशंसा की। अमरीका में भारतीय राजदूत श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने तो यहाँ तक कह डाला कि इस योजना से एशिया में कम्युनिज़्म का मुक़ाबला करने में बड़ी मदद मिलेगी।

इस चार-सूत्री कार्यक्रम की असलियत को समझने के लिये पहले प्रचार के कोहरे को छाँटना पड़ेगा।

कहा गया है कि राष्ट्रपति ट्रूमन का यह कार्यक्रम एक "नवीन और साहसी" योजना है। पर वास्तव में यह न तो नवीन है और न साहसी। पिछड़े हुए देशों में चन्द विशेषज्ञ भेज देना कोई साहस की बात नहीं है। ऐसी ही एक योजना १९४२ से दक्षिणी अमरीका में कार्यान्वित हो रही है। उसका परिणाम क्या हुआ है? यही कि तेल के कुँओं, केले के बागानों,

और खानों से अमरीकी पूंजी हर साल करोड़ों का मुनाफ़ा कमाती जा रही है, और दक्षिण अमरीका आज भी उतना ही पिछड़ा हुआ है जितना दस वर्ष पहले था।

दूसरे, यह चार-सूत्री कार्यक्रम एक राजनीतिक योजना है। अमरीकी शासक स्वयं बार-बार यह दावा कर चुके हैं कि यह पिछड़े हुए देशों में कम्युनिज़्म की बाढ़ को रोकने का नुस्ख़ा है। राष्ट्रपति ट्रूमन ने भी जनवरी १९४९ में चार-सूत्री कार्यक्रम की तारीफ़ में कहा था कि उससे "झूठे सिद्धान्तों" को फैलने से रोकने में मदद मिलेगी। इस चार-सूत्री कार्यक्रम के पहले संचालक मि. बेनिक ने उसे "ठण्डे युद्ध का अस्त्र" बताया था।

तीसरे, यह चार-सूत्री कार्यक्रम औद्योगीकरण की योजना नहीं है। उससे सम्बंधित एक सरकारी प्रकाशन में साफ़-साफ़ कहा गया है:

> "ये इलाके (पिछड़े हुए देश) चूंकि आजकल अधिकतर खेतिहर देश हैं और उनके निवासी खाने के लिये अपनी खेती की उपज पर और घरों के लिये अपने जंगलों की पैदावार पर निर्भर करते हैं, इसलिये इन इलाक़ों में जो योजनाएँ चलायी जायें, उनमें खेती और जंगलों की व्यवस्था को सुधारने पर ही अधिक ज़ोर देना चाहिये।" ('चार-सूत्री कार्यक्रम,' पृष्ठ २१)

अमरीका और संयुक्त राष्ट्र संघ की मदद से कार्यान्वित किये जानेवाले चार-सूत्री कार्यक्रम के लिये, अमरीकी सरकार के वैदेशिक विभाग ने पहले साल में ५,७०,८०,००० डालर खर्च करने का प्रस्ताव किया था। उद्योगों के लिये उसमें से केवल ५०,६३,६९४ डालर खर्च होनेवाला था।

जब कभी किसी पिछड़े हुए देश ने तेज़ी से अपना औद्योगीकरण करने का या भारी उद्योगों को बढ़ाने का इरादा ज़ाहिर किया, तभी अमरीका ने नाक-भौं चढ़ा लिया और सलाह दी कि पहले खेती और हलके उद्योगों की ओर ध्यान देना चाहिये।

अमरीकी पूंजीपतियों का भी ऐसा ही रुख है। यह इससे जाना जा सकता है कि १९४६ और १९४९ के बीच विदेशों में उन्होंने किन चीज़ों में पूंजी लगायी है। इस काल में विदेशों में कुल ४ अरब १० करोड़ डालर की

पूंजी लगायी गयी। इसमें से आधे से अधिक तेल के कुँओं में लगायी गयी। सभी प्रकार के उद्योगों में ३० प्रतिशत से भी कम पूंजी लगायी गयी है।

पाकिस्तान सरकार के सामने अमरीका की स्टील एक्सपोर्ट कम्पनी ने जो रिपोर्ट पेश की थी, उससे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अमरीका यह बिलकुल नहीं चाहता कि पिछड़े हुए देशों का औद्योगीकरण हो। कम्पनी ने अपनी रिपोर्ट में "अधिक महत्वाकांक्षी योजनाओं के खिलाफ़ चेतावनी दी।" वह इस परिणाम पर पहुँची कि पाकिस्तान में "इस्पात बनाने के किसी बड़े कारोबार को शुरू करने का कोई ऐसा आधार नहीं है जो आर्थिक या सैनिक दृष्टि से सही हो।" इसलिये, उसने सलाह दी कि पाकिस्तान के लिये "बुद्धिमानी इसी बात में है कि वह अपनी जरूरत का अधिकतर इस्पात विदेशों से मंगाता रहे।"

चौथे, यह चार-सूत्री कार्यक्रम, वास्तव में, उन कच्चे मालों की पैदावार बढ़ाने की योजना है जिनकी अमरीका को सदा जरूरत रहती है। अमरीकी पाक्षिक पत्र **दि रिपोर्टर** ने चार-सूत्री कार्यक्रम के बारे में अपना एक विशेषांक निकाला था। उसमें यह बात इन शब्दों में समझायी गयी थी :

> "आवश्यकता इस बात की है कि कच्चे माल हमें जरूरत के मुताबिक मिलते रहें, पर इसके लिये हमें उन देशों को जीतना या उन पर शासन न करना पड़े जिनमें ये कच्चे माल मिलते हैं।" (२६ अप्रल, १९४९)

चार-सूत्री कार्यक्रम के विषय में राष्ट्रपति ट्रुमन को सलाह देने के लिये एक "अन्तर्राष्ट्रीय विकास सलाहकार बोर्ड" बनाया गया था। उसके अध्यक्ष रौकफ़ेलर ने २१ मार्च १९५१ में एक भाषण देते हुए कहा था :

> "इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये जो पूंजी बाहर जा रही है...वह वास्तव में, देश रक्षा के लिये आवश्यक कच्चे माल में लगायी जा रही है, क्योंकि हमारे उत्पादन के लिये जो बुनियादी सामान चाहिये, वे दूसरे देशों में मिलते हैं।" ('न्यू यौर्क टाइम्स')

रौकफ़ेलर बोर्ड की रिपोर्ट में जो मार्च १९५१ में ही प्रकाशित हुई थी, पिछड़े हुए देशों के उत्पादन में पहला स्थान खाने की चीजों को दिया

गया था। बोर्ड की दूसरी सिफ़ारिश यह थी कि पिछड़े हुए देशों में अगले चन्द वर्षों में २०० करोड़ डालर की प्राइवेट पूंजी इस उद्देश्य को सामने रखकर लगायी जाय कि इन देशों से सैनिक दृष्टि से आवश्यक जो कच्चा माल योरप और अमरीका को आता है, उसमें १०० करोड़ डालर प्रति वर्ष के मूल्य की वृद्धि हो जाय।

अन्त में, यह चार-सूत्री कार्यक्रम बुनियादी तौर पर विदेशों में अधिकाधिक निजी अमरीकी पूंजी लगाने का कार्यक्रम है। जैसा कि अमरीकी सरकार के वैदेशिक विभाग के प्रकाशन की पुस्तिका में कहा गया था:

"...परन्तु, (इस योजना में) विशेष ध्यान विदेशों में पहले से बहुत अधिक अमरीकी प्राइवेट पूंजी भेजने की ओर दिया गया है।" (चार-सूत्री कार्यक्रम, पृष्ठ ४)

वैदेशिक विभाग आगे कहता है कि विदेशों में अधिक पूंजी भेजना:

"इस बात पर निर्भर है कि वे खतरे मिट जायें या कम हो जायें जिनके कारण पूंजी लगाने वाले लोग कई दूसरे देशों में उद्योग-धंधे खोलने या उनमें भाग लेने से घबराते हैं।

"वे चीज़ें जो उन्हें पूंजी लगाने से रोकती हैं, ये हैं: वर्तमान संसार की डुलमुल राजनीतिक परिस्थिति, पूंजी को और मुनाफ़े को विदेशों से हटाने के रास्ते में आनेवाली रुकावटें, बिना मुआवज़ा सम्पत्ति के छिन जाने का खतरा, और विदेशी कम्पनियों पर सरकारों द्वारा लगाये गए तरह-तरह के बंधन।

"इन क्षेत्रों में अधिक राजनीतिक एवं आर्थिक सुरक्षा की परिस्थिति पैदा करने के लिये जो कोशिशें हो रही हैं, उनके द्वारा उपरोक्त खतरों को बहुत कुछ कम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त विदेशी सरकारों के साथ ऐसी दो-पक्षी संधियां करने के लिये बातचीत चल रही है जिनके द्वारा एक-दूसरे को उचित और न्यायपूर्ण व्यवहार का आश्वासन मिलेगा और पूंजी लगानेवाला दुहरे करों के बोझ से मुक्त हो जायगा। इन संधियों से विदेशों में पूंजी लगाने के लिये आवश्यक वातावरण तैयार होगा और पूंजी लगानेवालों के मन में विश्वास पैदा होगा।" (वही पुस्तिका, पृष्ठ ६)

अतः चार-सूत्री कार्यक्रम का सम्बंध "वर्तमान संसार की अस्थिर हालत" से है; और उसका सम्बंध है—ट्रूमन सिद्धान्त, मार्शल योजना, अटलान्टिक गुट, प्रशान्त संधि जैसी अमरीका की सैनिक एवं राजनीतिक योजनाओं से। उसके लिये भी विदेशी सरकारों से विभिन्न प्रकार के आश्वासन पाना आवश्यक होता है ताकि "विदेशों में पूंजी लगाने के लिये आवश्यक वातावरण तैयार हो जाय।"

ये आश्वासन किस प्रकार के होते हैं? इसका कुछ आभास उस बातचीत के दौरान में मिलता है जो नवम्बर १९४७ से भारत और अमरीका के बीच "मित्रता, व्यापार और जहाजरानी की संधि" करने के उद्देश्य से चल रही है। अमरीका ने मांग की कि ब्रिटिश साम्राज्य के देशों में बने मालपर कम चुंगी लगाने की व्यवस्था खतम की जाय, क्योंकि उससे अमरीकी प्रतियोगिता के मुक़ावले में ब्रिटिश हितों की रक्षा होती है। इसके अलावा :

> "संधि के मसविदे में ये बातें हैं : एक देश में दूसरे देश के नागरिकों के क्या अधिकार होंगे; व्यापारिक सम्बंधों, व्यापार के रास्ते में आनेवाली रुकावटों और विनिमय नियंत्रण के बारे में एक देश दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करेगा; विदेशियों पर देशी अदालतों का कितना अधिकार रहेगा; विदेशियों की सम्पत्ति की रक्षा का क्या प्रबंध होगा और उन पर लगनेवाले करों की क्या व्यवस्था होगी।"
> ("हिन्दुस्तान टाइम्स" २८ जून, १९४८)

अखबारों में छपे समाचारों से पता चला कि इन बातों के बारे में अमरीका ऐसी शर्तें लगा रहा है कि भारत सरकार उन्हें मानने में असमर्थ है।

चार-सूत्री कार्यक्रम के रूप में अमरीका ने खुलेआम अपनी शर्तों का ऐलान कर दिया है। दो-पक्षी संधियों के द्वारा अमरीकी पूंजी को क्या क्या आश्वासन चाहिये, यह और भी स्पष्ट रूप में अमरीका के उद्योगपतियों के राष्ट्रीय संघ (नेशनल एसोसियेशन ऑफ़ मैन्युफ़ैक्चरर्स) ने २४ मई, १९४९ को बता दिया था :

> "१. संधि करनेवाली सरकारों की मुद्राओं को सुदृढ़ बनाने के लिये क्या किया जायगा, इसके बारे में स्पष्ट आश्वासन मिल जाना चाहिये।

"२. विदेशी पूंजी लगाने वालों के साथ उचित व्यवहार करने के लिये किन सिद्धान्तों का अनुसरण किया जायगा और उनका क्या कर्तव्य होगा, यह साफ़ हो जाना चाहिये।

"३. विदेशी टेक्निकल विशेषज्ञों, कारीगरों, इंजीनियरों और प्रबंधकों तथा व्यवस्था का काम करनेवालों को स्वतंत्रतापूर्वक आने देने की व्यवस्था होनी चाहिये।

"४. विदेशी पेटेन्ट, ट्रेड मार्क आदि की रक्षा और नक़्क़ालों से उन्हें बचाने की ठीक व्यवस्था होनी चाहिये।

"५. आश्वासन मिलना चाहिये कि पूंजी लगानेवाले अपने मुनाफ़े (और कम्पनी तोड़ी जाती है तो पूंजी की रक़म) डालरों के रूप में देश से बाहर ले जा सकेंगे और पुरानी तथा नयी पूंजी में कोई भेद न किया जायगा।

"६. यदि संधि की शर्तों का उल्लंघन हो तो ज़रूरी होगा कि दोनों सरकारें बातचीत के द्वारा मामला तै करें। पहले से निश्चय हो जायगा कि मतभेद होने पर फ़ैसला कैसा होगा।" (न्यू यौर्क टाइम्स)

युरुगुये आदि देशों के साथ जो "नमूने" की संधियाँ हुई हैं, उनमें ये आश्वासन सम्मिलित किये गये हैं। यानी अमरीकी सरकार ने यह जिम्मेदारी ली है कि वह दूसरी सरकारों को मजबूर करेगी कि वे अमरीकी कम्पनियों के साथ इन शर्तों का पालन करें। दूसरे शब्दों में, इन संधियों के मातहत अमरीकी सरकार ने दूसरे देशों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने का काम अपने जिम्मे लिया है।

भारत और पाकिस्तान से अमरीकी पूंजीपतियों की सबसे बड़ी शिकायत आयात और निर्यात पर लगी हुई पाबन्दियों (या कोटा-व्यवस्था) को लेकर है। इसका कारण यह है कि भारत और पाकिस्तान में अमरीका की अधिकतर पूंजी व्यापार अथवा "वितरण" करनेवाली कम्पनियों में लगी हुई है। इन पाबन्दियों का, या इस कोटा-व्यवस्था का असर सबसे ज्यादा व्यापारियों पर पड़ता है। परन्तु, आयात-निर्यात का कोटा निश्चित करने की व्यवस्था यदि तोड़ भी दी जाय, तो उससे औद्योगीकरण नहीं होगा, बल्कि उसका परिणाम केवल यही होगा कि भारतीय बाज़ारों में अमरीका का बना अतिरिक्त माल भर जायगा और यहाँ के उद्योग-धंधे बन्द होने लगेंगे।

और यदि अमरीकी पूंजी अधिकतर व्यापार में न लगी हो, तो भी उससे भारत की अर्थ-व्यवस्था का कोई लाभ न होगा। दक्षिणी अमरीका के देशों में, फ़िलीपाइन में, और मध्य-पूर्व के देशों में अमरीकी पूंजीपतियों ने अरबों की पूंजी, लगायी, मगर उससे इन देशों की जनता के रहन-सहन में जरा भी सुधार नहीं हुआ। हरवर्ड विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर, जे. के. गॉलब्रेथ ने लिखा है :

> "विदेशों में पूंजी वहीं लगायी गयी है, जहाँ अमरीकी उद्योगों के के लिए आवश्यक कच्चे माल का उत्पादन बढ़ाने की जरूरत थी, जैसे तेल, तांबा, कच्चा लोहा, रबड़ आदि।... उससे थोड़ी कम, फिर भी बहुत काफ़ी पूंजी अमरीकी माल बेचने की व्यवस्था करने और अमरीकी कारख़ानों की शाखाएँ खोलने के सिलसिले में लगी है।... कनाडा को छोड़ कर, और किसी देश में अमरीका ने ऐसे उद्योगों में बहुत कम पूंजी लगायी है जिससे उस देश की अर्थ-व्यवस्था का लाभ होता हो।" ('चार-सूत्री कार्यक्रम के बारे में,' पृष्ठ ५१)

यदि अमरीकी पूंजीपतियों ने उतनी पूंजी पिछड़े हुए देशों में लगाना पसन्द नहीं किया जितनी कुछ लोग चाहते थे, तो उसका कारण यह नहीं है कि उन्हें कम मुनाफ़ा होने का अन्देशा था। साधारणतः विदेशों में लगी हुई पूंजी पर देश में लगी हुई पूंजी से ज़्यादा ही मुनाफ़ा होता है। अमरीकी पूंजी की हिचकिचाहट का केवल एक ही कारण था, वह अधिक से सुविधाएँ वसूल कर लेना चाहती थी। यह चार-सूत्री कार्यक्रम बेहतर सुविधाएँ पाने का तरीक़ा था।

इसलिये कोई आश्चर्य नहीं यदि अमरीका के बड़े-बड़े पूंजीपतियों ने मुक्त कंठ से इस कार्यक्रम का स्वागत किया। अमरीका की सबसे बड़ी कम्पनियों के संघ, 'नेशनल एसोसियेशन ऑफ़ मैन्युफ़ैक्चरर्स' ने एक बार बड़ी शान के साथ दावा किया था कि उसने सबसे पहले टूमन के चार-सूत्री कार्यक्रम का समर्थन किया था।

भारत का आत्म-समर्पण

चार-सूत्री कार्यक्रम का दबाव पड़ने पर भारत सरकार को झुकने में बहुत देर न लगी। १९४९ में जो मन्दी आयी और अमरीका ने मदद देने

से जिस तरह इनकार करना शुरू किया, उससे भारत सरकार का हाथ-पैर और फूल गया।

अमरीका के कहने के अनुसार, भारत सरकार ने राष्ट्रीकरण के कार्यक्रम को एक तरह से तिलांजलि दे दी। पंडित नेहरू ने ४ मार्च, १९४९ को 'फ़ेडरेशन ऑफ़ इंडियन चेम्बर्स ऑफ़ कौमर्स' की बैठक में कहा कि अस्त्रशस्त्रों के कारखानों, अणु-शक्ति से सम्बंधित उद्योगों और रेलों के सिवा और सभी उद्योगों के राष्ट्रीकरण का विचार अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दिया गया है।

५ अगस्त को उन्होंने ऐलान किया कि सरकार मौजूदा कारखानों को दस साल के बाद भी नहीं छुएगी। २१ अगस्त को अमरीका में "नार्थ अमरीकन न्यूज़पेपर अलायंस" के सामने बोलते हुए नेहरू ने कहा कि "मुख्य उद्योगों को राज्य की सम्पत्ति बनाने के बारे में पहले हमारी जो भी योजना रही हो, लेकिन कम से कम अगले दस साल तक किसी तरह की कार्रवाई करने का हमारा कोई इरादा नहीं है।" २७ अगस्त को उन्होंने कहा कि बहुत लम्बे अरसे के बाद कहीं राष्ट्रीकरण का वक्त आयेगा।

अगस्त में ही सेठ घनश्यामदास बिड़ला ने अमरीकी पूंजी को भारत के मुख्य उद्योगों में घुसने की दावत दी। भारत–अमरीका सम्मेलन में एक निबंध पढ़ते हुए उन्होंने कहा :

> "मेरी राय में (दोनों देशों के पूंजीपतियों का) सहयोग केवल बड़ी-बड़ी चीज़ों में होना चाहिये, जैसे इस्पात, भारी केमिकल, भारी इंजीनियरिंग, आदि में, और ऐसे उद्योगों में जिनमें कई करोड़ की बड़ी पूंजी की आवश्यकता हो और जिनके लिये आवश्यक टेकनिकल विशेषज्ञ भारत में न मिलते हों...।
>
> "और यह सहयोग, मेरी दृष्टि में, दोनों तरफ़ की प्राइवेट पूंजीवादी कम्पनियों के बीच होना चाहिये।" (सायक्लोस्टाइल लेख, पृ. २)

अब भारत सरकार की नीति राष्ट्रीकरण करने की नहीं, बल्कि उसकी उल्टी है। १९५२ के शुरू में हैदराबाद के मुख्य मंत्री एम० के० वैलोडी ने ऐलान किया कि उनके राज्य सरकार की नीति यह है कि जो उद्योग

सार्वजनिक उपयोग की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक नहीं हैं, उनका प्रबंध करना सरकार बन्द कर देगी।

पाकिस्तान सरकार ने भी ऐलान कर दिया कि आगे वह किसी उद्योग का राष्ट्रीकरण नहीं करेगी।

अमरीका की दूसरी मांग यह थी कि विदेशी पूंजी के साथ देशी पूंजी जैसा व्यवहार किया जाय। ६ अप्रैल, १९४९ को पंडित नेहरू ने पार्लामेंट के अन्दर कहा था:

"जहाँ तक विदेशी कम्पनियों का सवाल है, सरकार उन पर ऐसे कोई प्रतिबंध नहीं लगाना चाहती जो उसी प्रकार की भारतीय कम्पनियों को मंजूर न हों। और सरकार अपनी नीति इस तरह निश्चित करेगी जिससे दोनों पक्षों का हित साधन करनेवाली शर्तों पर और भी अधिक विदेशी पूंजी भारत में आ सके।

"विदेशी कम्पनियों को मुनाफ़ा कमाने की इजाजत होगी; उन पर केवल ऐसे नियम लागू होंगे जो सभी कम्पनियों को मानने पड़ते हैं। मुनाफ़े की रक़म विदेश भेजने की जो सुविधाएँ आजकल मिली हुई हैं, उन्हें किसी तरह कम नहीं किया जायगा और पहले से लगी विदेशी पूंजी को हटाने पर भी सरकार कोई प्रतिबंध नहीं लगायेगी...परन्तु यदि किसी विदेशी कम्पनी को सरकार ने अपने क़ब्ज़े में लेने का फैसला किया, तो जैसा कि सरकार पहले ही ऐलान कर चुकी है, उसका उचित दर पर मुआवज़ा दिया जायगा।"

जैसा कि पार्लामेंट में कांग्रेस पार्टी के दफ़्तर मंत्री ने कहा है:

"विदेशी पूंजी के बारे में प्रधान मंत्री के १९४९ के बयान के बाद, योजना समिति के पहले के सभी बयान (विदेशी पूंजी के बारे में) बेमतलब हो जाते हैं।" ('टुआर्डस प्लानिंग,' पृष्ठ ११२)

इस तरह, भारत सरकार और भारत के बड़े-बड़े पूंजीपतियों ने अपनी नीति को बिल्कुल उलट दिया।

पंडित नेहरू के बयान के एक सप्ताह बाद पाकिस्तान के गवर्नर जनरल नाजीमुद्दीन ने कराँची चेम्बर ऑफ़ कौमर्स के सामने बोलते हुए कहा कि

पाकिस्तान सरकार ऐसी कम्पनियों के साथ कोई भेदभाव नहीं बरतना चाहती जिनकी जड़ें विदेशों में हों।

और भारत में तो यह समानता उन चुंगियों पर भी लागू कर दी गयी जो विशेष रूप से विदेशी प्रतियोगिता से भारतीय उद्योगों की रक्षा करने के लिये लगाये गये थे। जुलाई १९४९ में एक सरकारी नोट में बताया गया :

> "जब किसी विशेष उद्योग की रक्षा का प्रबंध किया जाता है, तो उस उद्योग की सभी शाखाओं को, चाहे वे भारतीयों की सम्पत्ति हों, चाहे विदेशियों की, उस प्रबंध से लाभ उठाने का अवसर दिया जाता है।" ('हिन्दू,' १७ जुलाई)

इस प्रकार, अल्यूमीनियम, मोटर की बैटरी और दूसरी अनेक चीजें बनानेवाली अमरीकी कम्पनियों को, भारतीय जनता को लूट-लूटकर अपनी थैलियाँ भरने की आजकल पूरी छूट है और भविष्य में यहाँ आनेवाले अमरीकी पूंजीपतियों को भी यह छूट रहेगी।

परन्तु अमरीकावालों को इतने से भी संतोष नहीं हुआ। उन्होंने कहा कि सिर्फ़ भारत सरकार के घोषणा करने से हमें विश्वास नहीं होता, दोनों सरकारों के बीच बाक़ायदा एक ऐसा समझौता हो जाना चाहिये जिसमें भारतीय और अमरीकी पूंजी के साथ समान व्यवहार करने की बात हो। दिसम्बर, १९४९ में जो भारत-अमरीका सम्मेलन हुआ था और जिसमें दोनों देशों के कई बड़े पूंजीपति शरीक हुए थे, उसकी रिपोर्ट से यह बात बिल्कुल साफ़ हो जाती है। रिपोर्ट के अंश देखिये :

> "...व्यापार एवं मित्रता की प्रस्तावित भारत-अमरीकी संधि पर कुछ विस्तार से बहस हुई।...परन्तु अमरीकी पूंजी की इस मांग पर समझौता न हो सका कि उसके साथ राष्ट्रीय पूंजी जैसा व्यवहार होना चाहिये।...
>
> "कुछ अमरीकियों का मत था कि जबतक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भारत की नीति साफ़ नहीं हो जाती, तबतक संधि की कोशिश नहीं होनी चाहिये। परन्तु, दूसरे कुछ अमरीकियों ने यह बात साफ़ कर दी कि जबतक संधि नहीं होगी, तब तक अमरीका की प्राइवेट पूंजी भारत में नहीं लगायी जा सकेगी, क्योंकि दोनों देशों की सरकारों के

पूरी तरह से एकमत हुए विना वह वातावरण नहीं तैयार हो सकता जो अमरीकी पूंजी के भारत आने के लिये आवश्यक है।" (सम्मेलन की कार्यवाही की रिपोर्ट, पृष्ठ १५-१६)

अमरीकावालों की तीसरी मांग यह थी कि वह नियम खतम कर दिया जाय जिसके कारण कुछ उद्योगों में ५१ प्रतिशत पूंजी भारतीयों की होना आवश्यक होता है। ९ अगस्त, १९४९ को अमरीका के अर्थ मंत्री ने कहा था कि ५१ प्रतिशत वाला नियम, विदेशों में अमरीकी पूंजी लगाने के रास्ते में "बहुत बड़ी बाधा" बना हुआ है। दिसम्बर के भारत-अमरीका सम्मेलन में अमरीकी प्रतिनिधियों ने इस बात पर जोर दिया कि सभी उद्योगों में अधिकतर पूंजी अमरीकी ही होनी चाहिये। सम्मेलन की रिपोर्ट के अनुसार :

"(भारतीय प्रतिनिधियों की ओर से) बताया गया कि गत काल में अमरीकी पूंजी ने अल्पमत में रहते हुए भी भारत में आना स्वीकार किया था और इस आधार पर महत्वपूर्ण एवं प्रमुख उद्योग यहां स्थापित करने में मदद दी थी। यहाँ तक कि युद्ध-काल में भी उसने यही किया...।

"परन्तु, अमरीकी प्रतिनिधि मण्डल के कुछ सदस्यों की यह निश्चित राय थी कि अब परिस्थिति और लोगों के रुख बदल गये हैं। अब अमरीकी पूंजीपति हर ऐसे उद्योग में जिसमें काफी पूंजी लगानी हो, अधिकतर हिस्से अपने हाथ में रखने पर जोर देते हैं। उन्हें सरकारी नियंत्रण पसन्द नहीं और राष्ट्रीकरण के खतरे से उन्हें भय लगता है। इसके अनेक उदाहरण दिये गये। बताया गया कि दक्षिणी अमरीका के देशों में कई महत्वपूर्ण तथा बड़े पैमाने के उद्योगों में अमरीकी पूंजीपतियों ने अल्पमत के आधार पर रहने से इनकार कर दिया और अपनी पूंजी हटा ली। पिछले चन्द सालों में अमरीकी पूंजी निश्चित रूप से बहुत सतर्क हो गयी है।... इसके अलावा, अमरीकी पूंजी अब देश रक्षा से सम्बंधित प्रश्नों पर अधिक ध्यान देती है।" (भारत-अमरीका सम्बंध, पृष्ठ १२-१३)

परन्तु यह ५१ प्रतिशत का नियम भी जल्द ही अमरीकी पूंजीपतियों को खुश करने के लिये बदल दिया गया। जुलाई १९४९ में भारत के उद्योग मंत्री

ने बताया कि कुछ विशेष उद्योगों में इस नियम को न लागू करने का निश्चय किया गया है। १८ अगस्त १९४९ को **कैपिटल** ने लिखा :

"इस मामले में भारत की स्थिति साफ़ कर दी गयी है। लगभग आधे दर्जन उद्योगों को छोड़ कर बाक़ी उद्योगों में भारत को कोई आपत्ति न होगी यदि उनमें हिन्दुस्तानियों, अंग्रेजों या अमरीकियों के बहुमत के हाथों में नियंत्रण हो। 'मुख्य उद्योगों' को छोड़ कर बाकी सभी उद्योग लगभग स्वतंत्र क्षेत्र में माने जायेंगे। ...

"विदेशियों को 'सुरक्षित' क्षेत्र में भी भाग लेने की सुविधा दी जा सकती है। यद्यपि सरकार तो इन उद्योगों पर शत प्रतिशत अथवा बहुसंख्यक नियंत्रण रखना पसन्द करेगी, परन्तु यदि उनके तीव्र विकास के लिये अथवा आर्थिक कारणों से यह आवश्यक होगा तो मूल योजना में परिवर्तन करना ही पड़ेगा।"

सितम्बर १९४९ में स्थिति और भी 'साफ़' हो गयी। भारत सरकार ने एक बयान में कहा :

"भारत सरकार की नीति है कि औद्योगिक क्षेत्र में विदेशी पूंजी को स्वतंत्रता-पूर्वक आकर काम करने दे।...कम से कम समय में अधिक से अधिक विदेशी पूंजी यहाँ आये, इसकी प्रत्येक कोशिश की जायगी। भारत सरकार ने साफ़-साफ़ ऐलान कर दिया है कि कुछ उद्योगों के स्वामित्व अथवा नियंत्रण में ग़ैर-हिन्दुस्तानियों का बहुमत होना लाज़िमी तौर पर देश-हित के खिलाफ़ नहीं माना जायगा।" ('हिन्दू,' १९ सितम्बर, १९४९)

वाशिंगटन में ४ मई, १९५० को नेशनल प्रेस क्लब के सामने बोलते हुए प्रधान मंत्री लियाक़त अली खाँ ने भी इसी प्रकार की नीति की घोषणा की।

"उन्होंने बताया कि बहुत कम उद्योगों को सरकारी स्वामित्व के लिये सुरक्षित रखा गया है। उन्होंने इस सम्बंध में यातायात और दो-तीन दूसरी चीज़ों का ज़िक्र किया और कहा कि बाक़ी उद्योग स्वतंत्र पूंजी के लिये खुले हैं। फिर उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि यदि देशी पूंजी नहीं आती तो कोई कारण नहीं कि पूरी पूंजी, उदाहरण

के लिये, अमरीका से ही क्यों न मंगा ली जाय।" ('न्यू यॉर्क टाइम्स,' ५ मई, १९५०)

अन्त में, भारत और पाकिस्तान दोनों की सरकारों ने विदेशी कम्पनियों को मुनाफ़े की रक़में देश से बाहर ले जाने की सुविधा भी दे दी। २ जून, १९५० को भारत के अर्थ सचिवालय ने ऐलान किया कि १ जनवरी, १९५० के बाद लगायी गयी अमरीकी पूंजी, मय उद्योगों में लगाये गये मुनाफ़े के भारत के बाहर भेजी जा सकती है।

भारतीय उद्योगों पर कुठाराघात

अमरीकी पूंजी को दी गयी इन सभी सुविधाओं का कुछ बड़े भारतीय पूंजीपतियों ने समर्थन किया। यही नहीं, उन्होंने जोरों के साथ कोशिश की कि अमरीकी सेठों को ये सुविधाएँ सरकार से मिल जायें। वास्तव में, ये लोग भारतीय सरकार की स्थापना होने के पहले ही विदेशी पूंजी से मिल गये थे। लड़ाई के जमाने में, उन्होंने अंग्रेजों के युद्ध उद्योग से सहयोग करके मुनाफ़ा कमाया था। अब वे अन्तर्राष्ट्रीय "ठण्डे युद्ध" से, और सम्भव "गरम युद्ध" से, सहयोग करके नफ़ा कमाना चाहते थे। उन्हें उम्मीद थी कि शक्तिशाली अमरीकी कम्पनियों से सम्पर्क बढ़ने पर उनकी ताक़त भी बढ़ जायेगी और वे पड़ोसी देशों के बाज़ारों में घुसने में सफल होंगे।

परन्तु, छोटे उद्योगपतियों के हितों को इन सुविधाओं से धक्का लगा। उनके लिये तो भारत सरकार की नीति अंग्रेज़ सरकार की नीति से भी अधिक घातक थी। अंग्रेज़ सरकार केवल अंग्रेज़ पूंजीपतियों का पक्ष लिया करती थी। परन्तु यह नयी भारतीय सरकार तो अंग्रेज़ों के साथ-साथ अमरीकी पूंजीपतियों को भी सुविधाएँ दे रही थी। छोटे उद्योगपतियों को डर था कि विदेशी पूंजी भारतीय उद्योगों का गला घोंट देगी और भारत की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर छा जायगी।

अमरीकी पत्र **बिजनेस वीक** ने भी स्वीकार किया कि इस सवाल पर भारतीय पूंजीपतियों में मतभेद था। विदेशी पूंजी को निमंत्रण देते हुए पं० नेहरू ने राष्ट्रीकरण के विरुद्ध जो घोषणाएँ की थीं, उन पर टिप्पणी करते हुए इस पत्र ने २२ अक्तूबर, १९४९ को लिखा :

"हो सकता है कि 'फेडरेशन ऑफ़ इंडियन चेम्बर ऑफ़ कौमर्स एण्ड इन्डस्ट्रीज़' उनका (पं० नेहरू का) विरोध करे। इस संघ के अनेक सदस्यों को आशंका है कि कहीं उनके घर में ही विदेशी उनसे प्रतियोगिता न करने लगें। दूसरी ओर, टाटा वाले चाहते हैं कि अमरीकी कम्पनियाँ यहाँ भारी मात्रा में पूंजी लगायें—यहाँ तक कि वे इस्पात के उद्योग में भी उनका स्वागत करने को तैयार हैं।"

उपरोक्त फ़ेडरेशन ने १९५० के अन्त में भारत सरकार के पास एक मांग-पत्र भेजा था जिसमें उसने इस बात की आलोचना की थी :

"केन्द्रीय और राज्य सरकारों के कुछ विभाग वह सामान भी, जो देशी कम्पनियों से मिल सकता है, विदेशी कम्पनियों से ख़रीदना ज़्यादा पसन्द करते हैं।"

अंग्रेज़ों के राज में भी भारतीय व्यापारी इसी तरह की शिकायतें किया करते थे। इससे प्रकट होता था कि नयी सरकार अधिकतर भारतीय पूंजीपतियों की परवाह नहीं करती थी, बल्कि चन्द बहुत बड़े भारतीय पूंजीपतियों और विदेशी सेठों पर निर्भर करती थी और उन्हीं का पक्ष लेती थी।

भारत की योजनाएँ अमरीका की सलाहों पर बनने लगीं

विदेशी पूंजीपतियों और उनके भारतीय सहयोगियों पर निर्भर रहने के कारण न केवल भारत सरकार को उन्हें अनेक सुविधाएँ देनी पड़ी, बल्कि भारत के आर्थिक भविष्य का स्वरूप ही बदल गया।

भारत की आर्थिक योजनाएँ प्रायः कार्यान्वित नहीं होतीं। इसलिये, उन पर बहस करना बेसूद मालूम हो सकता है। परन्तु इन योजनाओं से जो नक़शा तैयार होता है, वह साफ़ अमरीका में बना मालूम पड़ता है। अगर हाल की योजनाओं पर अमल किया गया तो न सिर्फ़ मौजूदा आर्थिक स्थिति पर उसका असर पड़ेगा, बल्कि आनेवाले अनेक वर्षों के लिये भारत का भविष्य अंधकारमय हो जायगा। विदेशी पूंजी ने यदि यहाँ पैर जमा लिये तो उससे न केवल भारत का आर्थिक विकास कुंठित हो जायगा—जैसा कि युद्ध के पहलेवाली राष्ट्रीय योजना समिति ने माना था—बल्कि १९४६ की नियोगी रिपोर्ट के शब्दों में, चूंकि "एक बार जम जाने पर

विदेशी स्वार्थों को हटाना मुश्किल होगा", इसलिये आगे चलकर उससे भारत की पूर्ण स्वतंत्रता और प्रगति की लड़ाई भी कठिन हो जायगी।

१९४८ के ऊटी सम्मेलन (एशिया और सुदूर पूर्व के लिये राष्ट्र संघ ने एक आर्थिक कमीशन बना रखा है, १९४८ में उसका अधिवेशन ऊटकमंड या ऊटी में हुआ था—अनु०) में डॉ. ग्रेडी के भाषणों के बाद से अमरीकी लगातार हमें यह 'सलाह' देते आये हैं कि भारत में भारी उद्योगों को बढ़ाने की बात सोचना मूर्खता है; हमें खेती, खानों और यातायात पर जोर देना चाहिये और अमरीका इन कामों में हमारी मदद करने को तैयार है। भारत सम्बंधी चार-सूत्री कार्यक्रम का बुनियादी रुख भी यही है।

हिन्दुस्तानियों को साम्राज्यवाद का कई पीढ़ियों का अनुभव है। वे इस रवैये के पीछे छिपी हुई चाल को अच्छी तरह समझ सकते हैं। अमरीका को भारत की खेती और खानों में इसलिये दिलचस्पी है कि वह अपने उद्योगों तथा लड़ाई का सामान बनानेवाले कारखानों के लिये यहाँ से कच्चा माल पाना चाहता है। उसे भारत के यातायात में इसलिये दिलचस्पी है कि भारतीय उपज को यहाँ से ले जाने और अमरीकी माल का यहाँ वितरण करने के लिये तथा सैनिक दृष्टि से भी उसे अच्छे यातायात की आवश्यकता है। यदि हम अमरीकी सरकार तथा पूंजीपतियों के स्वार्थों को अनदेखा भी कर दें, तो भी पिछले अनुभव से यह बात हमारी समझ में आ ही जानी चाहिए कि सिर्फ रेलें और बांध बनाने से ही किसी देश की आर्थिक व्यवस्था नहीं पनपती। अंग्रेजों ने भी भारत में सबसे ज़्यादा रुपया इन्हीं चीजों पर खर्च किया था। पर हजारों मील लम्बी रेलें और अनेकों बांध बनने के बाद भी हिन्दुस्तान अधिकाधिक गरीब ही होता गया।

सचमुच यह एक अजीब बात है कि भारतीय सरकार तथा पूंजीपतियों के नेता अब ठीक उस तरह काम करते हैं जैसे भारत में पहले अंग्रेज किया करते थे और बातें उस तरह करते हैं जैसे आजकल अमरीकावाले करते हैं। उदाहरण के लिये, हाल में उन्होंने जो कई योजनाएँ बनायी हैं, उनकी तुलना करके देखिये। १९४४ में, विदेशी पूंजी से बातचीत शुरु करने से थोड़ा पहले भारत के बड़े पूंजीपतियों ने बम्बई योजना बनायी थी। उसी वर्ष छोटे पूंजीपतियों की संस्था, ऑल इंडिया मैन्युफ़ैक्चरर्स ऑर्गनाइज़ेशन ने विश्वेश्वरैय्या योजना तैयार की। गांधीवादियों की ओर से डा० एस. एन.

अग्रवाल ने एक योजना बनायी है। और १९५१ में सरकार की राष्ट्रीय योजना समिति ने पंच-वर्षीय योजना तैयार की है। नीचे, इनकी तुलना देखिये :

योजना	उद्योगों पर कितना प्रतिशत खर्च होगा	खेती पर कितना प्रतिशत ख़र्च होगा	यातायात पर कितना प्रतिशत ख़र्च होगा
बम्बई	४४·८	१२·४	९·४
विश्वेश्वरैय्या	५६·४	१४·३	७·९
गांधीवादी	३६·५	३२·८	११·२
रा. योजना समिति	९·८	३३·०	३८·२

देखा आपने, खेती और यातायात पर खर्च का भाग हर योजना में बढ़ता ही जाता है। आधुनिक मनोवृत्ति वाले पं० नेहरू तथा उद्योगपतियों के योजना कमीशन ने खेती पर गाँव-प्रेमी गांधीवादियों से भी अधिक खर्च करने की योजना बनायी है। दूसरी ओर, उद्योगों पर खर्चा इतना कम रखा गया है कि उससे पैदावार मौजूदा स्तर पर भी क़ायम न रह पायेगी। १९५१ की सरकारी योजना में शायद एक ही गुण है, वह यह कि उसने कोई बहुत ऊँचा लक्ष्य अपने सामने नहीं रखा है। इस पंच-वर्षीय योजना का उद्देश्य इससे अधिक कुछ नहीं है कि युद्ध के पहले के जीवन-स्तर पर देश फिर पहुँच जाय।

बम्बई योजना में ७ प्रतिशत रक़म विदेशों से कर्ज लेने की बात थी। गांधीवादी योजना पूरी तरह देशी साधनों पर निर्भर करनी थी। राष्ट्रीय योजना समिति की योजना ४० प्रतिशत रक़म विदेशों से पाने की आशा करती है। विदेशी मदद के बिना तो उसे मौजूदा जीवन-स्तर को भी क़ायम रखने की आशा नहीं है। इसीसे देखा जा सकता है कि इस योजना समिति को भारतीय जनता की शक्ति में कितना विश्वास है!

और हाल में तो भारत सरकार ने उद्योगों की ओर से लापरवाही बरतने में इस समिति के भी कान काट लिये हैं। १९४७ से लेकर १९५१ तक के ४ वर्षों में सरकार ने उद्योगों पर जितना खर्च किया (३६ करोड़ रुपये), वह उसके कुल खर्च (१,१३० करोड़ रुपये) का केवल ३ प्रतिशत था।

पाचवां अध्याय

भारत में लगी हुई अमरीकी पूंजी

अमरीका और भारत दोनों देशों के बड़े पूंजीपतियों ने हमारे देश की आर्थिक कठिनाइयों का यह हल निकाला है कि किसी तरह बहुत सी अमरीकी पूंजी यहाँ लायी जाय।

२८ अप्रैल, १९४९ को वेस्टिंग हाउस इलेक्ट्रिक इन्टरनेशनल कम्पनी के उपाध्यक्ष ने न्यू यौर्क के बोर्ड ऑफ़ ट्रेड के सामने कहा :

> "भारत के सामने दो ही रास्ते हैं—या तो अपना औद्योगीकरण धीमा पड़ जाने दे, या किसी तरह अमरीका से आनेवाली नियामतों से फ़ायदा उठाये।" ('न्यू यौर्क टाइम्स,' २९ अप्रैल, १९४९)

टाटा और बिड़ला के अलावा, जिनका अमरीकी पूंजी से गठबंधन हो चुका है, भारत सरकार के ऊँचे पदाधिकारी इन नियामतों की बाट जोहते रहे हैं। भारत सरकार ने अमरीकी पूंजी को आकर्षित करने के लिये तरह-तरह की असाधारण सुविधाएँ दी है। लगता है कि हमारी सरकार ने भी अमरीका का यह सिद्धान्त मान लिया है कि संसार के कुछ देश यदि पिछड़े हुए हैं, तो इसका कारण केवल यही है कि उनके पास काफ़ी पूंजी और कुशल कारीगर और टेकनीशियन नहीं हैं, और अमरीका के पास दोनों चीज़ों की बहुतायत है। हमारी सरकार को यह याद नहीं रहता कि भारत जैसे देशों से प्रति वर्ष करोड़ों और अरबों रुपया मुनाफ़े, तनख़ाओं और दूसरे ख़र्चे के रूप में विदेशों को चला जाता है। दूसरे, अनेक कुशल कारीगर, वैज्ञानिक और टेकनीशियन आज भी हमारे देश में बेकार पड़े हुए हैं और सरकार उनसे कोई लाभ नहीं उठाती। सब जानते हैं कि ऐसे कुछ बहुत ही होशियार लोग, जिनमें से कुछ तो स्वयं अमरीका में ऊँची शिक्षा पा चुके हैं, आज या तो बेरोज़गार हैं या किसी दफ़्तर की फालतू फाइलों में उलझे हुए हैं।

हमारी सरकार और टाटा तथा विड़ला जैसे बड़े पूंजीपति यह बात भी भूल जाते हैं कि हमारे देश के लिये अमरीकी पूंजी कोई नयी चीज नहीं है। वे कभी इस बात का जिक्र नहीं करते कि बीते हुए दिनों में अमरीकी पूंजी का भारत को क्या अनुभव हुआ था। और इस सवाल पर उनकी खामोशी बेवजह नहीं है।

रिजर्व बैंक ने १९५० में विदेशी पूंजी की जो गणना की थी, उससे प्रकट हुआ कि भारत में लगी हुई अमरीकी पूंजी ३० जून, १९४८ को ३६ करोड़ ९७ लाख रुपये होती थी। इसमें से ११ करोड़ ७३ लाख रुपये केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों, रिजर्व बैंक और पोर्ट तथा इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्टों को देने थे। ८ करोड़ ३३ लाख रुपये ऐसी कम्पनियों में लगे हुए थे जिन पर अमरीकी नियंत्रण नहीं था। और जिन पर नियंत्रण था, ऐसी कम्पनियों में १६ करोड़ ९१ लाख की अमरीकी पूंजी लगी हुई थी। इसका ब्यौरा यह था :

अमरीकी बीमा कम्पनियों की शाखाएँ	...	१५ लाख रुपये
अमरीकी बैंकों की शाखाएँ	... ...	६,७८ ,, ,,
दूसरी अमरीकी कम्पनियों की शाखाएँ	...	५,८८ ,, ,,
अमरीकी कम्पनियों की मातहत भारतीय कम्पनियाँ	... ...	३,०४ ,, ,,
ऐसी भारतीय कम्पनियाँ जिनके ४०% या अधिक हिस्से अमरीकियों के हैं	...	१०७ ,, ,,

इसके अतिरिक्त, अमरीकी मैनेजिंग एजेंसियाँ नाम मात्र की पूंजी लगा कर ८५६ लाख पूंजी की भारतीय कम्पनियों पर नियंत्रण जमाये हुए थी।

अर्थात, औद्योगिक कम्पनियों में केवल ४७३ लाख अमरीकी पूंजी लगी हुई थी, जब कि बैंकों तथा बीमा कम्पनियों में ६९३ लाख और व्यापारिक कम्पनियों में ४८४ लाख की पूंजी लगी हुई थी। दूसरे शब्दों में, भारत में जितनी अमरीकी पूंजी लगी हुई है, उसके तीन-चौथाई भाग से हमारे देश के औद्योगीकरण में कोई मदद नहीं मिलती।

अमरीका को अलग-अलग ढंग की पूंजी से कितना मुनाफ़ा होता है, यह भारतीय रिजर्व बैंक की बुलेटिन के फरवरी १९५२ के अंक में प्रकाशित आँकड़ों

से पता चल जाता है। हमारे सरकारी महकमों में तथा ऐसी कम्पनियों में जिन पर अमरीकी नियंत्रण नहीं है, अमरीका की कुल २० करोड़ की पूंजी लगी है, उससे उसे हर वर्ष ८ लाख रुपये का मुनाफ़ा होता है। ऐसी कम्पनियों में जिन पर अमरीकी नियंत्रण है, केवल १७ करोड़ की पूंजी लगी है; परन्तु उससे अमरीका को प्रति वर्ष २ करोड़ ६९ लाख का मुनाफ़ा होता है, जो उसके कुल मुनाफ़े का ९७ प्रतिशत होता है। अमरीका द्वारा नियंत्रित भारतीय कम्पनियों को २१'३ प्रतिशत की दर पर मुनाफ़ा हो रहा है, जब कि अंग्रेजों द्वारा नियंत्रित कम्पनियों को केवल ६'८ प्रतिशत की दर से मुनाफ़ा होता है। सबसे से अधिक मुनाफ़ा अमरीका को व्यापारिक कम्पनियों से होता है। ४०४ लाख की पूंजी से वे १६७ लाख का वार्षिक मुनाफ़ा कमा रही हैं, जो ४१'३ प्रतिशत बैठता है।

अमरीकी सरकार ने भारत में लगी हुई अमरीकी पूंजी का हिसाब १९४३ में किया था। उस वर्ष बर्मा, लंका और पाकिस्तान समेत (परन्तु बीमा कम्पनियों को छोड़ कर) हिन्दुस्तान में ४१० लाख डालर की अमरीकी पूंजी लगी हुई थी, और टैक्स काटने के बाद इस पूंजी से ६५ लाख का मुनाफ़ा हुआ था, जो १५'९ प्रतिशत बैठता था। दुनिया के दूसरे किसी हिस्से से अमरीकी पूंजी इतनी ऊँची दर पर मुनाफ़ा नहीं कमा रही थी। यहाँ तक कि वेनेज्युला से, जिसके पेट्रोल के कुंओं और पूरी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर अमरीका का क़ब्ज़ा था, उसे १०'३ प्रतिशत का ही मुनाफ़ा हुआ था।

अमरीकी आँकड़े बताते हैं कि १९४३ और १९४९ के बीच केवल ७० लाख डालर की नयी अमरीकी प्राइवेट पूंजी प्रत्यक्ष ढंग से आकर भारत में लगी। परन्तु अमरीकी मुनाफ़े (टैक्स काटकर और फिर से व्यवसाय में लगा दिये गये मुनाफ़ों को छोड़ कर) बेतहाशा बढ़ते गये। आँकड़े देखिये :

१९४३	६५ लाख डालर	१९४६	८४ लाख डालर
१९४४	५१ ,, ,,	१९४७	१४० ,, ,,
१९४५	७३ ,, ,,	१९४८	१६० ,, ,,
	१९४९	१९० लाख डालर	

१९४३ और १९४९ के बीच जो मुनाफ़े की रक़म अमरीका गयी, वह उसी काल में वहाँ से आनेवाली नयी पूंजी का दस-गुना होती थी; और १९४३ में भारत में कुल जितनी अमरीकी पूंजी लगी हुई थी, उसकी वह

दुगनी बैठती थी। १९४३ में भारत में जितनी अमरीकी पूंजी लगी हुई थी, १९४३ और १९४९ के बीच उसकी केवल २.० प्रतिशत नयी पूंजी यहाँ आयी, परन्तु मुनाफ़े २०० प्रतिशत हो गये। सिर्फ़ नये मुनाफ़े की रक़म नयी पूंजी की दुगनी होती थी।

फिर से व्यवसाय में लगा दिये मुनाफ़ों को यदि नयी पूंजी में न गिना जाय, न मुनाफ़ों में, तो १९४९ में मुनाफ़े की दर लगभग ४० प्रतिशत होती थी। परन्तु ऐसे मुनाफ़ों की रक़म भी काफी बड़ी होती थी। अमरीकी कम्पनियों की मातहत भारतीय कम्पनियों ने ही १९४५ में १९ लाख डालर और १९४६ में २६ लाख डालर का मुनाफा फिर से व्यवसाय में लगाया था।

इस सबसे जाहिर है कि अमरीकी पूंजी के कारण भारत से हर साल बहुत बड़ी दौलत अमरीका को चली जाती है। दूसरे शब्दों में, भारत में लगी हुई अमरीकी पूंजी से भारत की दौलत बढ़ती नहीं, बल्कि सिमट कर अमरीका पहुँच जाती है। इसलिये, यदि भारत में उद्योग-धंधे बढ़ाने के लिये हम यहां अधिक पूंजी इकट्ठा करना चाहते हैं, तो जाहिर है कि उसका रास्ता और अमरीकी पूंजी को यहाँ बुलाना नहीं है, बल्कि पहले से लगी हुई पूंजी को यहाँ से हटाना ही उसका रास्ता है।

खुद अमरीकी (सरकारी) आंकड़ों से यह बात साबित हो जाती है कि अमरीकी पूंजी से भारत के औद्योगीकरण में जरा भी मदद नहीं मिली। १९४५ से १९४७ तक, तीन वर्षों में व्यापार में ५० लाख डालर लगाये गये, पर उद्योगों में से २० लाख उल्टे निकाल लिये गये। १९४९ में जो तीस लाख डालर की नयी पूंजी लगायी गयी, उसमें से २० लाख पेट्रोल बेचने के काम में लगी; उद्योगों के हिस्सों में नाममात्र की ही पूंजी लगी।

अतः भारत में लगी हुई अमरीकी पूंजी का पिछला अनुभव बताता है कि (१) उससे न भारत के औद्योगीकरण में कोई मदद मिली, न हमारी राष्ट्रीय आय बढ़ी; और (२) उल्टे हर साल हिन्दुस्तान की दौलत सिमट-सिमट कर अमरीका जाती रही। इसलिये, लाजिमी तौर पर नतीजा निकलता है कि यदि और अमरीकी पूंजी भारत में आयी तो उससे हमें नुक़सान ही होगा, फ़ायदा नहीं, और भारत का अधिकाधिक धन अमरीका जाने लगेगा।

१९४५ व १९४९ के बीच अमरीकी पूंजी किन क्षेत्रों में आयी

युद्ध समाप्त होने के बाद, शुरू के वर्षों में भारत और पाकिस्तान में बहुत कम पूंजी अमरीका से आयी। पर अमरीका के आर्थिक स्वार्थों में खासी वृद्धि हो गयी।

१९४६ में भारत और अमरीका की सरकारों के बीच पहला आर्थिक समझौता हुआ। यह हवाई यातायात के सम्बंध में था। उससे पैन-अमरीकन वर्ल्ड एयरवेज़ और ट्रांस वर्ल्ड एयरलाइन्स नामक अमरीकी कम्पनियों को भारत में मुसाफ़िर और सामान लाने का अधिकार मिल गया। बदले में भारतीय कम्पनियों को अमरीका में यही व्यवसाय करने का अधिकार मिला। परन्तु जाहिर है कि वह महज़ एक कागज़ी बात थी। भारतीय कम्पनियों के पास इतना पैसा कहाँ है कि अमरीकी कम्पनियों से प्रतियोगिता कर सकें। यही नहीं, अमरीका के दबाव में आकर भारत सरकार ने अमरीकी कम्पनियों को भारत से बर्मा और लंका मुसाफिर ले जाने की भी इजाज़त दे दी और इस तरह भारतीय कम्पनियों को नुक़सान पहुँचाया।

युद्ध के बाद शुरू के वर्षों में सबसे अधिक अमरीकी पूंजी "गुड-इयर टायर एण्ड रबर कम्पनी (इंडिया) लिमिटेड" ने लगायी। यह कम्पनी ३ करोड़ रुपये की अधिकृत पूंजी से खोली गयी थी। वह अमरीका की सबसे बड़ी चार टायर और रबर की कम्पनियों में से एक की मातहत कम्पनी है।

अमरीका के मेलन घराने द्वारा नियंत्रित इंडियन अल्यूमीनियम कम्पनी ने युद्ध के बाद अपनी जमा कर ली गयी पूंजी १,३६,५०,००० रुपये से बढ़ाकर २ करोड़ कर ली।

१९४७ में रेमिंग्टन रैण्ड कम्पनी के अमरीकी कारखानों में एक लम्बी हड़ताल चली, तो उसने कलकत्ता में एक नया कारखाना खोल दिया।

नेशनल न्यूज़ प्रिंट एण्ड पेपर मिल्स के मैनेजिंग डायरेक्टर प्राननाथ नैयर ने २१ सितम्बर, १९४८ को न्यू यौर्क में ऐलान किया कि उन्होंने इलेक्ट्रिक बौंड एण्ड शेयर कम्पनी की मातहत, इंजीनियरी व्यवसाय का काम करने वाली एक कम्पनी, इवास्को सार्विसेज़ से ठेका किया है कि वह मध्य प्रदेश के चांदनी में भारत के पहले न्यूज़ प्रिंट (अख़बार का कागज़) के

कारख़ाने को खड़ी करेगी। भारत जितना न्यूज़ प्रिंट विदेशों से मंगाता है, लगभग उसके बराबर नये मिल की पैदावार होगी। और इस मिल में ८० लाख डालर की पूंजी लगेगी। इसके अलावा एक और कागज़ की मिल खोलने की भी योजना थी, जिसके बारे में दावा किया गया था कि वह संसार की सबसे बड़ी कागज़ की मिल होगी। पहली मिल १९४९ से चालू हो जाने वाली थी, परन्तु हर वर्ष यह तारीख़ आगे बढ़ती गयी, क्योंकि आवश्यक मशीनें बाहर से नहीं आयीं। अब सुना जाता है कि १९५४ में यह मिल काम करना शुरु करेगी।

पाकिस्तान में, फोर्ड ने हिस्से जोड़कर मोटर खड़ी करने का कारख़ाना करांची में खोला।

परन्तु अमरीकी प्रभाव अधिकतर उन समझौतों या ठेकों के द्वारा बढ़ा जो अमरीकी कम्पनियों ने भारत और पाकिस्तान की सरकारों के साथ किये। भारत सरकार ने जिन अमरीकी कम्पनियों को ठेके दिये, उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं:

१. १९४८ के शुरु में सैवेज, बूरड्विन एण्ड निकेल नामक कम्पनी को सिंचाई के विषय में सलाह देने का काम दिया गया।

२. जुलाई, १९४८ में पिट्सबर्ग की कौपर्स कम्पनी और ओहियो की आर्थर मकी एण्ड कम्पनी को इस्पात के दो-एक नये कारख़ाने खोलने के लिये प्रारम्भिक जाँच-पड़ताल करने का ठेका दिया गया। बाद में कारख़ाना खड़ा करने का काम भी इन्हीं कम्पनियों को मिलने की बात थी। १९४९ के शुरु में उन्होंने अपनी रिपोर्ट पेश की जिसमें पचास-पचास करोड़ की पूंजी लगाकर एक कारख़ाना उड़ीसा में और एक मध्य प्रदेश में खोलने की सिफ़ारिश थी।

३. अक्तूबर, १९४८ में अमरीका और ब्रिटेन की प्रमुख तेल कम्पनियों ने, भारत सरकार के बुलावे पर, अपने विशेषज्ञ यहाँ भेजे ताकि वे तेल साफ़ करने के कारख़ाने खोलने के प्रस्ताव के सिलसिले में जाँच-पड़ताल करें। इन लोगों ने जनवरी १९४९ में अपनी जाँच पूरी की।

४. १५ फ़रवरी, १९४९ को उद्योग मंत्री श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने पार्लमेंट में बताया कि १९४८ में कौपर्स कम्पनी से कोयले से तेल बनाने की एक योजना तैयार करने के लिये कहा गया था।

५. मार्च, १९४९ में रेडियो कार्पोरेशन ऑफ़ अमरीका से समझौता किया गया कि वह भारत में रेडियो और रडार का सामान बनानेवाला एक कारख़ाना खड़ा करने की योजना तैयार करके दे।

६. जून, १९४९ में एक अमरीकी कम्पनी को पंजाब, उत्तर प्रदेश, और बिहार में ३,००० ट्यूब वेल (बिजली के कुएँ) गाड़ने का ठेका दिया गया। इस योजना पर कुल १५ करोड़ डालर, यानी १ लाख ६७ हज़ार रुपये प्रति कुआँ ख़र्च होने वाले थे।

७. वेस्टिंग-हाउस कम्पनी को ठेका दिया गया कि वह जाँच करके बताये कि बिजली का भारी सामान तैयार करने वाला कारख़ाना किस स्थान पर खोला जाय।

१९४७ में भारत सरकार ने केमिकल कौंसट्रक्शन कार्पोरेशन (जो अमरीकन साइनामाइड कम्पनी की मातहत फ़र्म है) को ठेका दिया कि वह सिंदरी के खाद के कारखाने की योजना तैयार करे और फिर कारख़ाना खड़ा करे। यह कारखाना फ़रवरी १९५२ में खुल भी गया, यद्यपि उसकी सभी शाखाएँ अभी पूरी नहीं हुई हैं। शुरू में अनुमान किया गया था कि इस कारख़ाने पर साढ़े १० करोड़ रुपये ख़र्च होंगे, परन्तु वास्तव में, उस पर २३ करोड़ तक ख़र्च हो गये। बताया गया कि अमरीकी मशीनों के लिये और कारख़ाना खड़ी करनेवाली अमरीकी कम्पनी को ही १ करोड़ ८२ लाख रुपये ज़्यादा देने पड़े।

केमिकल कौंसट्रक्सन कार्पोरेशन से जो समझौता हुआ, उसकी शर्तें आज तक देश को नहीं बतायी गयी हैं। परन्तु कार्पोरेशन के अध्यक्ष, मेजर जनरल पोर्टर ने १९४९ में बताया कि :

> "जब तक भारतीय इंजीनियरों की काफ़ी शिक्षा नहीं हो जाती और वे पूरा प्रबंध करने योग्य नहीं हो जाते, तब तक कारख़ाने की व्यवस्था केमिकल कौंसट्रक्शन कार्पोरेशन करेगा।" ('न्यू यॉर्क टाइम्स,' १२ फरवरी, १९४९)

परन्तु भारतीय इंजीनियरों की शिक्षा के काम में शुरु से ही मुश्किलें पड़ने लगीं। १९४९ में ६ भारतीय इंजीनियरों को शिक्षा प्राप्त करने के लिये न्यू यौर्क भेजा गया था। कुछ दिन बाद इन्हें वहाँ से हटाकर कनाडा की एक एक अमरीकी फ़ैक्टरी में भेज दिया गया।

"जनरल पोर्टर ने बताया कि अमरीका में ऐसे कारखाने बहुत मुश्किल से मिलते हैं जिनमें विदेशी कारीगरों की शिक्षा का प्रबंध किया जा सके। कैमिकल कौंसट्रक्शन कार्पोरेशन ने लड़ाई के ज़माने में जो तीन और कारखाने बनाये थे, वे प्राइवेट कम्पनियों के हाथ बेच दिये गये हैं और उनके नये प्रबंध-कर्ता (विदेशियों को) शिक्षा देने के लिये राज़ी नहीं हैं।" (वही अख़बार)

इसी कार्पोरेशन को मैसूर राज्य की सरकार से ढाई करोड़ का एक और ठेका मिला जिसके अनुसार उसे भद्रावती में ५० हज़ार टन खाद तैयार करने वाला एक कारख़ाना खोलने का काम दिया गया था।

साथ ही, इस कार्पोरेशन ने पाकिस्तान में भी एक खाद का कारखाना खोला

१९४८ के शुरु में पाकिस्तान ने भूगर्भ-शास्त्र के तेरह अमरीकी विद्वानों को खनिज पदार्थों की तलाश करने के लिये नौकर रखा। हैन्स हेन्सेन नामक एक अमरीकी सज्जन को महत्वपूर्ण चटगाँव पोर्ट-ट्रस्ट का चेयरमैन (अध्यक्ष) नियुक्त कर दिया गया।

१९४९ में, पाकिस्तान ने अमरीका की यू० एस० स्टील एक्सपोर्ट कम्पनी से समझौता किया कि वह जाँच करके पता लगायेगी कि पाकिस्तान को कितने इस्पात की ज़रूरत है और साथ ही सुझाव देगी कि कम से कम विदेशी मुद्रा खर्च करके अपनी ज़रूरत भर इस्पात पाने में पाकिस्तान की वह स्वयं किस प्रकार सहायता कर सकती है। १९५० में इस कम्पनी की पहली रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसमें सिफ़ारिश की गयी थी कि पाकिस्तान को इस्पात खुद तैयार करने के झमेले में नहीं पड़ना चाहिये, बल्कि बाहर से मंगाते रहना चाहिये। १८ अक्तूबर, १९५० को पाकिस्तान सरकार ने ऐलान किया कि उसने कम्पनी की सिफ़ारिश आम तौर पर मंज़ूर

कर ली है। २ अक्तूबर, १९५१ को जेनेवा में होनेवाले एक चुंगी सम्मेलन में पाकिस्तान प्रतिनिधि मंडल के नेता एस० ए० हसनी ने कहा कि पाकिस्तान को अपनी ज़रूरत का इस्पात नहीं खरीदने दिया जाता, और उसे लिपस्टिक, शराब और बियर खरीदने पर मजबूर किया जाता है।

संक्षेप में, १९४९ तक, अमरीकी पूंजी तो भारत या पाकिस्तान में बहुत नहीं आयी, परन्तु दोनों देशों की आर्थिक व्यवस्था की जाँच-पड़ताल करने के लिये दर्जनों अमरीकी विशेषज्ञ आ पहुँचे। उनके ज़रिये भारत तथा पाकिस्तान की अर्थ-व्यवस्थाओं के सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों की विस्तृत रिपोर्टें अमरीकी पूंजीपतियों के पास पहुँच गयीं।

१९५० के बाद आनेवाली अमरीकी पूंजी

२२ मई, १९४९ को **न्यू यॉर्क टाइम्स** ने संयुक्त राष्ट्र संघ (यू० एन० ओ०) के मुख्य कार्यालय का यह समाचार छापा :

"दुनिया की आर्थिक परिस्थितियों में जो सुधार हुआ है और इस देश में व्यापार और व्यवसाय में जो धीमापन आया है, उससे अमरीकी पूंजीपतियों में अपनी अतिरिक्त दौलत समुद्र-पार के देशों में लगाने की इच्छा बढ़ रही है।

"...यहाँ अधिकारियों का विचार है कि इस अतिरिक्त पूंजी का काफी बड़ा भाग अपने गुप्त स्थानों से निकल कर ब्राज़ील, भारत और दूसरे पिछड़े हुए देशों की विकास योजनाओं की ओर खिंच जानेवाला है।...

"संयुक्त राष्ट्र संघ कार्यालय के अधिकारियों ने इस बात को नोट किया है कि भारत अब राष्ट्रवादी भावना के उस बुखार से मुक्त हो गया मालूम होता है, जिसने उसे अगस्त १९४७ में डोमीनियन स्टेटस मिलने के बाद घेरा था, और अब वह अमरीकी पूंजी को आकर्षित करने के दृढ़ प्रयत्न कर रहा है।

"यहाँ के विशेषज्ञों की राय में ब्राज़ील और भारत जो कुछ करेंगे, उसका दूसरे छोटे और पिछड़े हुए देश अनुसरण करेंगे क्योंकि उनको अभी से यह लगने लगा है कि यदि वे राष्ट्रपति ट्रूमन के टेकनिकल

सहायता के कार्यक्रम से लाभ उठाना चाहते हैं तो उन्हें फौरन अमरीकी पूंजीपतियों को खुश करना चाहिये।"

१९४९ में २० लाख डालर की अमरीकी प्राइवेट पूंजी भारत और पाकिस्तान में आयी थी। १९५० में १ करोड़ ३० लाख डालर की पूंजी आयी। १९५१ की संख्या और भी ऊँची होगी। जैसा कि **न्यू यौर्क टाइम्स** ने बताया था कि यह बढ़ती दो कारणों से हुई: एक तो अमरीका में व्यापार-व्यवसाय के धीमा पड़ने के कारण; दूसरे, भारत और पाकिस्तान सरकारों की नीतियाँ बदल जाने के कारण। तीसरा कारण यह था कि सितम्बर १९४९ में डालर के मुक़ाबले में भारतीय रुपये की क़ीमत गिरा दी गयी थी।

इस वर्ष भारत में नयी अमरीकी पूंजी इन कारखानों में लगी:

१. १६ अक्तूबर, १९५० को कोका कोला एक्सपोर्ट कार्पोरेशन ने बोतलों में मीठा पानी भरने का अपना कारखाना दिल्ली में खोला।

२. अमरीकन साइनामाइड कम्पनी ने अतुल प्रोडक्टस डाइज एण्ड कैमिकल्स कम्पनी से समझौता किया कि वह बम्बई प्रान्त के पारनेरा नामक स्थान में दवाइयाँ और रंग बनानेवाला एक कारखाना खोलने के लिये पूंजी और टेकनिकल मदद देगी। कम्पनी का नियंत्रण कस्तूरभाई लालभाई के हाथ में है।

३. न्यू यौर्क के ई० आर० स्क्विब एण्ड सन्स ने बड़ौदा की साराभाई कैमिकल्स लिमिटेड से दवाइयाँ तैयार करने का समझौता किया।

४. १९५१ में, ग्रेनर्ड इन्टरनेशनल कम्पनी की भारत सरकार से बातचीत पूरी हो गयी। तै हुआ कि दोनों मिल कर १० लाख डालर का एक फ़ैरो-मैंगेनीज़ गलाने का कारख़ाना मध्य प्रदेश या उड़ीसा में खोलेंगे। भारत सरकार ने अपने हाथ में केवल १० प्रतिशत हिस्से ही रखे।

पाकिस्तान में, जनरल मोटर्स ने पुर्जे जोड़ कर मोटर खड़ी करने का कारखाना खोलने पर विचार करना शुरू किया। एक दूसरी अमरीकी कम्पनी टायर बनाने की फ़ैक्टरी की योजना तैयार करने लगी। मीर लायक़ अली अमरीकी सहयोग से चटगाँव में एक कागज़ की मिल खड़ी करने लगे।

२ अक्तूबर, १९५१ को पाकिस्तान के उद्योग मंत्री चौधरी नज़ीर अहमद खां ने बताया के पूर्वी बंगाल की पथरिया पहाड़ी वाले इलाक़े में ज़मीन

के नीचे छिपे तेल का पता लगाने के लिये स्टैण्डर्ड-वैकुअम ऑयल कम्पनी हवाई जहाजों के ज़रिये मक़नातीसी जाँच-पड़ताल करेगी। स्टैण्डर्ड-वैकुअम ने बताया कि उसने इस जाँच का ठेका फ़ेयरचाइल्ड एरियल सर्वेज़ को दे दिया है और यह जाँच भारत और पाकिस्तान दोनों देशों के ७३,००० वर्ग मील के इलाक़े में होगी। जाँच का मुख्य केन्द्र कलकत्ता में दमदम का हवाई अड्डा रहेगा। अप्रैल, १९५२ में यह जाँच ख़तम भी हो गयी। बताया जाता है कि अब स्टैण्डर्ड-वैकुअम कम्पनी जाँच के नतीजों पर ग़ौर कर रही है।

निकट भविष्य में भारत में सबसे अधिक पूंजी स्टैण्डर्ड-वैकुअम और कैलटेक्स कम्पनियाँ लगाने वाली हैं। वे तेल साफ़ करने की फ़ैक्टरियाँ खोलेंगी जिन पर ७ करोड़ डालर खर्च होंगे। बिलकुल, इसी ढंग का एक तीसरा कारख़ाना अंग्रेज़ कम्पनी बरमा-शैल बनायेगी और तीनों मिला कर तीस लाख टन साफ़ पेट्रोल और तेल की दूसरी चीज़ें तैयार कर सकेंगी।

विशेष राजनीतिक महत्व की बात यह है कि इन तेल कम्पनियों से ठीक उस समय समझौता हुआ जब ईरान अपने तेल उद्योग का राष्ट्रीकरण करने की कोशिश कर रहा था। बल्कि, कहा गया कि अब ईरान से तेल आने में हज़ार झमेले पड़ सकते हैं, इसलिये इस तरह के कारख़ाने खोलना ज़रूरी है। दूसरे शब्दों में, भारत सरकार ने पड़ौस के एक मित्र देश के सर्वथा उचित अधिकारों की परवा न की और उल्टे पश्चिमी ताक़तों के हाथ में एक नया अड्डा सौंप दिया।

यह कहना बिलकुल ग़लत है कि इन समझौतों से भारत को लगातार और सस्ते भाव पर तेल मिलता रहेगा। यदि तेल के आने में कठिनाई हो रही थी, तो उसकी ज़िम्मेदारी ईरान सरकार पर नहीं थी, बल्कि उन तेल कम्पनियों पर थी जिन्होंने ईरान सरकार पर दबाव डालने के लिये उसका बहिष्कार कर रखा था और उन सरकारों पर थी जो अपनी फ़ौजी ज़रूरतों के लिये मध्य-पूर्व का अधिकतर तेल हड़प लेती हैं। तेल के ऊँचे भाव की ज़िम्मेदारी संसार की चन्द बड़ी तेल कम्पनियों पर है जिन्होंने दुनिया के बाज़ार को अपनी मुट्ठी में कर रखा है। ईरान में तेल निकालने का खर्चा अमरीका से बहुत कम बैठता है, परन्तु ये तेल कम्पनियाँ ईरान में भी

उतना ही दाम ही वसूल करती हैं जितना दाम अमरीका में। यदि भारत ने ईरान का समर्थन किया होता तो अंग्रेज़-अमरीकी कम्पनियों का एकाधिकार टूट जाता, हमें वरावर तेल मिलते रहने की गारंटी हो जाती और भाव भी सस्ता हो जाता।

परन्तु, भारत सरकार ने उल्टे अमरीकी और अंग्रेज़ तेल कम्पनियों से समझौता किया। इसके पहले भारतीय कोयले से वनावटी तेल वनाने की संभावनाओं की सरकार जाँच करा चुकी थी। जाँच की रिपोर्ट तो प्रकाशित नहीं हुई थी, परन्तु उद्योग मंत्री ने १८ सितम्बर, १९५१ को पार्लामेंट में वताया था कि विशेषज्ञों की राय में वनावटी पेट्रोल वनाने का कारख़ाना विना वहुत ख़र्च के हिन्दुस्तान में खोला जा सकता है। इस कारख़ाने में तैयार होने वाला हवाई जहाज़ों का पेट्रोल सवा वारह आने फ़ी गैलन के भाव पर और मोटर का पेट्रोल साढ़े दस आने फ़ी गैलन के भाव पर वेचा जा सकेगा और तव भी कारख़ाने को ११ प्रतिशत की दर से मुनाफ़ा होगा। इस तरह का कारख़ाना खोला जाता तो एक ऐसा उद्योग शुरू होता जिसकी वुनियाद भारतीय साधनों पर रखी जाती और जिससे भारत के आर्थिक विकास में वहुत मदद मिलती। परन्तु सरकार ने वनावटी पेट्रोल वनाने की पूरी योजना को दाख़िल दफ़्तर कर दिया और इसके विपरीत विदेश से कच्चा तेल मंगा कर साफ़ करने वाली विदेशी कम्पनियों पर निर्भर करने का फ़ैसला किया।

भारत के लोगों के लिये यह वात भी कम महत्वपूर्ण नहीं थी कि अमरीका वाले ख़ास तौर पर अपने सैनिक हितों को ध्यान में रख कर तेल साफ़ करने के कारख़ाने खोलना चाहते थे। १ दिसम्बर, १९५१ को **न्यू यॉर्क टाइम्स** ने स्टैण्डर्ड-वैकुअम तेल कम्पनी के साथ भारत सरकार के समझौते के वारे में लिखा कि वह दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण है: एक तो उससे तेल साफ़ करने के गैर-कम्युनिस्ट कारख़ाने फ़ारस की खाड़ी के पूर्व में फैले जायेंगे; दूसरे, पहली वार वड़े पैमाने पर प्राइवेट अमरीकी पूंजी भारत में प्रवेश करेगी। दूसरी दो तेल कम्पनियों की योजनाओं का ज़िक्र करते हुए उसने आगे लिखा:

"कैलटेक्स कम्पनी अपना कारख़ाना विज़गापट्टम में या उसके नज़दीक वनायेगी जो पूर्वी तट पर जहाज़ वनाने का एक केन्द्र है; और

वर्मा-शैल कम्पनी बम्बई में कारखाना खोलेगी। इसलिये, सैनिक दृष्टि से दोनों कारखानों के बीच काफ़ी बड़ी दूरी रहेगी।

"भारत के एक तेल साफ़ करने वाले देश के रूप में सामने आने से पूरब का कच्चा तेल एक ऐसे देश में साफ़ होने के लिये जा सकेगा जहाँ इसकी पहले कोई बड़ी सुविधा न थी। इससे लड़ाई के ज़माने में पनडुब्बियों के हमलों का खतरा कम हो जायगा, क्योंकि यदि ये कारखाने न खुलते तो साफ़ तेल बड़े लम्बे फ़ासलों से जहाज़ों पर ढोकर लाना पड़ता।

"यह मान कर कि दूसरे विश्व युद्ध में भारत, अन्त में, अमरीका का ही साथ देगा—जैसा कि सभी पश्चिमी पर्यवेक्षक यहाँ मानते हैं और जिसका यह समझौता एक नया सबूत है—यदि भारत में तेल साफ़ करने के कारखाने मौजूद रहेंगे तो हमें दूसरी जगहों में, जो लड़ाई के सम्भावित क्षेत्र से और भी दूर होंगी, तेल साफ़ करने की फ़ैक्टरियाँ खोलने के लिये धन, जन और शक्ति नहीं खर्च करनी पड़ेगी और हमारी भारी बचत हो जायगी।"

इससे बिलकुल साफ़ हो जाता है कि अमरीका वाले तेल साफ़ करने के कारखानों को सबसे पहले सैनिक महत्व की चीज़ें मानते हैं और भारत को अपना सैनिक अड्डा या रसद का केन्द्र समझते हैं। बम्बई और विज़गापटम को वे "लड़ाई के सम्भावित क्षेत्र" के नजदीक मानते हैं जिससे प्रकट होता है कि हमारे देश तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया को उनकी योजनाओं से कितना बड़ा खतरा है।

अब इन बातों को ध्यान में रखते हुए उन समझौतों की शर्तों पर विचार कीजिये जो हमारी सरकार ने तेल कम्पनियों के साथ किये हैं। समझौतों के पूरे मसविदे प्रकाशित नहीं किये गये हैं, इसलिये अखबारों में जो सारांश निकला है, हमें उसी से संतोष करना पड़ेगा।

अप्रैल, १९४८ में पार्लमेंट ने नियम बनाया था कि प्रमुख उद्योगों में ५१ प्रतिशत हिस्से हिन्दुस्तानियों के हाथों में रहेंगे। यह नियम अब त्याग दिया गया। सरकार ने स्वीकार किया कि केवल २५ प्रतिशत हिस्से हिन्दुस्तानियों के लिये सुरक्षित रहेंगे और वे भी विशेष हिस्से (प्रिफ़र्ड शेयर)

होंगे। जाहिर है कि इन कम्पनियों को खूब मुनाफ़ा होने वाला है और इसलिये साधारण हिस्से अधिक लाभप्रद होंगे। भारतीय नागरिक उन्हें नहीं ख़रीद सकते। इस तरह पूरा नियंत्रण अमरीका वालों के हाथों में रहेगा। और वे ही मुनाफ़ों की मोटी मलाई गटकेंगे। सिर्फ़ थोड़े से हिन्दुस्तानियों को छूंछा छांछ चाटने को मिलेगा और अमरीका वाले उनसे शिखंडी का काम लेंगे।

दूसरे, अगले पच्चीस साल तक सरकार इन कम्पनियों के राष्ट्रीकरण का सवाल न उठा सकेगी। उसके बाद भी, " उचित " मुआवज़ा देकर ही ऐसी कोई कार्रवाई की जा सकेगी। अप्रैल १९४८ में पार्लामेंट ने अपने औद्योगिक नीति वाले प्रस्ताव में दस साल तक राष्ट्रीकरण को स्थगित रखने की बात कही थी। लेकिन, इन कम्पनियों से २५ साल का वादा कर लिया गया; यानी कांग्रेसी सरकार ने अपने बाद आने वाली सरकारों को भी बांध दिया।

कम्पनियों को यह हक़ दिया गया है कि वे जब चाहें, कारख़ाने बन्द करके अपनी पूंजी मय मुनाफ़े के यहां से उठा ले जायें। परन्तु सार्वभौम कहलाने वाली सरकार को उन्हें अपने हाथ में लेने का भी अधिकार नहीं है।

तीसरे, सरकार ने स्वीकार किया कि मुनाफ़ों की रक़म बाहर भेजने के लिये वह कम्पनियों के वास्ते विदेशी मुद्रा का प्रबंध करेगी। समझौते में यह शर्त भी नहीं रखी गयी कि यदि मुनाफ़े की रक़म बाहर भेजने से देश का नुक़सान होगा, यदि विदेशी मुद्रा का प्रबंध करने से देश का घाटा होगा, तो मुनाफ़े की रक़म बाहर न भेजी जा सकेगी। कहा जाता है कि जब तेल देश में ही साफ़ होने लगेगा, तो विदेशी पेट्रोल ख़रीदने पर जो विदेशी मुद्रा ख़र्च होती है, उसकी बचत हो जायगी। परन्तु वास्तव में, इसकी भी कोई आशा नहीं है, क्योंकि जितनी बचत होगी उससे अधिक रक़म मुनाफ़ों के रूप में बाहर भेजनी पड़ जायेगी।

चौथे, सरकार ने कुछ और भी बड़ी असाधारण सुविधाएँ विदेशी तेल कम्पनियों को दी है। बाहर से जो कच्चा तेल आयेगा, उस पर सरकार चुंगी नहीं लगायेगी। विदेशों से जो मशीनें आदि आयेंगी उन पर प्रचलित नियम से बहुत कम यानी सिर्फ़ सवा ५ प्रतिशत चुंगी लगेगी। नये कारख़ानों पर सरकार का इन्डस्ट्री (डेवेलपमेण्ट एण्ड रेग्यूलेशन) एक्ट (क़ानून) लागू

नहीं होगा, जो देश की बाक़ी लगभग सभी प्राइवेट कम्पनियों पर लागू है। इसका मतलब यह है कि तेल कम्पनियाँ जब चाहें उत्पादन को कम या बन्द कर सकेंगी और सरकार उत्पादन जारी रखने के लिये भी कारख़ानों की व्यवस्था को अपने हाथ में न ले सकेगी। स्टैण्डर्ड-वैकुअम कम्पनी के विशेषज्ञ और इंजीनियरों को सुविधा मिली है कि वे बम्बई के बन्दरगाह में अपनी इच्छानुसार सुधार कर सकते हैं जिसका ख़र्चा बम्बई सरकार और बम्बई पोर्ट ट्रस्ट के मत्थे रहेगा।

पाँचवे, सरकार ने माना है कि इन कारख़ानों में जो साफ़ तेल तैयार होगा, वह उसी भाव पर बेचा जायगा जिस भाव पर विदेशों से आया हुआ तेल विकता है। यानी, नये कारख़ाने बनने से भारतीय ख़रीदारों को कोई लाभ नहीं होगा। तेल का भाव तक सस्ता न होगा। इस तरह सरकार ने विदेशी कम्पनियों को यह छूट दे दी है कि वे भारतीय जनता को मनमाने ढंग से लूटें।

संक्षेप में, इन समझौतों से भारत के आर्थिक हितों की रक्षा नहीं होगी, बल्कि भारतीय जनता की जेब काट कर विदेशी पूंजीपतियों की थैलियां भरी जायेंगी।

इसके अलावा, इन समझौतों के ज़रिये चूँकि अमरीकी कम्पनियों को भारतीय क़ानूनों से बरी कर दिया गया है, इसलिये, स्पष्ट है कि विदेशी पूंजी को आकर्षित करने के नाम पर, वास्तव में, उनके द्वारा भारत की स्वाधीनता को जकड़ा जा रहा है।

भारत में अमरीकी पूंजी की हाल की प्रवृत्तियाँ

तेल कम्पनियों के साथ हुए समझौते, दूसरे क्षेत्रों में हुए समझौतों से अलग और सबसे निराली कोई चीज नहीं हैं। २ जनवरी, १९५२ को **न्यू योर्क टाइम्स** ने समाचार छापा था कि भारत में "भविष्य में जो भी विदेशी पूंजी जायेगी, वह यही शक्ल अख़्तियार करेगी।"

लगता है कि निकट भविष्य में बहुत बड़े पैमाने पर अमरीकी पूंजी भारत में प्रवेश करने वाली है। राष्ट्रपति ट्रूमन के कार्यक्रम के चौथे सूत्र में

इसका इशारा किया गया था। और अमरीकी संस्थाओं के साथ-साथ भारत के बड़े पूंजीपति और ऊँचे सरकारी अफ़सर भी इसी की कोशिश कर रहे हैं।

३ नवम्बर, १९५१ को पाँच सप्ताह तक अमरीका का दौरा करने के बाद सेठ घनश्यामदास बिड़ला ने सुझाव पेश किया था कि एक भारत-अमरीकी विकास कार्पोरेशन बनाया जाय जिसमें दोनों देशों के पूंजीपति और सरकारी अफ़सर रहें और जो अमरीका और ब्राज़ील के मौजूदा संयुक्त संगठन के ढंग पर ही काम करे। इस कार्पोरेशन को बिड़ला जी भारत की आर्थिक व्यवस्थ का भाग्यविधाता बनाना चाहते थे।

२९ जनवरी, १९५२ को राजदूत बी. आर. सेन ने व्यापार एवं उद्योग की सुदूर पूर्व-अमरीका समिति (फार ईस्ट-अमरीका काउंसिल ऑफ़ कौमर्स एण्ड इन्डस्ट्री) के सामने बोलते हुए कहा था कि भारत में दो प्रकार की पूंजी लगाने से अमरीकी पूंजीपतियों का फ़ायदा हो सकता है।

> "उन्होंने भारत में अमरीकी पूंजी लगाने का पहला ढंग यह बताया कि विभिन्न भारतीय उद्योगों को बल पहुँचाने के लिये कम्पनियाँ बनायी जायें जिनमें अमरीकी कम्पनियाँ शरीक हों...अमरीकी पूंजी या तो नकद रुपये की शकल में या सामान के रूप में आये और भारत सरकार भी उसमें शरीक हो ताकि विदेशी कम्पनियाँ नयी कम्पनी की साख पर विश्वास कर सकें।
>
> "साथ ही उन्होंने ज़ोर दिया कि पूंजी लगाने वाली एक ऐसी संयुक्त कम्पनी बनायी जाय जिसमें अमरीका और भारत दोनों देशों की प्राइवेट पूंजी शुरू में क्रमशः ७०:३० के अनुपात में शरीक हो।" ('न्यू यौर्क टाइम्स,' ३० जनवरी, १९५२)

भारतीय पूंजीपतियों और सरकारी अधिकारियों ने जो निमंत्रण दिया था उसका अमरीका की ओर से स्वागत हुआ। २५ फ़रवरी, १९५२ को बम्बई में इंडियन मर्चेन्टस चेम्बर के सामने बोलते हुए अमरीकी राजदूत, चेस्टर बाऊल्स ने संयुक्त भारत अमरीकी कम्पनियों का स्वागत किया।

"मि० बाऊल्स ने कहा कि यह एक बड़ी शुभ बात होगी यदि अमरीकी तथा भारतीय कम्पनियाँ पारस्परिक हित के लिये साझेदारी में काम करने लगें। ऐसा होने से, कुछ हद तक, भारत की सामान तथा विदेशी पूंजी की सख़्त ज़रूरत हल हो जायगी। मि० बाऊल्स ने बताया कि जल्द ही दिल्ली के उनके अफ़सरों में एक व्यक्ति अलग से इस बात की संभावनाओं का पता लगाने के लिये नियुक्त किया जायगा और एक अफ़सर वाशिंग्टन में भी इसी काम के लिये रहेगा।" ('हिन्दू,' २६ फरवरी, १९५२)

लगता है कि भारत तथा अमरीका के बड़े पूंजीपतियों के बीच "अनैतिक विवाह" कराने के लिये पुरोहिती का काम दोनों देशों की सरकारों ने अपने ज़िम्मे ले लिया है। लड़ाई के ज़माने में जो संयुक्त कम्पनियाँ बनी थीं, उनसे इन नयी मिली-जुली कम्पनियों का अधिक घातक प्रभाव पड़ने वाला है। कारण कि एक तो ये कम्पनियाँ भारत सरकार की आर्थिक नीति में अनेक परिवर्तन होने और विदेशी पूंजी को अनेक सुविधाएँ दिये जाने के बाद खुलने वाली हैं; दूसरे, दोनों ओर की सरकारें सक्रिय रूप से उनमें भाग लेने वाली हैं। इन मिली-जुली कम्पनियों से हमारे देश में नये विदेशी निहित स्वार्थ पैदा हो जायेंगे जो भारतीय खरीदारों की जेब काट कर अपनी थैलियाँ भरा करेंगे। उनसे भारत के बड़े पूंजीपतियों की ताक़त और बढ़ जायगी और छोटे पूंजीपतियों का व्यवसाय में टिकना मुश्किल बनता जायगा। उनसे देश की आर्थिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण भागों पर विदेशियों का प्रभुत्व क़ायम हो जायगा, जिसके कारण बाद में भी भारत किसी नयी दिशा में आर्थिक विकास न कर सकेगा। पंडित नेहरू ने हाल में कहा था कि वर्तमान पीढ़ी के भाग्य में तो केवल जी-तोड़ कर मेहनत करना ही लिखा है। परन्तु क्या उन्होंने कभी यह भी सोचा कि इस मेहनत से अगली पीढ़ी के लिये केवल नये बंधनों और नयी जंजीरों की ही रचना हो रही है।

छठा अध्याय

भारत को अमरीकी मदद

पूंजी के अलावा, भारत के बड़े अफ़सर और बड़े पूंजीपति अन्य मदद के लिये भी अमरीका का मुँह जोह रहे हैं। वे समझते हैं कि अमरीकी मदद से भारत की आर्थिक समस्याओं को हल करने में बड़ी आसानी हो जायेगी। जितनी और जिस तरह की मदद की वे आशा लगा रहे हैं, उससे लगता है कि वे भारत के आगे के विकास के लिये अमरीका की मदद पर ही अधिक निर्भर करते हैं। कोलम्बो योज़ना में अगले ६ साल में ८०८ करोड़ रुपये की रक़म विदेशों से लेने की बात थी। सरकार की राष्ट्रीय योजना समिति ने पांच साल में ६७२ करोड़ रुपये की मदद लेने की बात सोची है। दिसम्बर १९४९ में जो भारत-अमरीका सम्मेलन हुआ था, उसमें बिड़ला के पत्र **इस्टर्न इकोनोमिस्ट** के सम्पादक ई. डा कौस्टा साहब ने अगले चार साल तक प्रति वर्ष २५० करोड़ रुपये अमरीका से मदद के रूप में लेने का सुझाव रखा था। अतः इस बात पर विचार करना बहुत आवश्यक है कि अमरीकी मदद से भारत को कितना लाभ या नुक़सान हुआ है।

२८ फ़रवरी १९४७ को (उस वक्त तक भारत ने सरकारी तौर पर मदद नहीं मांगी थी) राष्ट्रपति ट्रूमन ने ऐलान किया था :

> "सरकार के अफ़सर कई बार यह बात साफ़ कर चुके हैं और मैं उसे फिर दुहराता हूँ कि हम भारत की आर्थिक विकास की योजनाओं में ऐसे सभी उचित उपायों से मदद करने को तैयार हैं जिनसे दोनों देशों का और संसार का भला हो।" ('न्यू यौर्क टाइम्स,' १ मार्च १९४७)

५ अगस्त, १९४८ को जब राजदूत सर बेनेगल रामाराव ने अपना अधिकार-पत्र पेश किया तो राष्ट्रपति ने फिर इन शब्दों को दोहराया।

अमरीका की सरकार से भारत और पाकिस्तान को अभी तक जो मदद मिली है, उसे नीचे लिखे शीर्षकों में बाँटा जा सकता है :

(१) विश्व बैंक से लिये गये क़र्ज़े;

(२) ट्रूमन के चौथे सूत्र के अन्तर्गत मिलने वाली सहायता;

(३) संकट-कालीन अन्न सहायता;

(४) पारस्परिक सहायता क़ानून के अन्तर्गत मिलनेवाली मदद ।

विश्व बैंक के क़र्ज़े

विश्व बैंक से मिलनेवाले क़र्ज़ों को शायद अमरीकी मदद में शामिल करना उचित नहीं है। परन्तु, सभी जानते हैं कि विश्व बैंक के अधिकतर हिस्से अमरीका के हाथ में हैं और उसने क़र्ज़ भी अधिकतर अमरीकी पूंजीपतियों से ही ले रखा है। विश्व बैंक का अध्यक्ष हमेशा कोई अमरीकी ही रहता है और बिना अमरीका की मदद के विश्व बैंक से किसी को क़र्ज़ा नहीं मिल सकता।

अभी तक विश्व बैंक से भारत को ६२५ लाख डालर क़र्ज़ मिले हैं। पहला क़र्ज़ा १८ अगस्त, १९४९ को रेल के इंजिन खरीदने के लिये मिला था, जिसकी रक़म ३४० लाख डालर थी। दूसरा क़र्ज़ा सितम्बर, १९४९, में ट्रैक्टर ख़रीदने के लिये मिला था जिसकी रक़म १०० लाख डालर थी। ये ट्रैक्टर काँस के जंगल साफ़ करके नयी ज़मीन तोड़ने के लिये चाहिये थे। और तीसरा क़र्ज़ा १८ अप्रैल, १९५० को बोकारो-कोनार बिजली स्टेशन के लिये मिला था जिसकी रक़म १८५ लाख डालर होती थी।

२७ मार्च, १९५२ को विश्व बैंक ने पाकिस्तान के लिये अपने पहले क़र्ज़े का ऐलान किया। उसे २७२ लाख डालर का क़र्ज़ रेल के इंजिन और दूसरा सामान ख़रीदने के लिये दिया गया।

पहले इन कर्जों के बारे में चन्द मोटी-मोटी बातों पर ग़ौर कीजिये।

पहली बात यह है कि इन कर्ज़ों पर भारत को ४ प्रतिशत की दर पर सूद देना पड़ता है जिसे किसी माने में भी सस्ती दर नहीं कहा जा सकता। पाकिस्तान को ४$\frac{५}{८}$ % की दर पर सूद देना पड़ता है।

दूसरे, विश्व बैंक में भारत की जितनी पूंजी लगी हुई है—अर्थात ४,००० लाख डालर—उसे देखते हुए ये कर्ज़े बहुत बड़े नहीं हैं। इस पूंजी में से भारत ८०० लाख डालर की रक़म विश्व बैंक को दे भी चुका है। पाकिस्तान का हिस्सा भारत का एक चौथाई है।

तीसरे, ये क़र्ज़े अमरीका के अन्दर खर्च होने के लिये हैं। रेल के इंजिन और ट्रैक्टर अमरीका में ही खरीदे गये। बोकारो-कोनार बिजली स्टेशन की योजना तैयार करने और उसे बनाने आदि का ठेका कुलजियान कार्पोरेशन नामक एक अमरीकी कम्पनी को दिया गया। इस प्रकार कर्ज़े देकर विश्व बैंक, वास्तव में, अमरीकी माल की बिक्री बढ़ा रहा था।

बैंक अमरीकी हित में चलता है, इसका एक सबूत यह है कि उसने काँस हटाने की योजना को चुना। भारत सरकार का केन्द्रीय ट्रैक्टर विभाग पहले से ही काँस हटाने का काम कर रहा था। परन्तु बैंक ने उसे क़र्ज़ा उसी वक्त दिया जब कि मेजर कौन्नर्स नामक एक अमरीकी नागरिक उस विभाग का प्रमुख बनाया गया। यह क़र्ज़ा १८० ट्रैक्टर खरीदने के लिये था। क़र्ज़ा मिलने के बाद मेजर कौन्नर्स उस विभाग से अलग हो गये और योजना की देखरेख करने के लिये बैंक ने उन्हें अपना सलाहकार इंजीनियर नियुक्त कर लिया। इसी बीच विभाग में कुछ और अमरीकी नौकर रख लिये गये।

चौथे, ये क़र्ज़े केवल यातायात और खेती में सुधार करने के लिये हैं। ध्यान रहे कि अमरीकी सरकार के विभिन्न विभागों की भी यही राय है कि भारत को अपने विकास की योजना बनाते हुए इन्हीं दो विभागों पर खास ज़ोर देना चाहिये। इन कर्ज़ों में से एक भी ऐसा नहीं है जिससे भारत के औद्योगीकरण में मदद मिलती हो। इसके पहले कई हिन्दुस्तानी पूंजीपति नये उद्योग खोलने के लिये बैंक से उधार मांग चुके हैं। परन्तु बैंक ने किसी की न सुनी। उल्टे, उसने भारत सरकार को यह सलाह दी कि उसे रेल के इंजिन बनाने के पचड़े में न पड़ना चाहिये। विश्व बैंक के अध्यक्ष मि० यूजीन ब्लैक ने न्यू यौर्क में २३ अक्तूबर, १९४९ को बोलते हुए पहले क़र्ज़ के बारे में यह फरमाया :

"संक्षेप में, हमारे सलाहकार ने हमसे ज़ोरदार सिफ़ारिश की है कि अमरीका और कनाडा से लगभग ६५० रेल के इंजिन और दूसरे

पुर्जे मंगाने के लिये बैंक को क़र्ज़ा देना चाहिये। १८ अगस्त को जो पहला क़र्ज़ बैंक ने भारत को दिया, उसका यही उद्देश्य था। यह क़र्ज़ा ३४० लाख डालर का था...।

" (भारत) सरकार ने बैंक के सामने रेल के इंजिन बनाने की भी एक योजना रखी थी।

" हमारे सलाहकार ने इसका सख्त विरोध किया ...।"

पांचवीं बात यह है कि ये क़र्ज़े उसी वक्त मिले हैं जब अमरीका की नीति में परिवर्तन हुआ है। जब तक भारत सरकार ने अमरीकी पूंजी की बुनियादी मांग मान नहीं ली, तब तक उसे विश्व बैंक से भी कोई क़र्ज़ा नहीं मिला। पहला क़र्ज़ा पंडित नेहरू की अमरीका यात्रा के समय दिया गया। भारत सरकार को खुश करने के लिये अमरीका जो कोशिश कर रहा था, यह कर्ज़ा भी उसी का भाग था। आख़िरी क़र्ज़ा अप्रैल १९५० में दिया गया। उस वक्त तक भारत की चीन सम्बंधी नीति से अमरीका की नाराजगी शुरू नहीं हुई थी। हम क़र्ज़ों का सम्बंध अमरीकी सरकार की नीति से जबर्दस्ती नहीं बैठा रहे हैं। इसका सबूत चाहिये तो बैंक द्वारा आम तौर पर कर्ज़ दिये जाने के ढंग पर एक नजर डाल जाइये। पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया को क़र्ज़ा बिल्कुल नहीं दिया गया। यूगोस्लाविया को क़र्ज़ा मिला तो उस वक्त जब अमरीकी सरकार खुलेआम टीटो सरकार की तारीफ़ करने लगी थी।

अन्तिम बात यह है कि विश्व बैंक से कर्ज़ लेनेवालों को कुछ ग़ैर-आर्थिक शर्तें भी माननी पड़ती हैं। क़र्ज़े की रक़म से जो सामान ख़रीदा जायगा, उसकी बैंक के लोग जाँच करेंगे। यही नहीं, वे सारे हिसाब-किताब और कागज़-पत्तर पर निगाह रखेंगे और चाहेंगे तो उनकी नक़ल उतार लेंगे। जिसके लिये क़र्ज़ा दिया गया हो, उस पूरी योजना की भी बैंक के लोग देखरेख करेंगे। यहाँ तक कि इन शर्तों की वजह से ब्रिटिश कोलोनियल डेवलेपमेन्ट कार्पोरेशन ने विश्व बैंक से कर्ज़ा लेने से ही इनकार कर दिया था।

इसलिये, कोई आश्चर्य नहीं यदि बैंक की नीतियों से लोगों में असंतोष हुआ हो। भारतीय प्रतिनिधि सर रामास्वामी मुदालियर ने १६ फरवरी, १९५० को संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक एवं सामाजिक काउंसिल की बैठक में विश्व बैंक की शिकायत करते हुए यह कहा था:

"बैंक-मालिकों की आम विशेषता के मुक़ाबले में मैंने इनसे (यानी विश्व बैंक के मालिकों से—अनु०) थोड़ी अधिक सहानुभूति की, थोड़ी अधिक उदारता की और थोड़ा कम तार्किक होने की आशा की थी।"

ईरान के प्रतिनिधि खोसरोवानी ने सीधे-सादे शब्दों में संयुक्त राष्ट्र संघ की जेनरल असेम्बली के सामने २७ नवम्बर, १९५१ को कहा था :

"विश्व बैंक सही माने में अमीरों का बैंक है, अमीरों द्वारा चलाया जाता है, अतः स्वाभाविक रूप से अमीरों के हित में काम करता है।"

ट्रूमन कार्यक्रम के चौथे सूत्र के मातहत मिलने वाली मदद

भारत ने अमरीका के साथ चौथे सूत्र के समझौते पर २८ दिसम्बर १९५० को दस्तख़त किया और पाकिस्तान ने ९ फ़रवरी, १९५१ को। इन समझौतों के मातहत भारत को १२ लाख डालर की मदद मिली और पाकिस्तान को ५ लाख डालर की।

इन समझौतों में किसी विशेष योजना का ज़िक्र नहीं था; केवल मदद पानेवाले देश के कर्तव्य उनमें बताये गये थे।

भारत के साथ जो समझौता हुआ, उसमें कहा गया था कि चौथे सूत्र के कार्यक्रम में जो ख़र्च होगा, उसका "एक उचित भाग" भारत के जिम्मे रहेगा और वह कार्यक्रम के "विज्ञापन और प्रचार का पूरा प्रबंध" करेगा। "उचित भाग" में अमरीकी अधिकारियों के दफ़्तरों का ख़र्च और उनके भारत के अन्दर आने-जाने का ख़र्च भी शामिल था। अमरीका से जो विशेषज्ञ इस कार्यक्रम के मातहत आयेंगे, उन्हें वे सब विशेषाधिकार और राजदूतों जैसी सुविधाएँ मिलेंगी जो सं. राष्ट्र संघ के विशेषज्ञों को मिलती हैं। भारत यदि और किसी देश से अथवा अन्तरराष्ट्रीय संगठनों से टेकनिकल मदद मांगेगा तो उसे इसकी पूरी इत्तिला अमरीका को देनी पड़ेगी। ज़ाहिर है कि इस शर्त से भारत की स्वाधीनता को चोट पहुँचती है।

इसके बाद, अलग-अलग योजनाओं के बारे में समझौते हुए और अमरीका के दर्जनों विशेषज्ञ भारत आने लगे। पहले बारह विशेषज्ञों में ६ खेती के विशेषज्ञ थे, दो अमली भूगर्भ-शास्त्र के, एक बिजली कल खड़ी

करने के, एक गंधक का तेज़ाब बनाने के, एक जीव-जन्तु (बायोलोजिकल प्रोडक्ट) के और एक सामाजिक शिक्षा के। भूगर्भ-शास्त्र के दो विशेषज्ञों में से एक, जॉन ए. स्त्राजेक, इसके पहले क्यूबा में मैंगनीज की खोज कर चुके थे। इस सूची को देखने से ही पता चल जाता है कि अमरीकी मदद का जोर उद्योग-धंधों पर नहीं, बल्कि खेती पर और सैनिक दृष्टि से आवश्यक खनिज पदार्थों पर है।

प्रश्न है कि क्या कार्यक्रम के चौथे सूत्र की मदद ऐसी है कि इतना खर्च करके और ऐसी शर्तें मान कर भी हम उसे पाने की कोशिश करें? इसमें बहुत सन्देह है। अमरीकी विशेषज्ञों को बड़ी ऊँची-ऊँची तनख़ाहें और मोटे भत्ते देने पड़ते हैं। और उनमें से अधिकतर भारतीय इंजीनियरों या वैज्ञानिकों से अधिक योग्यता नहीं रखते।

हाँ, अमरीका को इस कार्यक्रम से जरूर बहुत लाभ है। थोड़ा सा पैसा खर्च करने के एवज़ में उसके विशेषज्ञ भारत आकर स्वतंत्रतापूर्वक हमारे देश के आर्थिक साधनों की जाँच-पड़ताल कर ले जायेंगे। भारत की आर्थिक व्यवस्था के कमज़ोर और मज़बूत अंगों की पूरी-पूरी इत्तिला अमरीका पहुँच जायगी। भारत यदि कोई योजना बनाता है तो वह बिना अमरीका की रज़ामन्दी के अमल में नहीं आ सकती। यदि भारत दूसरी सरकारों से या अन्तरराष्ट्रीय संगठनों से कुछ बातचीत करता है, तो उसकी सूचना तत्काल अमरीका पहुँच जाती है। इसके अतिरिक्त यह शक निराधार नहीं है कि 'चौथे सूत्र' के विशेषज्ञ टेकनिकल मदद के अलावा कुछ और काम भी करते हैं; वरना इस कार्यक्रम के बजट (हिसाब) को गुप्त रखने की क्या वजह हो सकती है? यह बात भी काफ़ी शक पैदा करती है कि २४ जुलाई, १९५१ को होरेस होम्स ने अमरीका की हाउस (प्रतिनिधि सभा) की वैदेशिक सम्बंध समिति के सामने, भारत में इस 'चौथे सूत्र' के विशेषज्ञ के रूप में अपने काम की जो रिपोर्ट दी थी, उसका एक भाग गुप्त रखा गया है।

संकट-कालीन अन्न सहायता

युद्ध के बाद से ही भारत अमरीका से गेहूँ और दूसरा अनाज ख़रीदने पर करोड़ों डालर ख़र्च कर चुका है। जब १९४९ में अन्न सम्बंधी स्थिति और

बिगड़ी तो भारत सरकार ने अमरीका का मुँह जोहा। अगस्त में २८० लाख मन अमरीकी गेहूँ के लिये बातचीत शुरू हो गयी।

अक्तूबर में अपनी अमरीका यात्रा के दौरान में पं. नेहरू ने बार-बार इस बात का ज़िक्र किया कि भारत को अमरीका से गेहूँ की शक्ल में मदद मिलने की आशा है। २६ अक्तूबर को विदेश मंत्री एचीसन ने बताया कि कि अमरीकी विदेश विभाग और भारतीय सरकारी अफ़सर भारतीय मैंगनीज़ और अबरक की अमरीकी गेहूँ से अदला-बदली करने के बारे में बातचीत कर रहे हैं। नवम्बर के अन्त तक अमरीका का कमौडिटी क्रेडिट कार्पोरेशन भारतीय प्रतिनिधियों से सौदेबाज़ी के बारे में खींचतान ही करता रहा। २८ दिसम्बर को, मजबूर होकर भारत को बातचीत तोड़ देनी पड़ी क्योंकि समझौते की कोई आशा नज़र नहीं आती थी।

बातचीत क्यों टूट गयी? क्या इसलिये कि अमरीका में गेहूँ की कमी थी? नहीं। अमरीकी सरकार के गोदाम गेहूँ से फटे पड़ रहे थे। अनाज को जमा करने और लाने-लेजाने पर ही अमरीकी सरकार को २,३७,००० डालर प्रति दिन खर्च करना पड़ रहा था। भारतीय समाचार पत्रों ने बताया कि बातचीत असल में इसलिये टूटी कि अमरीका कुछ ऐसी शर्तों पर अड़ा हुआ था जिनका अनाज के सौदे से कोई सम्बंध न था। उधर पंडित नेहरू यह अच्छी तरह समझते थे कि बहुत से भारत-वासियों के मन में उनकी अमरीका यात्रा के उद्देश्य के बारे में काफ़ी शक है और वे कोई ऐसा समझौता नहीं करना चाहते थे जिससे इन सन्देहों को आधार मिलता हो।

१९५० में अन्न की स्थिति और बिगड़ती गयी और जून तथा अक्तूबर में अमरीका के आर्थिक सहयोग व्यवस्था (मार्शल योजना का संचालन करने वाला विभाग) के ज़रिये भारत सरकार ने कुछ मोटा अनाज खरीदा।

नवम्बर में, भारत सरकार इस नतीजे पर पहुँची कि उसके पास इतने डालर नहीं हैं कि वह अपनी ज़रूरत भर का अनाज अमरीका के बाज़ारों में खरीद सकेगी। इसलिये, उसने गैर-सरकारी तौर पर पता लगाया कि अमरीका से उसे क़र्ज़ मिल सकेगा या नहीं। १५ दिसम्बर को श्रीमती पंडित ने सरकारी तौर पर अमरीकी वैदेशिक विभाग से ५ करोड़ ६० लाख मन अनाज कर्ज़ के रूप में मांगा। इस वक्त अमरीका के पास २८ करोड़ मन फ़ालतू गेहूं था।

जनवरी यों ही बीत गयी और अमरीकी सरकार ने भारत के अनुरोध पर कोई कार्रवाई नहीं की। उल्टे, वैदेशिक विभाग से इस प्रकार के संकेत मिलने लगे और अमरीकी पार्लमेंट के कई टूमन-समर्थक सदस्य इस तरह के बयान देने लगे कि जब तक भारत अपनी वैदेशिक नीति नहीं बदलेगा, और चीन के ख़िलाफ़ अमरीका का समर्थन नहीं करेगा, तब तक उसे गेहूँ भी नहीं मिलेगा। जब बहुत सी धार्मिक संस्थाओं और उदारवादी संगठनों ने शोर मचाया और मानवता के नाम पर फ़ौरन गेहूँ देने की मांग की और इसके परिणामस्वरूप पार्लमेंट के चौबीस सदस्यों ने इस सम्बंध में एक बिल पेश करने का निश्चय किया, तब कहीं जाकर अमरीकी सरकार ने अपने हाथ-पैर हिलाये। १२ फ़रवरी को टूमन ने पार्लमेंट को एक सन्देश भेज कर भारत को क़र्ज़ देने का प्रस्ताव रखा।

इसके बाद भी तरह-तरह की तिकड़मों और टालमटूल के द्वारा बिल लटका रहा और पार्लमेंट दूसरे मामलों में लगी रही। पर्दे के पीछे भारत पर विभिन्न प्रकार की शर्तें मानने के लिये दबाव पड़ता रहा। हफ़्तों तक अमरीकी पार्लमेंट भारत की नीति पर विचार करती रही, मानो यह देश उसके आधीन हो। भारत के अनुरोध करने के पूरे ६ महीने के बाद १५ जून को क़र्ज़ा मंजूर हुआ। और यदि इस बीच सोवियत रूस और चीन भारत को गेहूँ देना शुरू न कर देते तो शायद इसमें अभी और देर लगती। १५ जून को राष्ट्रपति टूमन ने ऐलान किया कि अन्न सहायता का क़ानून "जरूरत के वक्त भारतीय जनता की सहायता करने की अमरीकी जनता की हार्दिक एवं स्वयंस्फूर्त इच्छा को प्रकट करता है।" कम से कम अमरीकी सरकार में ऐसी इच्छा कभी नहीं दिखाई पड़ी थी!

अमरीकी राजनीतिक नेताओं के हाथों भारत का जिस प्रकार बार-बार अपमान हुआ, जिस तरह उस पर तरह-तरह के दबाव डाले गये, उसके विस्तार में यहाँ जाने की जरूरत नहीं है। परन्तु गेहूं के क़र्ज़े के बारे में, अन्त में जो समझौता हुआ उस पर तफ़सील से विचार करना बहुत जरूरी है, क्योंकि उसके बारे में कई ग़लतफ़हमियाँ फैली हुई हैं।

पहले, यह साफ़ हो जाना चाहिये कि अमरीका से हमें सब गेहूं नहीं मिला। वहाँ से आने वाले अनाज का काफ़ी बड़ा भाग ज्वार का था। अनाज की

पहली क़िस्त में (जो कुल के आधे के बराबर यानी २ करोड़ ८० लाख मन थी) गेहूँ १ करोड़ ८४ लाख ८० हज़ार मन था, ज्वार ७० लाख मन, मक्का १९ लाख ६० हज़ार मन और चावल ५ लाख ६० हज़ार मन।

दूसरे, अनाज का भाव महँगा था। ४ अक्तूबर, १९५१ को भारतीय पार्लमेंट में सर चिन्तामन देशमुख ने बताया कि अमरीकी गेहूं का भाव भारत में आकर २२ रुपये मन पड़ा, जब कि राशनिंग वाले इलाकों में वह १७ या १८ रुपये मन के भाव पर बेचा गया। खुद अमरीका में जिस भाव पर गेहूं बिक रहा था, वह भी इससे बहुत कम था। १९५०-५१ में अमरीकी किसानों ने गेहूं ७३'९२ डालर फ़ी टन के भाव पर और ज्वार ४२'४० डालर फ़ी टन के भाव पर बेचा था। सबसे अच्छे गेहूँ का बाज़ार भाव भी सिर्फ़ ८८'४८ डालर फ़ी टन था। परन्तु भारत से क्या दाम वसूले गये? गेहूं के लिये १०५ डालर फ़ी टन, ज्वार के लिये ६१ डालर फ़ी टन, मक्का के लिये ८० डालर फ़ी टन और चावल के लिये २४० डालर फ़ी टन।

तीसरे, यह अनाज हमें मुफ़्त मदद के रूप में या दान की तरह नहीं मिला था। भारत ने क़र्ज़ा मांगा था, क़र्ज़ा ही उसे मिला। अनाज को यहां लाने का पूरा खर्चा भी भारत ने दिया। और क़र्ज़े की पूरी रक़म को उसने २५ साल के अन्दर अदा कर देने का वायदा किया। ढाई फ़ी सदी की दर पर सूद देना भी उसने स्वीकार किया।

ऐसी हालत में इसे मदद कैसे कहा जाता है, यह ज़रा मुश्किल से समझ में आने वाली बात है। यह मदद नहीं, व्यापार का एक साधारण सौदा था। परन्तु दुनिया भर में प्रचार किया गया कि दयालु अमरीका ने भूखे भारत की मदद के वास्ते अनाज दिया है और उसकी आड़ में हिन्दुस्तान पर तरह-तरह की शर्तें थोप दी गयीं। शुरू में ये शर्तें उस वक्त पेश की गयी थीं जब ट्रुमन ने क़र्ज़े की जगह भेंट के रूप में अनाज देने का प्रस्ताव रखा था। भारत ने भेंट के रूप में गेहूं लेना स्वीकार न किया और अन्त में अनाज क़र्ज़े के रूप में ही मिला, पर शर्तें ज्यों की त्यों क़ायम रहीं।

अमरीकी पार्लमेंट ने जो क़ानून इस सम्बंध में बनाया, उसकी दूसरी धारा में कहा गया था कि क़र्ज़े के एक हिस्से के एवज में भारत सैनिक दृष्टि से आवश्यक कच्चा माल और खनिज पदार्थ अमरीका को देगा। इस शर्त के

विरुद्ध बहुत शोर मचने के बावजूद भारत सरकार ने इस शर्त को स्वीकार कर ही लिया।

अमरीकी क़ानून में इस बात का ज़िक्र नहीं था कि भारत के अन्दर अनाज का वितरण अमरीकी देखरेख में होगा। फिर भी इस काम के लिये नयी दिल्ली में एक अमरीकी महकमा खुल गया और उसके अफ़सरों को राजदूतों जैसे अधिकार दे दिये गये।

शर्त थी कि कम से कम आधा अनाज अमरीकी जहाज़ों में लाद कर लाया जायगा। सान फ्रांसिस्को के मल्लाहों की यूनियन के मुखपत्र "डिस्पेंचर" ने जुलाई १९५१ में बताया कि जहाज़ी कम्पनियों के मालिकों ने, यद्यपि वे सरकारी जहाज़ों का इस्तेमाल कर रहे थे, अनाज ढोने का किराया साढ़े १० डालर फ़ी टन से बढ़ा कर २५ डालर फ़ी टन कर दिया। इस प्रकार आधे अनाज के लिये किराये में १ करोड़ ४५ लाख डालर की बढ़ती हो गयी। वास्तव में, भारत को इससे कहीं ज़्यादा रक़म देनी पड़ी क्योंकि अधिकतर अनाज अमरीकी जहाज़ों में ही लाया गया।

पूरे क़ानून में एक ही शर्त ऐसी थी जिसे मदद समझा जा सकता था। ७ वीं धारा के अनुसार अमरीकी वैदेशिक विभाग को इस बात की इजाज़त दी गयी थी कि क़र्ज़े पर जो सूद आये उसमें से वह ५० लाख डालर तक भारत से विद्यार्थियों, शिक्षकों और साहित्य की अदला-बदली पर खर्च कर सकता है। पर कौन से विद्यार्थी और शिक्षक इस अदला-बदली में आयेंगे-जायेंगे, इसका फैसला करने में भारत का कोई हाथ नहीं रहेगा।

भारत और अमरीका दोनों ही देशों के सरकारी अधिकारियों का कहना था कि इस क़र्ज़ के साथ कोई राजनीतिक शर्तें नहीं जुड़ी थीं। परन्तु, सभी जानते हैं कि सितम्बर, १९५१ में जब भारत ने जापानी संधि के अमरीकी मसविदे पर दस्तखत करने से इनकार किया, तो अनाज का आना यकायक धीमा पड़ गया था; और वह फिर उसी समय शुरू हुआ जब भारत ने तेल कम्पनियों से उपरोक्त समझौते कर लिये थे और पारस्परिक सहायता क़ानून के मातहत मदद लेना मंजूर कर लिया था। और शायद यह बात भी मतलब से खाली नहीं है कि भारत और अमरीका का पहला सैनिक समझौता मार्च १९५१ में हुआ था जब अनाज के क़र्ज़े की बातचीत चल रही थी।

राजनीतिक शर्तों का और भी प्रत्यक्ष सबूत अमरीकी पार्लमेंट (प्रतिनिधि सभा) की वैदेशिक समिति के सामने दिये गये बयानों में मिलता है। २४ जुलाई, १९५१ को उस समिति की बैठक में उसके अध्यक्ष तथा वैदेशिक विभाग के सहायक मंत्री मि. जौर्ज मघी में नीचे लिखा वार्तालाप हुआ :

चेयरमन रिचर्ड्स : "मि० मघी, इस सवाल का अभी तक की बातचीत से कोई सीधा सम्बंध नहीं है, पर क्या आप बता सकते हैं कि यह गेहूं वाला मामला होने के बाद से मि० नेहरू क्या करते रहे हैं?

मि० मघी : "चेयरमैन साहब, हाल में मि० नेहरू ने कई ऐसे बयान दिये हैं जिनको यह समिति हमारे दृष्टिकोण से काफ़ी संतोष-प्रद पायेगी।

"गत ८ जुलाई को मि० नेहरू ने एक भाषण दिया था। मैं अपने साथ उसकी नक़ल लेता आया हूँ। शायद आप उसका एक हिस्स' सुनना पसन्द करेंगे? इसका सम्बंध कम्युनिज़्म से है।

चेयरमैन रिचर्ड्स : "क्या पूरा भाषण आप नहीं सुनाना चाहते हैं?

मि० मघी : "नहीं। सिर्फ़ एक हिस्सा जिसमें उन्होंने कम्युनिज़्म के बारे में अपना रुख साफ़ किया है। मैं समझता हूँ आप उसे सुनना पसन्द करेंगे।

चेयरमैन : "अच्छा, सुनाइये!

मि० मघी : "मि० नेहरू ने कहा है :

'कम्युनिज़्म का बहुतों पर इसलिये प्रभाव पड़ता है कि वह मनुष्य की सबसे जरूरी आवश्यकताओं को पूरा करने और उसकी रक्षा करने का वायदा करता है। पर हम देख चुके हैं कि कम्युनिज़्म के साथ-साथ संघर्ष, हिंसा और तानाशाही आती है और उसमें व्यक्ति को कुचल दिया जाता है। प्रश्न यह है कि क्या हम जनवादी स्वतंत्रताओं की बलि दिये बिना आर्थिक

सुरक्षा और उन्नति की व्यवस्था कर सकते हैं? कोई कारण नहीं है कि हम ऐसा न कर सकें, यद्यपि मार्ग कठिन ज़रूर हो सकता है।'

"इसी हिस्से का सबसे अधिक महत्व है।

चेयरमैन: "और अभी तक वह कम्युनिज़्म के बारे में जो कुछ कहते आये हैं, उसके यह बिल्कुल विपरीत है। है न?

मि. मथी: "बिल्कुल सही हुजूर।"

अतः स्पष्ट है कि यह क़र्ज़ा मदद नहीं था और उसके साथ अनेक शर्तें लगी हुई थीं।

पारस्परिक सहायता क़ानून के मातहत मिलनेवाली मदद

भारत को सबसे हाल में पारस्परिक सहायता क़ानून के मातहत मदद मिली है। इसकी इजाज़त अमरीकी पार्लामेन्ट ने अक्तूबर १९५१ में दी थी। ५ जनवरी, १९५२ को इसके सम्बंध में दोनों देशों के बीच एक समझौता हुआ। उसके अनुसार भारत को ५ करोड़ डालर (या २५ करोड़ रुपये) मिले। पाकिस्तान के साथ समझौता २ फरवरी को हुआ, और उसे १ करोड़ डालर मिले। इसके अलावा, अमरीकी सरकार ने टेकनिकल विशेषज्ञों का ख़र्चा बर्दाश्त करना मंजूर किया। दोनों सरकारों ने कुछ समय पहले 'चौथे सूत्र' के बारे में जो आम समझौता किया था, यह समझौता उसी के मातहत था। पारस्परिक सहायता क़ानून के अन्तर्गत अमरीका जो रक़म ख़र्च करता है, उसका दसवां भाग क़र्ज़ा होता है और बाकी मदद।

मदद लेनेवाला देश जिम्मेदारी लेता है कि अमरीका जितने डालर ख़र्च करेगा, कम से कम उसके बरबार वह अपने देश की मुद्रा इस योजना पर खर्चेगा। दोनों देशों की रक़मों को मिला कर एक कोष क़ायम होगा, जिसकी व्यवस्था दोनों मुल्कों के प्रतिनिधि मिल कर करेंगे। आम समझौते के अलावा, प्रत्येक कार्यक्रम के लिये अलग-अलग समझौते करने पड़ेंगे।

७ जनवरी को राजदूत चेस्टर बाऊल्स ने ऐलान किया कि इस सम्बंध में भारत के साथ जो आम समझौता हुआ है, उसमें कोई राजनीतिक शर्त जुड़ी हुई नहीं है। पंडित नेहरू ने भी यही कहा। **अमृत बाज़ार**

पत्रिका ने इस समझौते को "अमरीका का एक दूरन्देशी का काम" बताया।

परन्तु सिर्फ़ आठ दिन पहले ही इस अख़बार ने इस समझौते की आलोचना की थी और उसकी राजनीतिक शर्तों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था। इस लेख में उसने कहा था :

"दो बातों पर, जो राजनीतिक स्वरुप रखती हैं, एतराज़ किया जा सकता है। पहली बात इस मदद का उद्देश्य है, जो कि समझौते की भूमिका में बताया गया है। दूसरी, यह कि (अमरीकी) डायरेक्टर और उसके कर्मचारियों को राजदूतों जैसे अधिकार और भारतीय क़ानूनों तथा अदालतों से छूट दे दी गयी है। भूमिका में इस बात पर जोर दिया गया है कि भारत और अमरीका की सरकारें अन्तरराष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने और विश्व शान्ति को क़ायम रखने के लिये संयुक्त प्रयत्न करने के प्रश्न पर एकमत हैं, और इसलिए वादा कर रही हैं कि वे अन्तरराष्ट्रीय तनाव के कारणों को दूर करने के लिये ऐसे कार्य करेंगी जो दोनों सरकारों को मंजूर हो। जहाँ तक भारत सरकार की अन्तरराष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने और विश्व शान्ति क़ायम रखने की उत्सुकता का प्रश्न है, किसी को उसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु जब इस शान्ति और सहयोग को बढ़ाने के उपायों का प्रश्न उठता है, तब भारत सरकार और अमरीकी सरकार में काफ़ी मतभेद दिखाई पड़ता है। यह मतभेद अक्सर संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्दर भी प्रकट हो चुका है, जहाँ विश्व शान्ति को क़ायम रखने के समान उद्देश्य के बावजूद भारत और अमरीका एक राय होकर काम नहीं कर सके। अमरीकी दृष्टिकोण भारतीय दृष्टिकोण से अक्सर भिन्न रहा — विशेष कर सुदूर-पूर्व और दक्षिणी-पूर्वी एशिया से सम्बंधित राजनीतिक प्रश्नों के बारे में। यदि उनका दृष्टिकोण अलग-अलग है, तो इस बात पर कैसे एक राय हो सकती है कि अन्तरराष्ट्रीय तनाव के कारणों को दूर करने के लिये कौन से कार्य किये जायें? यदि समझौते को अमल में लाते समय भी आर्थिक मदद की यह राजनीतिक पृष्ठभूमि बार-बार आगे लायी गयी तो हर क़दम पर मुश्किलें पैदा होंगी। दूसरी बात, यानी (अमरीकी) डायरेक्टर और उसके कर्मचारियों को दिये गये

विशेष अधिकार भी लोगों के दिलों में शक पैदा करेंगे। इन कर्मचारियों का राजनीतिक मामलों से कोई सम्बंध नहीं होगा और इसलिये उन्हें राजदूतों जैसे विशेष अधिकार देना उचित नहीं मालूम पड़ता। साधारण तौर पर, ऐसे लोगों की, जिनका सम्बंध केवल आर्थिक मामलों से है, देश के साधारण क़ानूनों से पूरी सुरक्षा हो जाती है। समझौते की भूमिका की पृष्ठभूमि में जिसका हम ऊपर जिक्र कर चुके हैं, यह विशेष अधिकार विशेष महत्व धारण कर लेते हैं। अतः समझौते को अन्तिम रूप से स्वीकार करने के पहले भारत सरकार को इन दो बातों के मतलब पर अच्छी तरह ग़ौर कर लेना चाहिये।" (८ जनवरी, १९५२)

पत्रिका ने भारत-अमरीका समझौते के मसविदे को देख कर अपनी यह टिप्पणी लिखी थी। परन्तु पारस्परिक सुरक्षा क़ानून की धाराओं का शायद उसे विस्तृत ज्ञान नहीं था। धारा ५२९ में साफ़ साफ़ लिखा है :

"यदि राष्ट्रपति पाते हैं कि किसी राष्ट्र को मदद देना,

(क) अमरीका के राष्ट्रीय हितों अथवा सुरक्षा के अनुकूल नहीं है या इस क़ानून की नीति एवं उद्देश्यों से मेल नहीं खाता; या

(ख) संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा समिति (सिक्योरिटी कौंसिल) के किसी फ़ैसले के खिलाफ़ जाता है; या

(ग) इस सिद्धान्त के खिलाफ़ जाता है कि जिस राष्ट्र के खिलाफ़ सुरक्षा समिति या जनरल असेम्बली ने आक्रमण करने या शान्ति को भंग करने या इसकी धमकी देने के कारण कार्रवाई करने की सिफ़ारिश की हो, उसकी सहायता संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों को नहीं करनी चाहिये;

तो वह इस क़ानून के मातहत दी जाने वाली मदद को पूरी तौर पर, या आंशिक रूप से बन्द कर देंगे।"

मतलब यह कि अगर भारत, मिसाल के लिये, चीन या किसी ऐसे देश की मदद करता है जिससे अमरीका खुश नहीं है, तो अमरीकी मदद बन्द हो जायगी।

अतः पं० नेहरू या राजदूत बाऊल्स की तरह जो लोग केवल भारत-अमरीका समझौते की शर्तों को देखते हैं और पारस्परिक सुरक्षा क़ानून की

शर्तों का ज़िक्र तक नहीं करते, वे असलियत पर पर्दा डालने की कोशिश करते हैं। अमरीकी मदद का वास्तविक रूप समझने के लिये इस क़ानून को समझना होगा।

इस परस्पर सुरक्षा क़ानून का जन्म जनवरी १९५१ में हुआ था जब राष्ट्रपति ट्रुमन ने एक सन्देश में अमरीका की सुरक्षा के दृष्टिकोण से कार्यक्रम के चौथे सूत्र की व्याख्या की थी। इसका समर्थन करनेवाले **न्यू रिपब्लिक** नामक एक पत्र ने इस सन्देश के बारे में टिप्पणी करते हुए राष्ट्रपति को सम्बोधित करके यह लिखा था :

> "...आपके सलाहकारों ने आपको सलाह दी कि आप कांग्रेस (अमरीकी पार्लमेंट) में घुसे हुए अपने विरोधियों को खुश करने के लिये कार्यक्रम के चौथे सूत्र को फ़ौजी वर्दी पहना दीजिये। आपने उनकी सलाह मान ली।" (१० मार्च, १९५२)

इसके परिणाम स्वरूप कार्यक्रम के चौथे सूत्र को ट्रुमन-सिद्धान्त, मार्शल योजना और अटलान्टिक समझौते के साथ नत्थी कर दिया गया और सबको मिला कर जो खिचड़ी तैयार हुई उसका नाम पारस्परिक सुरक्षा कार्यक्रम रखा गया। सैनिक और आर्थिक सहायता में अब तक जो भेद किया जाता था, वह खतम हो गया। भारत जैसे देशों के लिये आर्थिक सहायता का प्रस्ताव पेश करते हुए राष्ट्रपति ट्रुमन ने उसे सैनिक दृष्टि से आवश्यक बताया। २४ मई, १९५१ को, अमरीकी पार्लमेंट के नाम एक सन्देश में उन्होंने कहा :

> "एशिया, दक्षिणी अमरीका और अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों में सैनिक दृष्टि से ऐसे आवश्यक कच्चे माल और खनिज पदार्थ मिलते हैं जो स्वतंत्र संसार की सुरक्षा और आर्थिक स्वास्थ के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। इन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ना चाहिये। उसके लिये कर्जों की और विकास सम्बंधी सहायता की आवश्यकता है।"

एशियाई देशों के लिये आर्थिक सहायता का विशेष रूप से ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा :

> "स्वास्थ रक्षा की व्यवस्था, खेती, यातायात, और सूचना के साधनों को सुधारने और प्राकृतिक साधनों के विकास में सहायता देने

के लिये आवश्यक सामान तथा टेकनिकल विशेषज्ञों को (इन देशों में) भेजने के लिये इन रुपयों का इस्तेमाल किया जायगा। ”

आपने देखा, इसमें उद्योग-धंधों का कहीं जिक्र नहीं है। सारा ज़ोर यातायात, सूचना विभाग, और सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कच्चे माल तथा खनिज पदार्थों पर है। पारस्परिक सुरक्षा क़ानून के विषय में प्रतिनिधि सभा की विदेश सम्बंधी समिति में जो गवाहियाँ हुई, उनमें इस बात पर बार-बार ज़ोर दिया गया :

विदेश मंत्री, **डीन एचीसन** : “जापान से लेकर अफ़गानिस्तान तक जो अर्ध-चन्द्राकार वृत्त बनता है, उसमें लगभग ७० करोड़ मनुष्य रहते हैं; यानी दुनिया के हर दस अदमियों में से क़रीब तीन स्त्री-पुरुष इस इलाक़े में बसते हैं।...

“ परन्तु स्वतंत्र संसार की सुरक्षा पर ग़ौर करते हुए इस इलाक़े का जो भारी महत्व हो जाता है, वह केवल उसकी बड़ी आबादी के कारण नहीं है। इस क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण कच्चा माल और खनिज पदार्थ बहुतायत से पाया जाता है वह स्वतंत्र संसार के उत्पादन को जारी रखने के लिये अत्यन्त आवश्यक है; जैसे टिन, रबर, जूट, पेट्रोल इत्यादि।”

पौल हौफ़मैन (मार्शल योजना के भूतपूर्व व्यवस्थापक) : “ वर्तमान परिस्थितियों में, सैनिक सहायता और आर्थिक सहायता को बुनियादी तौर पर एक समझना चाहिये ...।

“ सहायता के दोनों प्रकार एक दूसरे से इस तरह जुड़े हुए हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में, दोनों का रूप तो आर्थिक है, परन्तु मुख्य उद्देश्य दोनों का सैनिक है। एक प्रकार की सहायता में अधिकतर अमरीका में बना फ़ौजी सामान भेजा जाता है; दूसरे प्रकार की सहायता में ऐसी वस्तुएँ भेजी जाती हैं जिनसे स्वयं सहायता पाने वाले देशों के अन्दर ज़्यादा फ़ौजी सामान तैयार हो सके। ”

सहायक विदेश मंत्री, **जौर्ज मघी** : “ दक्षिणी एशिया के लिये हमारा कार्यक्रम, इस क्षेत्र की कुल आवश्यकताओं को देखते हुए कम

है, परन्तु उससे लाभ बहुत होगा और स्वतंत्र संसार की ताक़त बढ़ाने तथा हमारी अपनी सुरक्षा को मज़बूत करने में उससे बहुत मदद मिलेगी।...

"दक्षिणी एशिया के १५,००,००० वर्ग मील के इलाक़े में क़रीब ४५ करोड़ आदमी रहते हैं और काली मिर्च से लेकर मैंगनीज तक अनेक महत्वपूर्ण वस्तुएँ इस इलाक़े में पायी जाती हैं।...

"दक्षिणी एशिया के देशों में से तीन अभी हाल में आज़ाद हुए हैं और सभी देशों की सरकारें ग़ैर-कम्युनिस्ट हैं। एशियाई कम्युनिज़म के बढ़ाव को रोकने के लिये ग़ैर-कम्युनिस्ट राजनीतिक संस्थाओं का अबाध विकास अत्यन्त आवश्यक है। राजनीतिक दृष्टि से सुदृढ़ बनने के लिये ये देश स्वतंत्र संसार से सहायता पाने की आशा रखते हैं। अन्दरूनी राजनीति में इन देशों ने कम्युनिज़म का खुल्लमखुला विरोध करके और कम्युनिस्ट कार्रवाइयों के खिलाफ़ सख़्त कार्रवाई करके इस बात का सबूत दे दिया है कि वे कम्युनिज़म के ख़तरे से भली भाँति परिचित हैं।...

"अमरीका के लिये उसके (भारत के) कच्चे मालों का क्या महत्व है, यह इस बात से प्रकट हो जाता है कि १९५० में अमरीका में जितना मैंगनीज़ बाहर से आया था, उसका ३६.७ प्रतिशत भाग, अबरक का ८७.४ प्रतिशत भाग, कायनाइट का ५५.२ प्रतिशत भाग, और जूट का ८२.५ प्रतिशत भाग भारत से आया था।...

"भारत में दुर्लभ कच्चे मालों के उत्पादन और निर्यात को बढ़ाने के वास्ते भूगर्भ जाँच कराने के लिये टेकनिकल सहायता दी ज सकती है...

"पाकिस्तान का अधिकतर क्रोमाइट अमरीका चला आता है।...

"पारस्परिक सुरक्षा कार्यक्रम के मातहत जो आर्थिक सहायता पाकिस्तान को दी जायगी, उसमें सबसे अधिक ज़ोर खेती का ढंग सुधारने पर दिया जायगा।...

"इस कार्यक्रम में तेज़ी से सड़कें बनाने के आधुनिक उपायों को प्रचलित करने का काम भी आ सकता है।...भूगर्भी जांच से पाकिस्तान को अपने साधनों का ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिलेगी।..."

मार्शल योजना के व्यवस्थापक, विलियम फ़ौस्टर ने कहा कि इस कार्यक्रम का उद्देश्य सैनिक दृष्टि से आवश्यक कच्चे मालों का उत्पादन बढ़ाना है और उसमें "प्रत्येक कोशिश की जायगी कि प्राइवेट पूंजी और व्यक्तिगत उद्योग को अधिक से अधिक बढ़ावा और प्रोत्साहन मिले।"

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान ने फ़ौजी मदद लेने से इनकार कर दिया, क्योंकि अमरीकी सरकार मदद की शक्ल में जो फ़ौजी सामान उन्हें दे रही थी, वह उनके किसी काम का न था। इसलिये इन देशों को केवल आर्थिक मदद देने का निश्चय किया गया।

भारत-अमरीका समझौते पर हस्ताक्षर होने के समय भारत के विदेश विभाग ने एक बयान में बताया कि अमरीका से आनेवाली मदद का अधिकतर भाग खेती की योजनाओं पर खर्च किया जायगा।

इस सबसे, यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि पारस्परिक सुरक्षा कार्यक्रम का बुनियादी उद्देश्य सैनिक दृष्टि से आवश्यक कच्चे मालों का उत्पादन बढ़ाना है, और इसलिये, भारत-अमरीका समझौते की भूमिका में "भारत के सुनियोजित आर्थिक विकास" की जो बात कही गयी है, वह कोई अर्थ नहीं रखती।

यही नहीं। २४ जुलाई, १९५१ को मि. मर्री ने प्रतिनिधि सभा की विदेश विभाग समिति के सामने उन योजनाओं के बारे में एक बयान दिया था जो विदेश विभाग भारत में प्रारम्भ करना चाहता था। भारत की अन्दरूनी परिस्थिति पर खूब विस्तार से विचार प्रकट करने के बाद उन्होंने पहले खेती, मछली मारने, और भूगर्भी जाँच की योजनाओं की तफ़सील बतायी और फिर कहा:

> "इन योजनाओं के अलावा, जिनका मैंने अभी वर्णन किया, कुछ और योजनाएँ भी हैं जिनके बारे में मैं आपको बताना पसन्द करूँगा।
>
> "इसके आगे की बातचीत लिखी नहीं गयी।"
>
> (पारस्परिक सुरक्षा क़ानून: प्रतिनिधि सभा की विदेश विभाग समिति के सामने दी गयी गवाहियाँ, पृष्ठ १००३)

पाकिस्तान के सम्बंध में मि० मर्री ने जो बयान दिया, उसके अन्त में भी यही नोट दिया हुआ है।

प्रश्न बहुत साधारण सा यह है कि यदि इस कार्यक्रम का सम्बंध केवल आर्थिक सहायता से है, तो फिर मि० मर्घी की योजनाओं को इस तरह छिपाने की क्या जरूरत थी ? यह गुपचुप क्या बातचीत हो गयी ? उसे लिखा क्यों न न गया ? वे ऐसी कौन सी योजनाएँ हैं जिन्हें अमरीकी सरकार अपने यहाँ की जनता तक से छिपा कर रखना चाहती है ? और जिनके बल पर मि. मर्घी को नीचे लिखा यह दावा करने का साहस हुआ :

> "हमारा विचार है कि इस छोटे से कार्यक्रम से ... तटस्थता की उस भावना को दूर करने में मदद मिलेगी जो दुर्भाग्य से अभी तक (भारत में) फैली हुई है।"

१९. जनवरी, १९५२ को राजदूत बाऊल्स ने ऐलान किया कि भारत "निश्चित रूप से स्वतंत्र राष्ट्रों के साथ है।" इसके ठीक दो सप्ताह पहले भारत पारस्परिक सुरक्षा सहायता वाले समझौते पर हस्ताक्षर कर चुका था।

सातवां अध्याय

भारत की अर्थ-व्यवस्था से अमरीका को लाभ

भारत की मौजूदा अर्थ-व्यवस्था में अमरीका को बड़ी दिलचस्पी है क्योंकि उससे उसे भारी लाभ होता है। भारत के व्यापार में अमरीका ने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है और भारत में लगी हुई अमरीकी पूंजी बड़ी तेज़ी से बढ़ रही है। भारत सरकार अधिकाधिक अमरीकी मदद पर निर्भर होती जा रही है और इसलिये उसकी आर्थिक नीति पर अमरीका गहरा प्रभाव डाल सकता है।

अंग्रेज़ों ने भारत पर दो सो वर्ष तक राज किया, परन्तु अमरीका सिर्फ़ तीन साल की कोशिशों में उनकी बराबरी करने का दावा करने लगा है। मिसाल के लिये १९४८ में भारत और पाकिस्तान में जो अंग्रेज़ी पूंजी लगी हुई थी, उसका जोड़ ३१ करोड़ ९० लाख पौण्ड होता था। अमरीका ने कर्ज़ और मदद के रूप में तीन साल के अन्दर कुल १२ करोड़ ५० लाख पौण्ड की पूंजी भारत और पाकिस्तान भेज दी है।

भारत में रबर की ट्यूब और टायर बनाने वाली दो फ़ैक्टरियों हैं। उनमें से एक अमरीकी है। यहां तेल साफ़ करनेवाले तीन कारखाने खुलने वाले हैं। उनमें से दो अमरीकी होंगे। इसके अलावा जूट, लाख, पुर्ज़े जोड़ कर मोटर खड़ी करने, कैमिकल, रेयॉन, मेंगनीज़, रेडियो, दवाइयों आदि के उद्योगों और बैंको तथा बीमा कम्पनियों में भी अमरीकियों का हाथ है। हिन्दुस्तान के प्रत्येक गांव में उनका आर्थिक प्रभाव महसूस किया जा सकता है।

अमरीका के साथ भारत के आजकल जैसे आर्थिक सम्बंध हैं, उनसे भारत के हितों को धक्का लगता है और अमरीका को मोटे मुनाफ़े होते हैं।

१९४९ में भारत, पाकिस्तान, बर्मा और लंका में अमरीकी कम्पनियों की ५ करोड़ डालर की पूंजी लगी हुई थी। उस पर उन्होंने १ करोड़ ९० लाख

का मुनाफ़ा कमाया। इस रक़म में अमरीकी बीमा कम्पनियों के मुनाफ़े शामिल नहीं हैं और न उन मुनाफ़ों को इसमें जोड़ा गया है जो फिर से व्यवसाय में लगा दिये गये।

१९४९ के बाद से भारत और पाकिस्तान में अमरीका ने बहुत सी और पूंजी लगायी है। तेल साफ़ करनेवाले दो कारखानों में ही ७ करोड़ डालर की पूंजी लगनेवाली है।

भारत में लगी हुई अमरीकी पूंजी का हिसाब करते समय हमें उस पूंजी का भी ध्यान रखना होगा जो अप्रत्यक्ष ढंग से, ब्रिटिश, और किसी क़दर कनाडा की कम्पनियों के ज़रिये यहां लगी है। ब्रिटेन की बहुत सी कम्पनियों में अमरीकियों के हिस्से हैं—विशेष कर उन बड़ी कम्पनियों में जो विदेशों में पूंजी लगाने की सामर्थ्य रखती हैं। अतः ब्रिटिश कम्पनियों को हिन्दुस्तान में लगी हुई पूंजी से, भारतीय व्यापार से और सामान लाने-लेजाने वाले जहाज़ों से जो मुनाफ़ा होता है, उसका एक भाग अमरीका के हिसाब में गिना जाना चाहिये। यदि ब्रिटिश आर्थिक व्यवस्था के इन अंगों पर अमरीका का २५% नियंत्रण मान लिया जाय तो अंग्रेज़ कम्पनियों के ज़रिये अमरीका को होने वाला मुनाफ़ा ३० करोड़ रुपये साल का बैठता है।

इसके अतिरिक्त भारत के साथ व्यापार करके भी अमरीका खूब कमाता है। आज पूंजीवादी दुनिया में अमरीका का बोलबाला है। बहुत सी वस्तुओं का व्यापार तो पूरी तरह उसकी मुट्ठी में है। इसलिये, अपनी विशेष स्थिति से फ़ायदा उठा कर वह अपने यहाँ आने वाली चीज़ों के दाम कम और दूसरे देशों को जाने वाली चीज़ों के दाम ज़्यादा लगा सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने हाल में पिछड़े हुए देशों के आयात और निर्यात के दामों का अध्ययन किया था। उससे पता चला कि ये देश अमरीका और ब्रिटेन को जो माल भेजते हैं, उनके एवज़ में उन्हें १९४७ में १९१३ की तुलना में बहुत कम दाम मिले। अनुमान किया जाता है कि इस तरह इन देशों को २५ करोड़ से लेकर ३० करोड़ डालर तक का वार्षिक नुक़सान हो रहा है। इस स्थिति का भारत पर क्या प्रभाव पड़ता है, जरा अब यह देखिये।

१९४८–४९ में भारत ने अमरीका से ५३,७६,००० पौण्ड कागज़ ५,९०,००० डालर में खरीदा, यानी हमने ११ डालर फ़ी सौ पौण्ड के भाव

पर दाम दिये। परन्तु १९४८ में ही, न्यू यौर्क में अखबारी कागज़ का दाम ४'८८ डालर फ़ी सौ पौण्ड था।

१९४८-४९ में भारत ने अमरीका से ७,२२,००० पौण्ड पैकिंग करने का कागज़ १,५२,००० डालर में ख़रीदा, यानी हमने २१ डालर फ़ी १०० पौण्ड की दर से दाम दिये। १९४८ में न्यू यौर्क में पैकिंग के कागज़ का भाव ६'७१ डालर फ़ी सौ पौण्ड था।

१९४८-४९ में भारत ने २७,४७८ टन टीन ५३,२६,००० डालर में, यानी २०० डालर फ़ी टन के भाव पर ख़रीदा। १९४८ में टीन का अमरीका में क्या भाव था, यह हमें ज्ञात नहीं है; परन्तु १९४७ में उसका भाव ११५ डालर और १९४९ में १५५ डालर फ़ी टन था।

इसलिये, बहुत कम करते हुए भी यदि हम यह अनुमान लगायें कि अमरीका ने भारत से आने वाली चीज़ों के एवज़ में ३० प्रतिशत कम दाम दिये और भारत जाने वाली चीज़ों के एवज़ में ३० प्रतिशत ज्यादा दाम लिये, तो १९५० के २०० करोड़ रुपये के भारत-अमरीका व्यापार पर केवल इस मद से ही अमरीका को होनेवाला मुनाफ़ा ६० करोड़ रुपये बैठता है।

इसके अलावा, अमरीका पश्चिमी जर्मनी, जापान आदि देशों के ज़रिये भी भारत से मुनाफ़ा कमाता है, क्योंकि इन देशों की अर्थ-व्यवस्था पर उसका नियंत्रण है। फिर, भारत से आने वाले माल पर और भारत को जाने वाले माल पर अमरीका में जो चुंगी लगती है, उससे भी काफ़ी कमाई होती है। मिसाल के लिये, १९४६ में भारत ने अमरीका को जो माल भेजा, उस पर हमें १,३१,४६,००० डालर चुंगी के रूप में देने पड़े थे।

हमारे देश में लगी हुई अमरीकी पूंजी से होने वाले मुनाफ़े तथा व्यापार से होने वाले लाभ के अलावा दूसरे विभिन्न ढंग से भी अमरीका काफ़ी कमाता है—जैसे बीमे की फ़ीस, जहाज़ों का किराया, फ़िल्मों का किराया, रायल्टी, तनख़ाएँ, क़र्ज़ों का सूद इत्यादि। विदेशों की यात्रा, जहाज़ों का किराया और बीमे की फ़ीस की मद में भारत को १९४६ में २८३ लाख रुपये और १९४७ में ४०४ लाख रुपये अमरीका को देने पड़े थे। ये रिज़र्व बैंक के आंकड़े हैं।

इसलिये, मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि **अमरीका को भारत से १ अरब रुपये का वार्षिक मुनाफ़ा होता है।** इस शोपण न कहा जाय तो और क्या कहा जाय? साम्राज्यवादी शोषण और कैसा होता है?

अतः यदि अमरीका को भारत में अपने स्वार्थों की रक्षा करने की इतनी फ़िक्र है तो आश्चर्य क्या है? परन्तु भारत को इस सम्बंध से सरासर नुक़सान ही नुक़सान है। कारण कि भारत के अमरीका से दबने का कोई कारण नहीं है। यदि भारत को अमरीका के कारखानों के बने माल की ज़रूरत है, तो अमरीका को भी हमारे कच्चे माल की आवश्यकता है। जैसा कि उद्योग मंत्री डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने ऊटी सम्मेलन में कहा था:

> "सौदा करने की ताक़त हम में भी है। यदि हमें उनसे मशीनें चाहिये तो उन्हें हमारे जूट, हमारे रबर, हमारे टिन, हमारे टंगस्टेन, और दूसरी ऐसी अनेक वस्तुओं की सख़्त ज़रूरत है जिनके बिना उनके कारख़ाने नहीं चल सकते।" ('हिन्दू,' ६ जून, १९४८)

परन्तु इस सौदा करने की ताक़त से भारत सरकार ने और भारतीय पूंजीपतियों ने कोई काम न लिया। इसके बावजूद उन्होंने अमरीका के आधीन होकर रहना स्वीकार किया, और अब तो वे रोज़ नये बंधनों का स्वागत कर रहे हैं। ऐसा करते समय, जब उन्हें और कोई तर्क नहीं मिलता है, तो वे कहते हैं कि सोवियत संघ ने भी तो शुरू में विदेशी सहायता स्वीकार की थी और चीन ने सोवियत से मदद ली है। थोड़ा सा विचार करने पर तुरन्त पता चल जायगा कि उन्होंने कितनी ग़लत मिसाल ढूंढी है।

सोवियत रूस ने शुरू में कुछ विदेशी विशेषज्ञ बुलाये ज़रूर थे, परन्तु बाद में पता चला कि उनमें से बहुत से अपना काम करने के बजाय विदेशी सरकारों की तरफ़ से जासूसी किया करते थे। सोवियत के अनुभव से यदि कुछ सिद्ध होता है तो सिर्फ़ यही कि साम्राज्यवादी देशों से विशेषज्ञ बुलाना जान-बूझ कर ख़तरा मोल लेना है। और सोवियत ने विदेशी पूंजी कितनी बुलायी थी? १९२६-२७ में सोवियत में लगी हुई विदेशी पूंजी कुल औद्योगिक पूंजी का केवल ०.५ प्रतिशत होती थी। और भारत सरकार पंच-वर्षीय योजना के लिये ही लगभग ४० प्रतिशत पूंजी विदेशों से मंगाना चाहती है।

अब चीन और सोवियत संघ के समझौते को लीजिये, जिस पर १४ फरवरी, १९५० को हस्ताक्षर हुए थे। इसके मुताबिक सोवियत संघ, चीन को ३० करोड़ डालर कर्ज़ देगा। इस समझौते में तफ़सील के साथ लिखा गया है कि सोवियत संघ क्या-क्या मशीनें और दूसरा सामान चीन को देगा और चीन उनके एवज़ में क्या चीज़ें सप्लाई करेगा। उसमें न कोई राजनीतिक शर्त है, और न "देखरेख" की किसी प्रकार की व्यवस्था का जिक्र है। सूद की दर केवल १ प्रतिशत है।

२७ मार्च, १९५० को चीन और सोवियत संघ के बीच जो समझौता हुआ, उसके मातहत तीन संयुक्त कम्पनियाँ बनायी गयी हैं जो सिंकियांग में तेल और धातु के उत्पादन का प्रबंध करेंगी और हवाई यातायात का प्रबंध करेंगी। इन कम्पनियों में दोनों देशों की बराबर-बराबर पूंजी लगी है, और व्यवस्था तथा मुनाफ़े में भी दोनों का बराबर का हिस्सा है। इन कम्पनियों को कोई विशेष अधिकार नहीं दिये गये हैं। जो क़ानून और नियम चीनी कम्पनियों पर लागू हैं, वे ही इन्हें भी मानने पड़ते हैं। इन कम्पनियों के जीवन की एक अवधि बांध दी गयी है; उसके समाप्त होने पर चीन को अधिकार होगा कि बिना मुआवज़ा दिये कम्पनियों पर अधिकार कर ले। यानी, उनके ज़रिये चीन में कोई स्थायी विदेशी स्वार्थ नहीं पैदा होता।

इसलिये, ज़ाहिर है कि इन समझौतों की भारत-अमरीका समझौतों से तुलना नहीं की जा सकती। कुछ प्रभावशाली भारतीय फिर भी क्यों अमरीका के जाल को हमारे देश में फैलाना चाहते हैं? इसका कारण जानने के लिये भारत-अमरीका सम्बंधों के कई पहलुओं पर विचार करना पड़ेगा। यहाँ हम सिर्फ़ एक पहलू की तरफ इशारा करेंगे।

जनवरी, १९४५ की बात है। उस वक्त डॉ. पी. एस. लोकनाथन बिड़ला के यहाँ नौकर थे। डॉ. लोकनाथन ने अमरीकी सरकार के सामने लड़ाई के बाद भारत को ३ अरब डालर क़र्ज़ देने का सुझाव रखा। बिड़ला के पत्र **इस्टर्न इकोनोमिस्ट** के शब्दों में, डाक्टर साहब को,

> "पता चला कि 'अमरीका से भारत को सीधे-सीधे यदि ऐसा कोई क़र्ज़ मिलेगा तो उसके साथ बहुत सी राजनीतिक शर्तें लगी हुई होंगी'; उदाहरण के लिये, आश्वासन देना होगा कि क़र्ज़ा लेने वाले देश में

राजनीतिक शांति रहेगी और क़र्ज़ा ऐसे उद्योग वनाने में नहीं खर्च किया जायेगा जो वाद में अमरीकी उद्योगों से प्रतियोगिता करे। दक्षिणी अमरीका के देशों में क़र्ज़ों के ज़रिये राजनीतिक मतलव साधा गया है; परन्तु यदि हम इस खतरे को अनदेखा कर दें, तो भी ये शर्तें क़र्ज़ों को मखौल वना देती हैं। इसलिये, अमरीकी सरकार तथा अमरीकी व्यापारियों के प्रतिनिधियों से वहुत विस्तार के साथ व्यक्तिगत रूप से वातचीत करने के वाद डॉक्टर लोकनाथन इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि भारत सरकार के लिये यह उचित न होगा कि वह सीधे अमरीका से कर्ज़ा माँगे।"

परन्तु, आज विड़ला अमरीका से कर्ज़ा लेने के कट्टर समर्थक हैं और लोकनाथन, संयुक्त राष्ट्र संघ के एशिया तथा सुदूर पूर्व के आर्थिक कमीशन (यूनेकाफ़े) के कार्यवाहक मंत्री की हैसियत से उसका समर्थन कर रहे हैं। यह मत-परिवर्तन, वास्तव में, भारत की राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थिति में कुछ वुनियादी परिवर्तनों का सूचक है।

भारत के अधिकतर पूंजीपति तथा व्यापारी आशा लगाये हुए थे कि स्वतंत्रता मिलने के वाद उनके व्यवसाय और व्यापार फले-फूलेंगे। इसीलिये, उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन का साथ दिया था। परन्तु, दूसरे वर्गों के कुछ और हित थे। वे न केवल साम्राज्यवादी शोषण का अन्त करना चाहते थे, वल्कि पूंजीवादी शोषण की उग्रता को भी कम करना चाहते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यक्रम में कुछ हद तक यह वात शामिल भी थी।

जैसे-जैसे अंग्रेज़ शासकों के प्रस्थान करने का समय नज़दीक आता गया, वैसे-वैसे राष्ट्रीय आन्दोलन का यह अन्दरूनी विरोध वढ़ता गया। भारतीय पूंजीपति चक्की के दो पाटों के वीच में फँस गये। एक तरफ़, विदेशी पूंजीपतियों का उन पर दवाव था। दूसरी तरफ़, देश में समाजवादी विचार फैल रहे थे और मजदूर आन्दोलन तथा वामपक्षी दल वढ़ रहे थे। इस हालत में पूंजीपतियों के एक हिस्से ने अपने वर्ग-हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर रखा और विदेशी पूंजीपतियों से सुलह कर ली तथा इस प्रकार राष्ट्रीय आन्दोलन में दरार डाल दी। उन्हें आशा थी कि विदेशी पूंजीपतियों का सहारा लेकर, उनकी ताक़त और असर के ज़रिए वे भारत सरकार पर दवाव डाल सकेंगे कि

पूंजीवाद के प्रति वह अधिक उदारता का बरताव करे और वामपक्षियों के साथ सख़्ती से पेश आये।

परिणाम-स्वरूप भारत में तीन पूंजीवादी गुटों का एक नया संयुक्त मोर्चा बन गया। इनमें सबसे ताकतवर भारत में व्यवसाय करने वाली अंग्रेज कम्पनियाँ थीं, जिनमें से कुछ का अमरीकी कम्पनियों से घनिष्ट सम्बंध था। उनके बाद भारतीय पूंजीपतियों का वह भाग आता था जो संख्या में कम पर प्रभाव में बहुत शक्तिशाली था और जिसने सदा अपने को राष्ट्रीय आन्दोलन से दूर रखा था। तीसरा गुट राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थक पूंजीपतियों में से सबसे प्रभावशाली लोगों का था जिन्होंने पिछले चन्द वर्षों में विदेशी पूंजी से गठबंधन कर लिया था। ये लोग भी अब पहले दो गुटों के साथ मिल गये थे। इस त्रिगुट को सबसे बड़ा सहारा विदेशी पूंजी का था। बहुत से क्षेत्रों में उनके हित और विदेशी एकाधिकारियों के हित मिलकर एक हो गये थे।

इस त्रिगुट की प्रबल शक्ति का अनुमान लगाने के लिये इतना कह देना काफ़ी होगा कि भारत के सबसे बड़े पूंजीपति—घनश्याम दास बिड़ला, जे. आर. डी. टाटा, रामकृष्ण डालमिया, वालचन्द हीराचन्द, कस्तूरभाई लालभाई और अम्बालाल साराभाई—सब किसी न किसी रूप में विदेशी एकाधिकारी पूंजीपतियों से बंधे हुए हैं। और जिन प्रमुख उद्योगों पर विदेशियों का सीधा प्रभुत्व नहीं है, वे सब इन्हीं लोगों के हाथ में हैं।

अतः इस त्रिगुट के दबाव और असर के खिलाफ़ वही सरकार खड़ी रह सकती है जिसके रहनुमा सच्चे साम्राज्य-विरोधी हों। कांग्रेसी सरकार में यह ताब न थी कि उनकी नाराजगी मोल लेने की हिम्मत कर सके। बल्कि वह तो पूरी तरह उनकी मुट्ठी में थी। जैसा कि प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री एन. सी. सीवानी ने लिखा है:

> "व्यापारी वर्ग और कारखानेदार, जाहिर है, पूरी तरह अमरीकियों के साथ हैं। अमरीकी पूंजी किस क्षेत्र में लगे — जैसे कुछ प्रश्नों पर भले ही उनके कुछ मतभेद हों, पर ये तो आपसी बातचीत से हल हो जाने वाले सवाल हैं। भारत सरकार भी चूंकि अधिकतर इन्हीं लोगों के असर में है, इसलिये वह भी इन्हीं पक्ष के साथ है।"

भारत के बड़े पूंजीपति, विदेशी पूंजीपतियों की ओर झुक रहे हैं और उनका अपने देश की सरकार पर बड़ा प्रभाव है—यह अमरीका वाले भी भी अच्छी तरह जानते थे। फ़िलिप्स टैलबोट नामक एक अमरीकी लेखक ने यह लिखा है :

"कट्टर दक्षिणपंथी पटेल भी पूंजीपतियों का मित्र है। एक बार एक अमरीकी कूटनीतिज्ञ को पटेल ने दावत पर बुलाया। वहाँ करोड़पति घनश्याम दास बिड़ला भी मौजूद थे। वह इस विषय पर बातचीत करने को बहुत उत्सुक मालूम पड़ते थे कि अमरीका के साथ भारत के कैसे आर्थिक सम्बंध हो सकते हैं। अमरीकी कूटनीतिज्ञ ने बाद में किसी से कहा : इस बातचीत के दौरान में मेरी समझ में नहीं आता था कि (भारतीय) सरकार की ओर से कौन बोल रहा है, पटेल या बिड़ला।" ('दि रिपोर्टर', न्यू यॉर्क, १८ जुलाई, १९५०)

आठवां अध्याय

अमरीका की वैदेशिक नीति और भारत

७ दिसम्बर, १९४७ को राजदूत एफ़ ग्रेडी ने कहा था :

"भारत को विश्व संघर्ष में अपने साथ रखना हमारे लिये भारी महत्व रखता है।" (न्यू यौर्क हेराल्ड ट्रिब्यून)

अमरीकी सरकार के रक्षा विभाग की राय में दो बड़े कारण हैं जिनकी वजह से भारत ने हाल में अमरीकी नेताओं का ध्यान अपनी ओर खींचा है :

"हिन्दुस्तान का महत्व केवल इसी बात में नहीं है कि पाकिस्तान को मिला कर उसका क्षेत्रफल योरप के बराबर हो जाता है और उसकी आबादी बहुत बड़ी है, बल्कि इस बात में भी है कि अन्तरराष्ट्रीय मामलों में भारत जो रुख लेता है, उसका दूसरे एशियाई राष्ट्रों के रुख पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।" (अमरीकी रक्षा विभाग के प्रकाशन **भारत—पूर्व की 'तीसरी शक्ति'** से। यह पुस्तिका सैनिकों की शिक्षा के लिये प्रकाशित की गयी है।)

भारत को अपनी तरफ़ करने की यह अमरीकी कोशिश कई बरस से चल रही है। १९४५ में, जब अमरीका जाने वाले हिन्दुस्तानियों के सम्बंध में एक बिल पर अमरीकी कांग्रेस (पार्लामेंट) में बहस चल रही थी, तो उसी साल १० अक्तूबर को प्रतिनिधि सभा के सदस्य नोआ मेसन ने कहा था :

"अपने देश के हितों को ध्यान में रखते हुए, और यह समझते हुए कि अमरीका और रूस के बीच रस्साकशी अब शुरू हो रही है, मैं कहता हूँ कि हम लोगों को इस बिल का समर्थन करना चाहिये।" ('हिन्दू', १२ अक्तूबर, १९४५)

अतः भारत के प्रति अमरीका की नीति का मुख्य आधार, सोवियत संघ के खिलाफ़ लड़ने के वास्ते एक मोर्चा बनाने की उसकी संसारव्यापी नीति है। परन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद अमरीका की नज़रों में भारत का महत्व कुओमिन्तांग चीन और जापान के बराबर नहीं था।

अमरीका को भारत में बहुत मुश्किलों का भी सामना करना पड़ा। भारतीय जनता की साम्राज्य-विरोधी परम्परा बहुत पुरानी थी और वह अमरीका को भी यदि साम्राज्यवादी नहीं तो कम से कम साम्राज्यवादियों का मित्र जरूर समझती थी।

१२ जनवरी, १९४७ को राजदूत आसफ़अली ने भारत सम्बंधी अमरीकी आलोचनाओं का जवाब देते हुए कहा कि इस वक्त उनका देश एक "उग्र राष्ट्रवादी" अवस्था से गुज़र रहा है। जहाँ कहीं से भी उसे सहानुभूति और सहायता मिलती है, वह उसका स्वागत करता है। इस प्रकार, आसफ़ अली साहब, वास्तव में इस बात की सफ़ाई दे रहे थे कि दक्षिणी अफ्रीका के सवाल पर सोवियत संघ ने भारत का जिस तरह साथ दिया है, उसके कारण भारतवासी रूस के प्रति कृतज्ञ बनते दिखाई देते हैं।

इसलिये, इस जमाने में अमरीका की यह कोशिश थी कि आर्थिक और राजनीतिक दबाव डाल कर जल्द से जल्द इस "उग्र राष्ट्रवादी अवस्था" का अन्त कर दिया जाय ताकि भारत बराबर अमरीका का समर्थन करे।

१९४९ के शुरू में, अमरीका ने भारत पर दबाव डाला कि वह इंडोनीशिया तथा दूसरे औपनिवेशिक देशों की मदद करने में इतनी चुस्ती न दिखाये।

१ जनवरी, १९४९ को इंडोनीशिया के सवाल पर एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन बुलाते हुए, पं. नेहरू ने पश्चिमी योरप की सरकारों तथा अमरीका की कड़ी आलोचना की क्योंकि वे डच साम्राज्यवादियों की मदद कर रहे थे। नेहरू ने कहा :

> "हमें दुख के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि कुछ देशों का रवैया इस (डच) आक्रमण का चुपचाप समर्थन करने का है। हालैण्ड पश्चिमी संघ नामक संस्था का एक सदस्य है। इस संघ का क्या उद्देश्य है? उसने हालैण्ड को बहुत सा धन दिया है। हाल में, डच-पूर्वी

द्वीप समूह को जाने वाली मार्शल सहायता तो बन्द कर दी गयी है; पर हालैण्ड को अभी तक यह मदद दी जा रही है।"

पं. नेहरु ने मांग की कि डच सरकार फ़ौरन अपनी फ़ौजें इंडोनीशिया से हटा ले और दुनिया की दूसरी सरकारें हालैण्ड को मदद देना बन्द करें।

अमरीका में इस बयान से बड़ी चिन्ता पैदा हुई। अमरीकी लेखक लौरेंस के. रोज़िंजर के शब्दों में :

"... वाशिंगटन और लंदन को चिन्ता थी कि (नयी दिल्ली में होने वाले सम्मेलन में) बातचीत पता नहीं क्या रुख़ अख़्तियार कर ले। मिसाल के लिये, डर था कि कहीं यह सम्मेलन औपनिवेशिक शक्तियों के ख़िलाफ़ पूरब के लोगों की भावनाओं को उकसाने का काम न करे; कहीं ऐसा न हो कि इस सम्मेलन में एक एशियाई मोर्चे की नींव पड़ जाय, और पता नहीं दुनिया की राजनीति पर इसका क्या असर पड़े। डर था कि कहीं यह सम्मेलन संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा समिति पर दबाव डाल कर उससे कोई ऐसा काम कराने में न सफल हो जाय जिसके लिये अमरीका और ब्रिटेन तैयार नहीं हैं। यह भी ख़तरा था कि कहीं फ़िलस्तीन जैसे दूसरे नाज़ुक सवाल भी न इस सम्मेलन में उठ आयें। इन सब बातों को ध्यान में रख कर अमरीका ने भारत पर काफ़ी कूटनीतिक दबाव डाला कि नयी दिल्ली का सम्मेलन जहाँ तक सम्भव हो, एक नरम रुख़ अपनाये और अधिक से अधिक सीमित क्षेत्र में काम करे।" (**फ़ॉर इस्टर्न सरवे**, ५ अक्तूबर, १९४९; पृष्ठ २३१)

सम्मेलन का प्रचार इस ढंग से किया गया था जिससे मालूम पड़े कि वह पूरे एशिया का सम्मेलन है। परन्तु, सोवियत प्रजातंत्रों को या वियतनाम को निमंत्रण नहीं दिया गया था, यद्यपि नयी दिल्ली में होने वाले पहले एशियाई सम्मेलन में इन देशों ने भाग लिया था। दूसरी ओर ऑस्ट्रेलिया और न्यू ज़ीलैण्ड को दावतनामा भेजा गया था। ८ जनवरी, १९४९ को लन्दन के **इकोनोमिस्ट** ने इस बात पर सन्तोष प्रकट किया कि "पंडित नेहरु ने जिन देशों को निमंत्रण भेजा है, उस सूची में कई महत्वपूर्ण देशों के नाम ग़ायब हैं।"

९ जनवरी को पंडित नेहरू ने एक और बयान दिया। उसमें पश्चिमी संघ और मार्शल योजना का कोई ज़िक्र न था और कहा गया था कि एशियाई मोर्चा बनाने का किसी का कोई इरादा नहीं है। इसके दस रोज बाद, भारत सरकार के समाचार विभाग ने अपने ओटावा दफ़्तर से एक बयान निकाला। उसमें यह लिखा था :

"पांचवीं बात :- ब्रिटेन और अमरीका का रुख़—शुरू में इन दोनों देशों को जो घबराहट हुई, उसका कारण यह डर था कि कहीं एशियाई देश इस पहले सम्मेलन के बाद समान हितों के लिये मिल कर काम करना न सीख लें और इस तरह कहीं वे पश्चिमी शक्तियों की आधीनता से मुक्त न हो जायें। इन दोनों सरकारों से जो विचार-विनिमय हुआ, उससे अब उनकी सद्भावना प्राप्त हो गयी है।"

न्यू यौर्क टाइम्स ने २२ जनवरी को लिखा :

"बताया जाता है कि इस सम्मेलन में भारत में अमरीकी राजदूत, लौय हेण्डरसन बहुत महत्वपूर्ण भाग ले रहे हैं। ब्रिटेन की राय से, मि. हेण्डरसन बड़ी होशियारी से भारतीय प्रधान मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू को यह सलाह दे रहे हैं कि उन्हें अमरीका और ब्रिटेन की इस आशा का ध्यान रखना चाहिये कि सम्मेलन नरम रुख़ अपनायेगा और ऐसे फ़ैसले करेगा जिन पर सचमुच अमल किया जा सके।"

इस दबाव का पहला परिणाम यह हुआ कि इस सम्मेलन में इंडोनीशिया के सिवा और किसी सवाल पर विचार न हुआ। लौरेंस रोज़िंजर ने अपनी पुस्तक **भारत और अमरीका** में लिखा है :

"कोई भी प्रस्ताव इतना सख़्त न था जितने सख़्त प्रस्तावों की पहले उम्मीद की जाती थी। इंडोनीशिया वालों की यह उम्मीद पूरी न हुई कि सम्मेलन डच सरकार के खिलाफ़ कार्रवाई करने और इंडोनीशिया की मदद करने के लिये अपील करेगा। विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह थी कि सम्मेलन के प्रस्ताव में कहीं इसका भी कोई ज़िक्र न था कि यदि संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा समिति ने तुरन्त कोई कार्रवाई नहीं की तो सम्मेलन में भाग लेने वाले देश हालैण्ड के खिलाफ़ आर्थिक कार्रवाई करेंगे। प्रस्ताव में अस्पष्ट सी केवल यह बात कही

गयी थी कि सम्मेलन में भाग लेने वाले देश आगे फिर विचार-विनिमय करेंगे। यह बात भी महत्वपूर्ण थी कि किसी प्रस्ताव में यह सुझाव भी नहीं दिया गया था कि पश्चिमी राष्ट्रों को हालैण्ड की मदद नहीं करनी चाहिये।" (पृष्ठ ९९)

जाहिर था कि भारत ने अमरीका के दबाव के सामने सिर झुका दिया था। रोजिंजर के ही शब्दों में :

"...आने वाले महीनों में इंडोनीशिया के सवाल पर भारत ने खुलेआम बहुत कम दबाव डाला।...इस प्रश्न पर जो सार्वजनिक वाद-विवाद चल रहा था, उसमें भारत अब अधिकाधिक पृष्ठभूमि में ही रहना चाहता था। वास्तव में, नयी दिल्ली और वाशिंगटन ने अब जान लिया था कि (पूर्वी) द्वीप समूह के बारे में उनके सोचने के तरीकों में बहुत कुछ साम्य है।" (पृष्ठ १००)

विचारों का साम्य इंडोनीशिया के प्रश्न तक ही सीमित न था। यह उस समय प्रकट हुआ जब भारत ने मई १९४९ में ब्रिटिश कौमनवेल्थ में रहने का फ़ैसला कर लिया। जैसा कि **इस्टर्न इकोनोमिस्ट** ने लिखा था :

"कौमनवेल्थ सोवियत रूस के मुक़ाबले में अमरीका के ज़्यादा नजदीक है। इसलिये कौमेनवेल्थ में शामिल रहने का मतलब असल में यह होता है कि हम अमरीका की ओर झुक रहे हैं। इस राजनीतिक सचाई का परिणाम क्या होगा, यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिये। छोटे सवालों को छोड़ कर, हम राष्ट्र संघ में, या और कहीं, कोई ऐसी नीति नहीं अपना सकते जो कौमनवेल्थ और अमरीका की नीति के विपरीत हो।" (३१ दिसम्बर, १९४८)

पं. नेहरू की *अमरीका यात्रा*

अमरीकी कठपुतली च्यांग काई-शेक की चीन में हार होने के बाद अमरीका की नजरों में भारत का महत्व एकाएक बढ़ गया। प्रसिद्ध पत्रकार वाल्टर लिपमैन ने जनवरी, १९४९ में ही लिखा था :

"जाहिर है कि राष्ट्रवादी चीन, हालैण्ड और फ्रांस में अब सामर्थ्य नहीं कि वे एशिया में वह भूमिका पूरी कर सकें जिसकी हम उनसे

आशा करते थे। तो अब हमारे मददगार कहाँ से आयेंगे? एशिया में अमरीकी नीति निश्चित करने के लिये हमें पहले इस बुनियादी समस्या को हल करना होगा।...

"मेरी राय में, बहुत उचित होगा यदि चीन और इंडोनीशिया में अपनी पूरी नीति तै करने के लिये हम नेहरू से बातचीत शुरू करें।" (**न्यू यौर्क हेराल्ड ट्रिब्यून**, १० जनवरी, १९४९)

इसके कुछ सप्ताह बाद पं० नेहरू को अमरीका बुलाया गया और ११ अक्तूबर से ७ नवम्बर १९४९ तक उनका अमरीका में खूब स्वागत हुआ। चीन में अमरीका की हार के बाद भारत का महत्व क्यों इतना बढ़ गया था, यह अमरीकी समाचार पत्रों की टिप्पणियों से स्पष्ट हो गया। ३० अगस्त, १९४९ को युनाइटेड प्रेस ऑफ अमरीका ने यह समाचार भेजा था :

"ऐसे कूटनीतिज्ञों की संख्या बढ़ रही है जो समझते हैं कि एशिया में अमरीका की सफल वैदेशिक नीति की कुंजी भारत... है।"

२५ सितम्बर को ओवरसीज़ न्यूज़ एजेंसी के संवाददाता मैल्कौल्म हौब्स ने यह लिखा :

"अमरीकी वैदेशिक नीति के विकास का अगला क्षेत्र भारत होगा। ब्रिटेन के विदेश मंत्री बेविन और अमरीका के विदेश मंत्री एचीसन की बातचीत में यह निश्चय किया गया...

"भारत को यहाँ एक ऐसा अपूर्व अवसर समझा जाता है जिससे लाभ उठाकर अमरीका एशिया में अपनी हार को जीत में बदल सकता है।" (**डेली कम्पास**, २६ सितम्बर, १९४९)

अक्तूबर के शुरू में, सुदूर पूर्व की समस्याओं के अमरीकी विशेषज्ञ ओवेन लैटीमूर ने लिखा और जो ९ अक्तूबर १९४९ को प्रकाशित हुआ :

"चीनी कम्युनिस्टों ने सारे चीन की एक नयी सरकार बनाकर अपना काम शुरू कर दिया है।...

"इस घटना का मुकाबला करने के लिये अमरीका ने भी अपनी कार्रवाई शुरू कर दी है। वह प्रतीक्षा नहीं करना चाहता। बड़े

जोरों से यह कोशिश होनेवाली है कि भारत—पाकिस्तान नहीं—अमरीका की विश्व नीति का एक मुख्य अंग बन जाय। यह कोशिश या तो प्रधान मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू की अमरीका यात्रा के समय या उसके बाद आरम्भ होगी।" (सन्डे कम्पास, न्यू यौर्क)

१६ अक्तूबर, १९४९ को **न्यू यौर्क टाइम्स** ने यह लिखा :

"महीनों से, चीन में कम्युनिस्ट फ़ौजें बढ़ती आ रही हैं और वाशिंग्टन की आशाएँ एशिया के दूसरे सबसे बड़े राष्ट्र, भारत पर और उस व्यक्ति—प्रधान मंत्री, जवाहरलाल नेहरू—पर लगी हुई हैं जो उसकी नीति निर्धारित करता है। अमरीका को आशा है कि भारत एशिया में प्रजातांत्रिक तत्वों का केन्द्र-बिन्दु बन सकेगा।...

"अमरीका फिर से पश्चिमी प्रभाव को शक्तिशाली बनाने और इस प्रकार सुदूर पूर्व में कम्युनिज़्म को फैलने से रोकने की कोशिश कर रहा है। इस उद्देश्य को सामने रख कर वाशिंग्टन दक्षिण पूर्वी एशिया के अधिकतर देशों के ग़ैर-सरकारी प्रतिनिधि, प्रधान मंत्री नेहरू का सहयोग प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा है।"

२० अक्तूबर को सेनेटर (अब अमरीका के विदेश मंत्री) डलेस जौन फ़ौस्टर ने न्यू यौर्क में एक महत्वपूर्ण भाषण दिया जिसकी रिपोर्ट अगले रोज़ के **न्यू यौर्क टाइम्स** में इन शब्दों में प्रकाशित हुई :

"यह सोचते हुए कि कहीं चीन में कम्युनिज़्म के ख़िलाफ़ अमरीका की कोशिशों का ग़लत मतलब न लगाया जाय, (सेनेटर डलेस ने) सुझाव दिया कि सुदूर पूर्व में कम्युनिस्टों के बढ़ाव को रोकने की लड़ाई का नेतृत्व इस क्षेत्र के उन लोगों को करना चाहिये जिनके हित इस लड़ाई में दाँव पर लगे हुए हैं।

"मि. डलेस ने (इस लड़ाई के) नेतृत्व का काम करने के लिये भारत के प्रधान मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू का नाम सुझाया है। पं. नेहरू आजकल न्यू यौर्क आये हुए हैं।"

२२ अक्तूबर को न्यू यौर्क की आर्थिक पत्रिका **बिज़नेस वीक** ने लिखा :

"पं. नेहरू गत सप्ताह ठीक उस समय वाशिंगटन पहुँचे जब चीनी कम्युनिस्ट कैन्टन फ़तह करने की तैयारी कर रहे थे। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। चीन में राष्ट्रवादियों की अवश्यम्भावी पराजय...और उससे पैदा होने वाली, भारत के साथ अमरीका के घनिष्ठ सम्बंध स्थापित करने की आवश्यकता ने हमारे विदेश विभाग को पं. नेहरू की अमरीका यात्रा की व्यवस्था करने के लिये प्रेरित किया था।"

आगे इसी पत्रिका ने लिखा था कि नयी दिल्ली के कुछ हल्कों का "कहना है कि यूरेशिया के किनारे वाले देशों को—जिनमें ब्रिटेन से लेकर इंडोनीशिया तक के सभी देश शामिल हैं—इस भूमि-खण्ड के 'हृदयस्थल' के यानी सोवियत संघ के इर्द-गिर्द वाले देशों के खिलाफ़ मिलकर काम करना चाहिये। इन क्षेत्रों की राय में भारत का काम हिन्द महा सागर की रक्षा करना है।" इस समाचार पर इस पत्रिका ने शीर्षक दिया था : "अमरीका चाहता है कि सोवियत संघ और चीन वाले हृदय-स्थल के खिलाफ़ चारों ओर समुद्री देशों की घेरेबन्दी में भारत को शामिल करने के लिये नेहरू की मदद ली जाय।"

२३ अक्तूबर को **न्यू यॉर्क टाइम्स** ने समाचार छापा :

"अमरीका के कूटनीतिक क्षेत्रों का विचार है कि अन्त में भारत एक ऐसी अवस्था में पहुँच जायगा कि पूर्व और पश्चिम के संघर्ष में तटस्थ रहना उसके लिये असम्भव हो जायगा। और ऐसी अवस्था में भारत पश्चिमी जनतांत्रिक देशों का समर्थन करने का निश्चय करेगा। अतः वाशिंगटन में भारत के साथ काफ़ी राजनीतिक सहानुभूति और मि० नेहरू की अपने देश की समस्याओं को हल करने में मदद करने की इच्छा पायी जाती है।"

२७ अक्तूबर को मार्गरेट पार्टन ने **हेराल्ड ट्रिब्यून** में लिखा :

"जैसे-जैसे कम्युनिज़्म चीन में जमता जाता है और दक्षिण पूर्वी एशिया के लिये उसका खतरा बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे पूर्व में भारत जनतंत्र के सबसे दृढ़ स्तम्भ के रूप में सामने आता जाता है।...

"जनतांत्रिक देशों के वास्ते एशिया में अब जितने फ़ौजी अड्डे बचे हैं, उनमें सबसे बड़ा अड्डा बनने की शक्ति भारत में है। उसकी

जन-शक्ति अपार है। उसके पास कोयला, मैंगनीज़, लोहा, अबरक और कुछ पेट्रोल भी हैं। उसके पास दुनिया का एक सबसे बड़ा इस्पात का कारखाना है।"

फौरच्यून नामक पत्रिका के दिसम्बर, १९४९ के अंक में, "सुदूर पूर्व और अमरीका की व्यापार एवं उद्योग समिति" के कार्यवाहक उपाध्यक्ष मिल्डरेड ह्यूज ने लिखा :

"अधिकाधिक अमरीकी लोग भारत को एशिया में बढ़ती हुई कम्युनिज़्म की लहर को रोकने के सबसे मज़बूत केन्द्र के रूप में देखने लगे हैं। मिसाल के लिये, स्वयं मेरा विचार है कि अब से पाँच साल के बाद या तो सुदूर पूर्व में अमरीका के हितों का कोई शक्तिशाली रक्षक नहीं रहेगा, या रहेगा तो वह भारत होगा।"

दिसम्बर १९४९ में नयी दिल्ली में जो भारत-अमरीका सम्मेलन हुआ, उसमें अमरीका के वैदेशिक नीति संघ (फ़ॉरेन पौलिसी एसोसियेशन) की सदस्या वीरा मिचेल्स डीन ने अमरीका के नये दृष्टिकोण की इस प्रकार व्याख्या की :

"एक बार चीन से निराश हो जाने के बाद अमरीका भारत की ओर बढ़ती हुई दिलचस्पी के साथ देखने लगा। ब्रिटेन से स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद से भारत में चूंकि तुलनात्मक दृष्टि से राजनीतिक शान्ति रही है, इसलिये अमरीका की नज़रों में उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी है। पं. जवाहरलाल नेहरू और दूसरे भारतीय नेताओं की आवाज़ को अमरीका में बहुत ध्यान से सुना जाता है क्योंकि वहाँ वह न केवल भारत के प्रतिनिधि समझे जाते हैं, बल्कि लोगों का खयाल है कि उनमें एक दिन सारे एशिया के प्रतिनिधि बनने की क्षमता है। अमरीका के लिये आर्थिक दृष्टिकोण से भी भारत महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह लाख, जूट, अबरक, मैंगनीज़ और ऐसी अनेक वस्तुएँ पैदा करता है जो सैनिक दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हैं। उधर, भारत बिजली पैदा करने और औद्योगीकरण की एक बड़ी भारी योजना तैयार कर रहा है जिसके लिये उसे अमरीका से टेकनिकल और आर्थिक मदद लेनी पड़ेगी। कुछ अमरीकी लोगों को पहले यह डर था कि भारत अमरीका और सोवियत संघ के बीच तटस्थता का ढंग अपनायेगा। परन्तु जब

१९४९ में भारत ने उस ब्रिटिश राष्ट्र समूह (कौमनवेल्थ) में रहने का निश्चय किया, जिसके साथ अमरीका का १९४५ से ही पूर्ण राजनीतिक, आर्थिक और सैनिक सहयोग चल रहा है, तो यह भय किसी क़दर दूर हो गया।" ("युद्धोत्तर कालीन अमरीकी वैदेशिक नीति की मुख्य प्रवृत्तियाँ" शीर्षक साइक्लोस्टाइल लेख जो नयी दिल्ली के सम्मेलन में पढ़ा गया)

८ दिसम्बर, १९४९ के **मैनचेस्टर गार्जियन** में लेफ्टिनेंट जनरल सर फ्रांसिस टुकर ने लिखा :

"बताया जाता है कि मि० नेहरू को वाशिंगटन आने का निमंत्रण देने में अमरीकी सरकार का उद्देश्य यह था कि उनके साथ दक्षिण-पूर्वी एशिया की सैनिक तथा आर्थिक समस्याओं पर बातचीत कर सके।"

९ फ़रवरी, १९५० को लन्दन के पत्र **डेली ग्राफिक** ने लिखा :

"अमरीका पं. नेहरू से हिन्दुस्तान में हवाई अड्डे लीज़ (पट्टे) पर लेने के सम्बंध में बातचीत करेगा।"

बिज़नेस वीक ने २२ अक्तूबर, १९४९ को बताया :

"विदेश विभाग नेहरू को अमरीका इसलिये बुलाना चाहता था कि उसे इस प्रकार उनकी 'तटस्थता' को दूर कर देने की आशा थी। इसी उम्मीद से मंत्री एचीसन संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा समिति में कनाडा की सीट को प्राप्त करने में भारत की कोशिश का समर्थन करेंगे।

"एचीसन सोचते हैं कि एक बार सुरक्षा समिति का सदस्य हो जाने पर भारत (१) मास्को के तौर-तरीक़ों से परिचित हो जायगा और (२) खुलेआम मास्को का विरोध करने लगेगा।"

नेहरू एक समाजवादी के रूप में भी मशहूर हैं, इस बात को अमरीकी नीति के लिये बहुत उपयोगी समझा गया। जैसा कि अमरीका की इंडिया लीग के अध्यक्ष जे. जे. सिंह ने १३ मार्च, १९४९ में ही कहा था :

"दक्षिणी-पूर्वी एशिया की करोड़ों-करोड़ भूखी जनता के बीच कम्युनिस्ट नारों और कम्युनिस्ट कार्यक्रमों का मुकाबला केवल गरम नारों और गरम कार्यक्रमों के द्वारा ही किया जा सकता है।" (**न्यू यौर्क टाइम्स** में प्रकाशित सम्पादक के नाम पत्र)

इसलिये पं. नेहरू की समाजवादी शब्दावली और 'तटस्थता' के दावों से अधिकतर अमरीकी अफ़सरों को कोई खास परेशानी नहीं होती थी। २८ नवम्बर, १९४९ को भारतीय पार्लमेंट में पं. नेहरू ने बताया कि "अमरीका के जिम्मेदार लोग भारत की किसी भी गुट का साथ न देने की मौजूदा नीति को समझते हैं—और उनमें से कुछ तो उसको पसन्द भी करते हैं।"

अमरीका में पं. नेहरू का जो ज़ोरदार स्वागत हुआ, उसके जवाब में उन्होंने अमरीका के साथ मित्रता प्रकट करते हुए कई बयान दिये। और जब, २६ अक्तूबर, १९४९ को शिकागो में बोलते हुए उन्होंने खुलेआम "सोवियत व्यवस्था" की निन्दा भी कर दी तो अमरीकी अधिकारियों के मन की कली खिल उठी।

पं० नेहरू की अमरीका यात्रा के समय भारतीय अफ़सरों ने अमरीकी अफ़सरों से महत्वपूर्ण विषयों पर बातचीत की। परन्तु पं० नेहरू जानते थे कि उनके देश में लोगों को उनकी अमरीका यात्रा के बारे काफ़ी सन्देह है और अमरीकी गुट भारतीय जनता को अधिक पसन्द नहीं है। इसलिये, उन्होंने कोई साफ़ वायदा करना उचित नहीं समझा। उधर भारतीय सन्देहों को दूर करने के लिये राजदूत लौय हेण्डरसन ने भी यह जरूरी समझा कि एक बयान निकाल कर यह बात साफ़ कर दे कि अमरीका ने पं० नेहरू से कोई खुफ़िया या गुप्त वायदा करने की मांग नहीं की है।

पं० नेहरू के भारत लौट आने के थोड़े दिन बाद लौरेंस रोसिंजर ने अपनी किताब में लिखा कि अभी भारत-अमरीका के सम्बंधों ने "ठोस रूप" धारण नहीं किया है। परन्तु सहायक विदेश मंत्री जौर्ज मघी ने १३ दिसम्बर, १९४९, को ऐलान किया कि अमरीका पं० नेहरू की यात्रा को "हमारे भावी सम्बंधों के लिये एक बहुत महत्वपूर्ण बात समझता है।"

१९५०-५१ में भारत और अमरीका के मतभेद

मि० मघी का मत निराधार नहीं था। यह जून और जुलाई १९५० में सिद्ध हो गया जब भारत ने कोरिया के बारे में सुरक्षा समिति के प्रस्तावों का पूरी तरह समर्थन किया। पं० नेहरू ने स्तालिन और एचीसन को जो खत लिखे थे, उनसे अमरीकी अधिकारी कुछ नाराज तो हुए, परन्तु बाद में कहा

गया कि नेहरू वास्तव में इन पत्रों को प्रकाशित नहीं करना चाहते थे, वह तो सोवियत रूस ने उन्हें छाप दिया। पं. नेहरू ने शिकायत की कि पश्चिमी ताक़तें "एशिया की असली ज़रूरतों और उसके लोगों के दिमाग़ को समझे बिना ही" एशिया के सवालों पर फ़ैसले कर लेती हैं। अमरीकावाले इस बयान पर भी नाराज़ नहीं हुए। **न्यू यौर्क टाइम्स** ने ५ अगस्त, १९५० को अपने सम्पादकीय में लिखा :

"नेहरू चूँकि एशिया के प्रमुख राजनीतिज्ञ हैं और भारत चूँकि उस महाद्वीप का सबसे महत्वपूर्ण ग़ैर-कम्युनिस्ट देश है, इसलिये हम नेहरू के दृष्टिकोण से सहमत हों या नहीं, उसे समझना हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक है।"

नेहरू की वैदेशिक नीति का मूल्यांकन करते हुए उसने आगे लिखा :

"चीन में वह रूस के बाद कम्युनिस्ट सरकार के सब से बड़े समर्थक हैं। चीन के प्रति भारत का यह रुख़ समझ में आने वाली चीज़ है। परन्तु हमारा कहना है कि चीन के सवाल को कोरिया के सवाल के साथ नहीं उलझाना चाहिये। नेहरू ने दोनों सवालों को उलझा कर, और चीन के सवाल का रूसियों को खुश करने के लिये रिश्वत के रूप में इस्तेमाल करके पश्चिम के लिये मुश्किल पैदा कर दी है और उसे कमज़ोर बनाया है। यह एक ऐसा मामला था जिसमें एशियाई दिमाग़ ने पश्चिमी दिमाग़ को नहीं समझा, अन्यथा यह तो पहले से ही स्पष्ट था कि पश्चिमी ताक़तें नेहरू के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकती थीं।

"फिर भी, पं. नेहरू ने कोरियाई हमले की निन्दा की है। जैसा उन्होंने कल कहा कि वह और भारत कभी तटस्थ नहीं रहे। वे तो जनतंत्र के पक्ष में हैं, जिसका मतलब यह होना चाहिये कि जब कभी कम्युनिस्टों और पश्चिमी देशों के बीच चुनने का समय आयेगा, जैसा कोरिया के सवल पर आया था, तब भारत हमारा साथ देगा। जब तक हम स्वतंत्रता और जनतंत्र के लिये लड़ते रहेंगे, तब तक जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में चलने वाली कोई सरकार हमारा विरोध नहीं करेगी।"

अगस्त के अन्त में, अमरीका को पं. नेहरू से बड़ी आशाएँ थीं। २९ अगस्त, १९५० को **न्यू यॉर्क टाइम्स** ने लिखा :

> "एशिया का संघर्ष सम्भवतः एक आदमी के दिमाग़ के अन्दर हारा या जीता जायगा—वह है जवाहरलाल नेहरू। चाहे आप उनके विचारों से सहमत हों या नहीं—और हम में से अधिकतर उनके कुछ विचारों से किसी क़दर दुखी रहे हैं—फिर भी कोई इससे इनकार नहीं कर सकता कि एशिया की सबसे महत्वपूर्ण ग़ैर-कम्युनिस्ट आवाज़ नेहरू की है। एक मानी में वह कम्युनिस्ट पक्ष के माओ से-तुंग के मुक़ाबले में जनतंत्र के पक्ष का पलड़ा बराबर करनेवाले हैं। एशिया का समर्थन प्राप्त करने के संघर्ष में नेहरू को अपने साथ ले आना कई डिवीज़न फ़ौज को अपने साथ ले आने के बराबर है। और उनको अपना विरोधी या आलोचक बना लेना सारे एशिया में पश्चिमी जनतंत्र की स्थिति को संकट में डाल देना है...।"

परन्तु चन्द सप्ताह के अन्दर भारत में नयी शक्तियों ने ज़ोर पकड़ लिया। कोरिया में अमरीका जिस निर्मम ढंग से युद्ध चला रहा था, उसका भारतीय जनमत पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा था। भारत के लोग इस नतीजे पर पहुँचने लगे कि एशिया में अमरीका की नीति अलग-अलग आकस्मिक ग़लतियों का ताँता नहीं है, बल्कि एक सुनिश्चित नीति है। उसका मुख्य आधार एशिया के इन्सानों की ज़िन्दगियों को दो कौड़ी का समझना है। बुद्धिजीवियों के छोटे परन्तु प्रभावशाली क्षेत्र में बड़ी तेज़ी से यह विचार फैल गया। उदाहरण के लिये, प्रशान्त क्षेत्र के सम्बंधों की संस्था (इंस्टीट्यूट ऑफ़ पैसिफ़िक रिलेशन्स) के लखनऊ सम्मेलन में, जो अक्तूबर १९५० में हुआ, यह भावना ज़ोरों से प्रकट हुई। सम्मेलन की रिपोर्ट में कहा गया है कि :

> "कई प्रतिनिधियों ने यह बात स्पष्ट कर दी कि आजकल एशिया में पश्चिम-विरोधी भावना ब्रिटेन के ख़िलाफ़ इतनी नहीं, जितनी अमरीका के ख़िलाफ़ काम करती है। एशिया के लोगों में नीचे लिखे विचार पाये जाते हैं : अमरीका एशिया में बहुत ज़्यादा दूर तक अपने फ़ौजी अड्डे फैला रहा है; अमरीका रूस से एशिया की भूमि पर लड़ना चाहता है, जिसकी मिसाल कोरिया है; अमरीका योरप

में तो नहीं पर एशिया में एटम बम का इस्तेमाल करने को तैयार है; अमरीका एशियाई लोगों की जिन्दगी की क़तई परवा नहीं करता—चाहे जितनी भी एशियाई जानें लड़ाई में कुरबान हो जायें, उसकी बला से; अमरीका ने कोरिया में संयुक्त राष्ट्र संघ को इतनी चुस्ती से काम करने दिया क्योंकि वहाँ उसके सैनिक हितों का सवाल था।"

भारतीय प्रतिनिधियों ने इस सम्मेलन में जो राय ज़ाहिर की, उससे पं. नेहरू ने अपने को अलग कर लिया; परन्तु आसानी से समझा जा सकता है कि उसका भारत सरकार पर असर पड़ा और कुछ दिन बाद उसने एशिया के संघर्ष को शान्तिपूर्वक सुलझाने का प्रस्ताव पेश किया।

अमरीकावाले तो उससे एकदम बौखला उठे। उन्हें सबसे ज़्यादा गुस्सा इस बात पर था कि नेहरू सरकार ने भारतीय जनमत को 'सही' दिशा में मोड़ने की कोशिश करने के बजाय, खुद भी उसके सामने सिर झुका दिया। भारत के रवैये का एशिया के दूसरे देशों के रवैये और स्वयं अमरीका के जनमत पर असर पड़ रहा था। इस गुस्से को ज़ाहिर करते हुए १२ अक्तूबर, १९५० को **न्यू यॉर्क टाइम्स** ने एक सम्पादकीय लेख में लिखा :

"इंस्टीच्यूट ऑफ़ पैसिफ़िक रिलेशन्स के लखनऊ सम्मेलन में भारतीय और पाकिस्तानी प्रतिनिधियों ने अमरीका पर जो हमले किये हैं, उन्हें सहन करना कठिन है—विशेष कर ऐसे समय जब एशिया की रक्षा के लिये और उसका जीवन स्तर ऊँचा उठाने के वास्ते अमरीकी खून बहाया जा रहा है और अमरीका के सभी कर देने वालों का रुपया पानी की तरह खर्च किया जा रहा है।

"यदि ऐसा होता कि केवल अपने अज्ञान और उससे उत्पन्न भ्रांत धारणाओं के कारण कुछ व्यक्तियों ने यह आरोप लगाया था कि आर्थिक सहायता का उद्देश्य साम्राज्यवादी है, तो कहना पड़ेगा कि दोष नयी दिल्ली और कराँची की सरकारों, वाशिंगटन में उनके राजदूतावासों और भारत तथा पाकिस्तान के अखबारों का है। विश्वास नहीं होता कि इन सरकारों के अफ़सरों में इतनी भी बुद्धि नहीं कि उन्हें अपने बुद्धिजीवियों और पत्रकारों को इस भ्रम में नहीं रहने देना चाहिये था कि

अमरीका एशिया को आर्थिक सहायता केवल इसलिये भेज रहा है ताकि एशिया वाले वॉल स्ट्रीट के गुलाम बन जायें।

"भारत से मित्रता रखने वाले एक समाचार पत्र की हैसियत से हम अपने कर्तव्य की अवहेलना करेंगे यदि हम यह स्पष्ट न कर दें कि कोरिया के सम्बंध में प्रधान मंत्री नेहरू जिन नीतियों पर चल रहे हैं, उनसे अमरीकियों को भी घोर निराशा हुई है।...

"पं. नेहरू एशिया की ओर से बोलने का दावा करते हैं, परन्तु यह तो सन्यास-वृत्ति की आवाज़ है। वह आलोचना करते हैं तो विनाशकारी। वह नीति निर्धारित करते हैं तो शत्रु को खुश करनेवाली। सब से बुरी बात यह है कि उनके रुख से यह भी नहीं मालूम होता कि वह किस नैतिक सिद्धान्त के आधार पर अपना मत निश्चित करते हैं। विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि नेहरू की नीति पर इतिहास का निर्णय यही होगा कि उसका उद्देश्य अच्छा था, परन्तु वह एक कमज़ोर, ढीली, अदूरदर्शी और गैर-जिम्मेदार नीति थी।... स्वतंत्रता, एशियाई राष्ट्रवाद और न्याय तथा सत्य के पक्ष को नेहरू हानि पहुँचा रहे हैं।"

इसी बीच में भारत ने अमरीका से कर्ज़ पर गेहूँ मांगा तो गालियों के साथ-साथ दबाव भी इस्तेमाल किया जाने लगा। दिसम्बर, १९५० में विदेश मंत्री एचीसन ने श्रीमती पंडित को बताया कि वह ऐसा कोई प्रस्ताव अमरीकी कांग्रेस के सामने लेकर गये तो उसका अच्छा स्वागत नहीं होगा। **यू. एस. न्यूज़. एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट** पत्रिका ने १९ जनवरी, १९५१ को लिखा :

"नेहरू बीस लाख टन अमरीकी अनाज भेंट के रूप में चाहते हैं। उसे पाने के लिये उन्हें सम्भवतः बहुत दिन इन्तजार करना पड़ेगा। कोरिया में चीन के आक्रमण के प्रति भारत ने जो रुख अपनाया है, या सुरक्षा की व्यवस्था में उसने जितना सहयोग दिया है, उसका इस देश के अधिकारियों पर अच्छा असर नहीं पड़ा है।"

दो दिन बाद **एसोसियेटेड प्रेस ऑफ़ अमरीका** ने यह समाचार प्रकाशित किया :

"अधिकारियों का कहना है कि संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन के दाखिले की बार-बार मांग करके, कोरिया में समझौते पर ज़ोर देकर, और आक्रमणकारी के रूप चीन की निन्दा करने का खुल्लमखुल्ला विरोध करके नेहरू (अमरीकी अधिकारियों की) उनकी मदद नहीं कर रहे हैं, बल्कि उल्टे मुश्किलें पैदा कर रहे हैं।"

सेनेट की वैदेशिक नीति सम्बंधी समिति के अध्यक्ष, टौम कौनोली ने २५ जनवरी को ऐलान किया कि भारत की दरखास्त पर उस समय तक कोई कार्रवाई नहीं की जायगी, जब तक कि एक उपसमिति "भारत के साथ अमरीकी सम्बंधों के पूरे प्रश्न पर विचार" न कर ले।

अन्त में, १२ फ़रवरी को अमरीकी राष्ट्रपति ने अमरीकी कांग्रेस के सामने प्रस्ताव रखा कि वह बीस लाख टन गेहूँ भेजने की इजाज़त तो दे दे, परन्तु रुपया अभी दस लाख टन के लिये ही ले। न्यू यौर्क के **डेली कम्पास** ने इस पर १४ फ़रवरी को लिखा :

"... राष्ट्रपति ने जो शर्त लगा दी है, उसका और कोई स्पष्टीकरण अभी नहीं दिया गया है, इसलिये उसका यही मतलब लगाया जा सकता है कि उसके द्वारा भारत को यह चेतावनी दी गयी है कि अब उसे संयुक्त राष्ट्र संघ में अमरीका के कहे पर चलना चाहिये।"

परन्तु चीन के सवाल पर अमरीका के दबाव के सामने भारत नहीं झुका। नतीजा यह हुआ कि अमरीकी अखबारों ने और भी ज़ोरों से गालियाँ देनी शुरू कर दीं। २४ जनवरी, १९५१ को न्यू यौर्क के **डेली मिरर** ने संयुक्त राष्ट्र संघ के भारतीय प्रतिनिधियों के बारे में कहा कि वे "सोवियत रूस के...हिन्दू दलाल" हैं। जब अगस्त, १९५१ में भारत सरकार ने जापानी संधि के अमरीकी मसविदे पर दस्तख़त करने से इनकार कर दिया तो अमरीकी पत्रों की बौखलाहट सीमा पर पहुँच गयी। २७ अगस्त को एसोसियेटेड प्रेस ने वाशिंग्टन से यह समाचार भेजा :

"जापानी शान्ति संधि का बहिष्कार करके भारत अपनी ओर अमरीका की नीति को और सख़्त बना देगा।"

२८ अगस्त को **डेली मिरर** ने नेहरू पर आरोप लगाया कि वह "एशियाई साज़िश" कर रहे हैं और ऐलान किया कि "इस देश का एक

शत्रु नेहरू का हिन्दुस्तान है।" **न्यू यौर्क टाइम्स** ने "पथ-भ्रष्ट नेता" शीर्षक से एक सम्पादकीय लेख में यह लिखा :

"जवाहरलाल नेहरू बहुत तेजी से युद्धोत्तर-कालीन युग की एक परम निराशाजनक घटना बनते जा रहे हैं।...(चन्द वर्ष हुए) पश्चिम समझता था कि लाजिमी तौर पर वह एक स्वतंत्र, जनवादी, कम्युनिस्ट-विरोधी एशिया का समर्थन करेंगे और उनके नेतृत्व में भारत एशिया का नेतृत्व करेगा।...

"एशिया के भले के लिये उसका नेतृत्व अपने हाथ में लेने के बजाय नेहरू अपनी जिम्मेदारियों से हट गये; उन्होंने भारत की उदासीनता की घोषणा की और एक 'स्वतंत्र' तीसरी शक्ति वाला भारत बनाने की चेष्टा की जो हमारे युग के दो निर्णायक आन्दोलनों —कम्युनिज़्म जिसका नेता रूस है, और जनतंत्र जिसका मुख्य समर्थक अमरीका है—के बीच हवा में लटका रहेगा।

"परिणाम यह हुआ कि नेहरू और भारत दोनों शून्य में मग्न हो गये। उन्होंने महानता को ठुकराया है—और इतिहास इसके लिये उन्हें क्षमा नहीं करेगा।"

२९ अगस्त को प्रतिनिधि सभा के सदस्य वेसली डेवार्ट ने सुझाव पेश किया कि जब तक भारत "क्रेमलिन का उल्लू सीधा करता है" तब तक अमरीका को उसे किसी तरह की मदद नहीं देनी चाहिये। स्क्रिप्स-हॉवर्ड गुट के अखबारों में नियमित रूप से लिखने वाले पत्रकार लुडवेल डेनी ने नेहरू को "अन्दर से तोड़-फोड़ करने वाला" कहा।

६ सितम्बर को, पत्रकार जौर्ज सोकोल्स्की ने यहाँ तक कह डाला कि नेहरू की बनियों जैसी मनोवृत्ति है और "कम्युनिज़्म के साथ उनका कम से कम १९२९ से सम्बंध है।" **यू. एस. न्यूज़ एण्ड वर्ल्ड रिपोर्ट** जैसे एक जिम्मेदार समझे जानेवाले पत्र ने १७ अगस्त और ३१ अगस्त को लिखा कि पं. नेहरू लेडी माउंटबैटन के असर में आकर अमरीका का विरोध करने लगे हैं।

पुनर्मिलन

परन्तु अनेक प्रभावशाली अमरीकी यह बात समझने लगे थे कि धमकियों और गालियों से काम नहीं चलेगा, बल्कि उल्टे उनसे एशिया में

अमरीका की स्थिति के बिगड़ जाने का खतरा है। वाशिंग्टन में कुओमिंतांग समर्थक अमरीकियों ने भारत के साथ अमरीका के सम्बंध बिगाड़ने के लिये कुछ उठा न रखा था। परन्तु १९५१ के मध्य से एक उल्टा आन्दोलन वहाँ शुरू हुआ। भारत पर दबाव तो जारी रहा, पर साथ ही कुछ मित्रता का प्रदर्शन भी होने लगा। अमरीकी अधिकारी मतभेदों पर कम और समान बातों पर ज़्यादा जोर देने लगे।

उप-सहायक विदेश मंत्री वर्टन बेरी ने २८ फ़रवरी, १९५१ को कहा :

"पाकिस्तान और भारत...दोनों हमारी ओर मित्रता का भाव रखते हैं। हमें उनसे कोई शिकायत नहीं है।...

"भारत...जिसकी आबादी ३५ करोड़ है, बुनियादी तौर पर हमसे दोस्ती रखता है। मि. नेहरू ने ज़रूर कुछ ऐसी बातें कही हैं और कुछ ऐसे कार्य किये हैं जिनको हम उचित नहीं समझते; परन्तु ऐसी चीज़ों की वजह से हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि भारत को जनतांत्रिक देशों के परिवार का सदस्य बनाये रखना हमारे लिये कितना आवश्यक है।"

सहायक विदेश मंत्री मथी ने भी २४ जुलाई, १९५१ को भारत की नीति का कुछ इसी तरह का मूल्यांकन किया :

"गोकि भारत की सरकार और उसके अधिकतर लोग घरेलू मामलों में तानाशाही और कम्युनिज्म के कट्टर विरोधी हैं, किन्तु सोवियत संघ और उसके अधीन देशों के खिलाफ़ पश्चिमी... देशों का भारत ने दृढ़ता से साथ नहीं दिया है। दूसरी ओर, भारत स्वेच्छा से ब्रिटिश राष्ट्र समूह कासदस्य है, संयुक्त राष्ट्र संघ का सक्रिय सदस्य है, और उसकी स्थापना के समय से ही, एक चीन के सवाल को छोड़ कर, प्रायः सभी प्रश्नों पर ग़ैर-कम्युनिस्ट देशों के साथ वोट करता आया है।... कम्युनिस्टों के साथ, जो भारत की वर्तमान सरकार के सब से कट्टर आलोचक हैं, भारत सरकार और प्रदेशों की सरकारें बहुत सख़्ती से पेश आती हैं।"

भारत के बारे में इतनी 'समझदारी' अब क्यों बरती जा रही थी? मई-जून १९५१ में, वैदेशिक सम्बंधों के विषय में एक गुप्त और बहुत ही

महत्वपूर्ण कनाडा-अमरीका सम्मेलन हुआ था। उसकी कार्रवाई की रिपोर्ट में इस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है :

"एक कनाडा-वासी ने कहा कि भारत अपनी सीमाओं के अन्दर तो कम्युनिज़्म का विशेष रूप से विरोधी है, परन्तु बाहर वह उसकी ओर से एक अजीब ढंग से उदासीन रहता है। उसकी राय में इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो भारत-वासी चीन में 'जनता की जीत' को पश्चिम की हार समझते हैं। दूसरे, भारत योरप में कम्युनिज़्म के बढ़ाव पर और कम्युनिस्टों के आधीन देशों पर उसके बुरे प्रभाव की ओर उचित ध्यान नहीं देता। कोई बहुत जोरदार धक्का लगने पर ही भारत के दृष्टिकोण में कुछ अन्तर पड़ सकता है—ऐसा धक्का उसे लग सकता था यदि पश्चिम वाले तिब्बत में कम्युनिस्टों के घुसने का पूरा-पूरा इस्तेमाल कर पाते।

"सम्मेलन की राय थी कि 'साम्राज्यवादी' अमरीका के विरोध की भावना का गढ़ भारत है...।

"कनाडा-वासियों का खयाल था कि एशिया में अपने लिये सहानुभूति पैदा करने और कम्युनिज़्म का मुक़ाबला करने की पश्चिम की कोशिशों की सफलता या असफलता बहुत कुछ भारत पर निर्भर करेगी। भारत न सिर्फ़ एशिया का प्रमुख जनतांत्रिक देश है, बल्कि उसने चूँकि अंग्रेज़ों के राजनीतिक तरीक़ों और शासन प्रणालियों को विरासत में पाया है, इसलिये वह एशिया का सबसे दृढ़ और मज़बूत भाग भी है।...

"कनाडावासियों का कहना है कि अमरीका को मि० नेहरू की कठिनाइयों को समझना चाहिये, और उनसे यह आशा नहीं करनी चाहिये कि वह एक अमरीकी राजनीतिज्ञ की तरह काम करने लगेंगे। नेहरू के सुझावों का इस प्रकार स्वागत नहीं करना चाहिये जैसे 'एक तीसरे दर्जे के दोस्त की दूसरे दर्जे की सलाह' का स्वागत किया जाता है। इससे वह हम लोगों के विरोधी बन जायेंगे। एशिया में एक जनवादी नेतृत्व के विकास के लिये आवश्यक है कि पश्चिमी ताक़तें एशियाई नेताओं के साथ बराबरी का व्यवहार करें; उनकी राय सुनें और यदाकदा उनकी सलाह पर चलना भी स्वीकार करें।

"कम से कम एक अमरीकी भी ऐसा था जो इन तर्कों से सहमत था। उसने कहा कि मि. नेहरू सौ प्रतिशत तो सही नहीं हैं, पर 'काश चीन में भी हमारे पास एक नेहरू होता, यदि कोरिया में आधा नेहरू होता, और इंडोनीशिया में चौथाई नेहरू ही होता' तो कितना अच्छा होता!" (टर्नर रोबर्ट की किताब, पृष्ठ ५९-६०)

संक्षेप में, मतलब यह था कि भारत जैसे महत्वपूर्ण देश को जल्दबाज़ी में छोड़ा नहीं जा सकता। भारत सरकार, बुनियादी तौर पर अमरीका की समर्थक है, और यदि कभी उस अपने देश के लोकमत का खयाल करके कुछ कहना पड़ता है तो हमें उसे पर नाराज़ नहीं होना चाहिये। मार्शल योजना के भूतपूर्व व्यवस्थापक पौल हौफमैन ने भी यही राय प्रकट की। उन्होंने कहा कि अन्तरराष्ट्रीय मामलों में बिल्कुल अधकचरे अमरीकी यह चाहेंगे कि भारत को जो गेहूँ दिया गया है, उसके बदले में भारत के स्कूली बच्चे हर रोज़ अमरीकी झण्डे को सलामी दिया करें।

भारत के प्रति यह नया, 'ज़्यादा समझदारी का' रुख कुछ सरकारी अधिकारियों और प्रोफेसरों तक ही सीमित नहीं था। रिपब्लिकन पार्टी के नेता, हैरोल्ड स्टैसेन ने ९ अक्तूबर, १९५१ को सेनेट की विदेश विभाग समिति के सामने कहा कि "भारत के साथ उठने वाले खास-खास सवालों पर हमने इस प्रकार का व्यवहार किया है कि उसके साथ हमारे सम्बंध और बिगड़ गये हैं।" स्टैसेन ने विदेश विभाग पर आरोप लगाया कि वह ऐसी नीतियों पर चल रहा है जिनसे भारत में कांग्रेस पार्टी और पं० नेहरू की जड़ कमज़ोर हो रही है और भारत कम्युनिज़्म की गोद में जा रहा है। मतलब यह था कि भारत पर इतना अधिक दबाव न डालो कि उसका उल्टा असर पड़े।

कुओमिन्तांग के समर्थक अमरीकी राजनीतिज्ञों के नेता, विलियम बुलिट ने **लाइफ़** पत्रिका के १ अक्तूबर, १९५१ के अंक में लिखा कि भारत को "अंग्रेज़ों के साथ और हमारे साथ सैनिक बातचीत करके पारस्परिक सुरक्षा का इन्तज़ाम करने की कोशिश करनी चाहिये।"

इस नयी नीति का तुरन्त अच्छा फल मिला। २९ दिसम्बर, १९५१ को **न्यू यॉर्क टाइम्स** ने भारतीय आम चुनाव के बारे में समाचार भेजते हुए लिखा:

"अन्दरूनी जानकारी रखने वाले हल्कों से सूचना प्राप्त हुई है कि शीघ्र ही भारत (सरकार) और भी स्पष्ट रूप से स्वतंत्र जनतांत्रिक देशों का साथ देने लगेगा, क्योंकि अब ऐसी नीति का देश के अन्दर बुरे राजनीतिक परिणाम होने का डर नहीं रहेगा।"

५ जनवरी, १९५२ को भारत और अमरीका के बीच पारस्परिक सुरक्षा समझौता हो गया, जिससे प्रकट हुआ कि दोनों सरकारें अब फिर एक-दूसरे से सहयोग करने लगी हैं। २६ जनवरी को **न्यू यॉर्क टाइम्स** ने इस बात पर संतोष प्रकट किया कि

"आज हमारे दोनों देशों के सम्बंध ६ महीने या साल भर पहले की तुलना में बेहतर और मित्रतापूर्ण हैं....

"जब हमारा भारत से कोई झगड़ा होता है, या भारत का हमसे, तो वह तफ़सील की बातों को लेकर होता है, बुनियादी बातों पर नहीं...।"

२५ फ़रवरी १९५२ को राजदूत चेस्टर बाऊल्स ने ऐलान किया :

"पुराना वातावरण अब छँट रहा है और भारत की सफलताओं की (अमरीका के) लोग अधिकाधिक तारीफ़ कर रहे हैं।"

इस प्रकार, चन्द महीने के बाद, भारत ने अमरीकी योजनाओं में फिर वही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। फिर अमरीकी शासक चीन का काम भारत से लेने की सोचने लगे। हाल के कई बयानों में तो मौजूदा हिन्दुस्तान की चीन से तुलना भी की गयी है।

१४ जनवरी, १९५२ को **न्यू यॉर्क पोस्ट** ने लिखा :

"चीन में तो हम असफल रहे, पर भारत में असफल रहने का दुस्साहस हम नहीं कर सकते। च्यांग की डूबती नाव में तो हम दौलत डालते जा रहे हैं, पर भारत की मदद करना...ज़्यादा अर्थ रखता है।"

राजदूत चेस्टर बाऊल्स ने १९ जनवरी, १९५२ को ऐलान किया :

"यदि भारत में प्रजातांत्रिक सरकार असफल रही, तो सम्पूर्ण स्वतंत्र संसार को एशिया भर में भारी धक्का लगेगा। जब कम्युनिस्टों ने चीन को जीता था, तब स्वतंत्र संसार को धक्का लगा था, उससे यह ज़्यादा बड़ा धक्का होगा...

" चीन के सबक़ से हमें चेतावनी मिली थी कि भारत में क्या हो सकता है। यदि हम इस सबक़ से भी फ़ायदा नहीं उठा सकते तो निश्चय ही भविष्य अंधकारमय है।"

" हमें इस सच्चाई का सामना करना ही पड़ेगा कि हमें भारत की और अधिक मदद करनी है।" ('अमृत बाजार पत्रिका,' २० जनवरी)

न्यू यॉर्क टाइम्स के कूटनीतिक सम्वाददाता जेम्स रेस्टन ने २४ जनवरी, १९५२ को समाचार भेजा :

" ट्रूमन सरकार भारत और जापान को केन्द्र बना कर एशिया में अपनी नीति का फिर से निर्माण कर रही है।..."

न्यू रिपब्लिक के ४ फ़रवरी, १९५२ के अंक में उसके वाशिंगटन सम्वाददाता टी. आर. बी. ने लिखा :

" पिछले दो सप्ताह से राजदूत चेस्टर बाऊल्स कोहरे की तरह वाशिंगटन पर छाये हुए हैं। चाहे किसी कमिटी की बैठक हो, चाहे समाचार पत्र वालों की दावत हो, या कोई प्राइवेट सभा हो — कहीं भी जाइये तो कोई ऐसी जगह न मिलेगी जहाँ बाऊल्स आपको बोलते नजर न आयें।... उनका सन्देश बहुत सरल और बहुत महान है। वह यह कि जनतंत्र के लिये भारत और एशिया को बचाने के वास्ते हल मशीनगन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है...।

" सच्ची बात यह है कि आज १९५२ में भारत, १९४५ के चीन की अवस्था में है। कम्युनिज्म अपनी पूरी मोहिनी डाल कर भारत तथा सुदूर पूर्व को मायाजाल में फँसाने की कोशिश कर रहा है। यह क्रेमलिन और 'चौथे सूत्र' की टक्कर है और दाँव पर आधी दुनिया लगी हुई है।... अमरीका ने च्यांग की सेनाओं को ढाई अरब डालर घोल कर पिला दिया, पर चीन उसके हाथ से निकल ही गया। सवाल यह है कि क्या अमरीकी कांग्रेस के रिपब्लिकन सदस्यों ने सचमुच इस अनुभव से कुछ सीखा है — और क्या वे मृत चीन की ओर से अपनी आँखें हटा कर जीवित भारत की ओर निगाह डाल सकते हैं।"

नौवां अध्याय

अमरीका के प्रति भारत की नीति

अमरीका से घनिष्ट सम्बंध स्थापित करने की इच्छा भारत की वैदेशिक नीति की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता रही है। ४ दिसम्बर, १९४७ को विधान परिषद में वैदेशिक मामलों पर पहली बहस चल रही थी, तो पं० नेहरू ने ऐलान किया था :

> "हम अमरीका के साथ सहयोग करना चाहते हैं और सदा उसके मित्र रहेंगे।"

अमरीका के सरकारी तथा व्यापारी क्षेत्रों में सहानुभूति प्राप्त करने की भारत सरकार ने अनथक कोशिश की है। १९४९ में पं० नेहरू ने अमरीका की यात्रा की तो इसी प्रयत्न के एक अंग के रूप में। सरकार के बड़े अधिकारियों से भेंट करने तथा व्यापारिक संगठनों के सामने भाषण करने के अलावा उन्होंने नेशनल सिटी बैंक के उपाध्यक्ष के साथ रात का खाना खाया और चेज़ नेशनल बैंक के डायरेक्टरों के बोर्ड के अध्यक्ष के साथ दोपहर का भोजन किया। ये दोनों अमरीका के सबसे बड़े बैंक हैं।

भारतीय अधिकारी इस बात से अच्छी तरह परिचित रहे हैं कि अमरीकी सरकार को सबसे ज्यादा दिलचस्पी कम्युनिज्म से लड़ने में है। वाशिंगटन में भारतीय राजदूत के दफ़्तर से भारतीय अफ़सरों के कम्युनिस्ट-विरोधी बयान और यहाँ तक कि सन्देहास्पद समाचार भी अक्सर प्रकाशित होते रहते हैं। उदाहरण के लिये, १० मई, १९४८ को भारतीय राजदूतावास से एक विशेष समाचार प्रकाशित हुआ था जिसमें हिन्दू के नयी दिल्ली सम्वाददाता की भेजी हुई एक रिपोर्ट के आधार पर यह कहा गया था कि "हैदराबाद का शासक कम्युनिस्टों को अपना मित्र बनाने की कोशिश में लगा है।" यह भी शायद आकस्मिक घटना न थी कि पंडित नेहरू के

अमरीका पहुँचने के ठीक बारह दिन पहले भारत सरकार के गृह विभाग ने "भारत में कम्युनिस्ट हिंसा" नामक एक पुस्तिका प्रकाशित की थी और उसे भारतीय दूतावास ने वाशिंग्टन में खूब बाँटा था।

भारत के जो दूत अमरीका की सरकार से कोई मदद या क़र्ज़ा मांगने जाते हैं, वे भारत में कम्युनिज़्म के "खतरे" का जिक्र करना कभी नहीं भूलते। २० अक्तूबर, १९४८ को राजदूत सर बी. रामा राव ने अमरीका से कर्ज़ा मांगा तो कहा:

> "पूर्व में कम्युनिज़्म के मुक़ाबले में संतुलन क़ायम रखनेवाली एकमात्र शक्ति...भारत है।"

२४ दिसम्बर, १९५० को श्रीमती पंडित ने एक प्रेस कान्फ्रेंस में कर्ज़े पर गेहूँ पाने की भारत की इच्छा को समझाते हुए कहा:

> "...जिस हद तक भारत अपना पेट भर सकेगा और अपना जीवन स्तर ऊपर उठा सकेगा, उसी हद तक वह वर्तमान संकट—कम्युनिज्म—का मुक़ाबला करने में भी मदद दे सकेगा।"

अमरीका की दोस्ती पाने के लिये भारत सरकार ने कुछ और भी असाधारण उपाय काम में लाये हैं। प्रचार करने के लिये उसने छः महीने के लिये एक अमरीकी विशेषज्ञ को नौकर रखा और उसके ऊपर ५० हज़ार डालर खर्च किये। माहवारी तनखा के रूप में यह ४० हज़ार रुपया मासिक बैठता है। जैसे सिगरेट या किसी और वस्तु का बाज़ार में विज्ञापन होता है, वैसे ही इस विशेषज्ञ को भारत का अमरीका में विज्ञापन करने कहा गया था।

असलियत तो यह है कि अमरीका की मित्रता प्राप्त करने की प्रबल इच्छा का भारत की पूरी वैदेशिक नीति पर प्रभाव पड़ा है।

भारत की वैदेशिक नीति के सिद्धान्त

सरकार की ओर से कहा गया है कि भारत की वैदेशिक नीति एक स्वतंत्र नीति है। परन्तु इस मोटी परिभाषा का कोई विशेष अर्थ नहीं होता। जैसा कि स्वयं पंडित नेहरू ने कहा है:

"संसार में बहुत से देश हैं ... जो कहने को सौ फ़ीसदी स्वतंत्र और व्यवहार में सौ फ़ीसदी परतंत्र हैं, क्योंकि उनमें इतनी शक्ति नहीं कि अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर सकें; क्योंकि राजनीतिक, आर्थिक, अथवा किसी और दृष्टि से वे किसी दूसरे देश की इच्छा पर निर्भर करते हैं।" (स्वतंत्रता और उसके बाद, पृ. १३४)

भारत की वैदेशिक नीति की एक और व्याख्या इस प्रकार की गयी है कि वह शान्ति और स्वतंत्रता का समर्थन करने वाली नीति है। परन्तु इसका भी कोई विशेष अर्थ नहीं होता क्योंकि पुनः पंडित नेहरू के ही शब्दों में :

"यह बड़ी सुन्दर बात है जब हम कहते हैं कि हम शान्ति और स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं; फिर भी उससे एक कोरी सदिच्छा से अधिक कुछ विशेष मतलब नहीं निकलता।

"...अस्पष्ट ढंग से यह कहना कि हम शान्ति और स्वतंत्रता के समर्थक हैं कुछ माने नहीं रखता क्योंकि यह तो हर देश कह सकता है, चाहे उसका असली उद्देश्य कुछ भी क्यों न हो।" (वही पुस्तक, पृष्ठ २०१)

इन दो हवाई बातों के अलावा यह कहा जाता है कि भारत की वैदेशिक नीति तीन बुनियादी सिद्धान्तों पर आधारित है।

पहला सिद्धान्त यह कि भारत किसी 'गुट' में शामिल नहीं होगा। पं० नेहरू ने कहा है कि हम "इस बड़ी शक्ति या उस बड़ी शक्ति के साथ मिल कर इस आशा से उसके पिछलग्गू नहीं बनाना चाहते कि उसकी थाली के चन्द बचे हुये टुकड़े हमें भी मिल जायें।" परन्तु भारत को ब्रिटिश कौमनवेल्थ का मेम्बर बनाये रखने के फ़ैसले के समर्थन में उन्होंने कहा था :

"यदि हम कौमनवेल्थ से अपने को बिल्कुल अलग कर लें तो हम दुनिया में एकदम अकेले पड़ जायेंगे। हम एकदम अकेले नहीं रह सकते और इसलिये हमें किसी न किसी दिशा में झुकना ही पड़ेगा। और यह किसी दिशा में झुकना आदान-प्रदान के आधार पर ही होगा...। दूसरे शब्दों में, उसकी वजह से हो सकता है कि हमें आज की तुलना में कहीं ज्यादा जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर लेनी पड़ें।" (वही पुस्तक, पृष्ठ २७९)

अतः भारत सरकार ने ब्रिटिश कौमनवेल्थ की ओर झुकने का निश्चय किया जिसके दो सदस्य अटलान्टिक समझौते पर दस्तखत कर चुके हैं और दो प्रशान्त समझौते पर। अर्थात, भारत सरकार एक ऐसे गुट की ओर झुकी है जिसका अमरीका से घनिष्ठ सम्बंध है।

दूसरा बुनियादी सिद्धान्त औपनिवेशिक देशों की मदद करना बताया जाता है। २६ सितम्बर, १९४६ को पं. नेहरू ने एक प्रेस कान्फ्रेंस में कहा था कि "भारत पराधीन देशों की स्वतंत्रता के सिद्धान्त का दृढ़ता से समर्थन करेगा।" १९ दिसम्बर, १९४८ को उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के अधिवेशन में कहा : "हमारी वैदेशिक नीति यह है कि किसी विदेशी शक्ति को किसी एशियाई देश पर राज नहीं करना चाहिये।" इसका मतलब है कि अमरीका के गुलाम पुअरटो रिको, आदि देश पं. नेहरू के इस सिद्धान्त की सीमा के बाहर पड़ते हैं। स्वयं एशिया में, मलाया पर अंग्रेजों का राज है और हिन्द चीन में फ्रांस एक खूनी युद्ध चला रहा है और पं० नेहरू ने अभी तक इन दोनों देशों के स्वतंत्रता संग्रामों की मदद के लिये कुछ भी नहीं किया है। अतः भारत की नीति की कुछ इस प्रकार व्याख्या की गयी है और उसे इस तरह कार्यान्वित किया जाता है जिससे अमरीका को कोई परेशानी न हो।

तीसरा सिद्धान्त रंगभेद का विरोध करना है। परन्तु हम शायद यह भूल जाते हैं कि रंगभेद दक्षिणी अफ्रीका में ही नहीं, अमरीका, ऑस्ट्रेलिया और कई अन्य देशों में भी है। परन्तु इन देशों का तो पं० नेहरू इस सम्बंध में अभी जिक्र तक नहीं करते।

आर्थिक और सैनिक स्थिति

४ दिसम्बर, १९४७ को पं० नेहरू ने विधान परिषद के सामने भाषण करते हुए कहा था :

"अन्तिम रूप में, वैदेशिक नीति आर्थिक नीति से निकलती है; और जब तक भारत अपनी आर्थिक नीति को पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं कर लेता, तब तक उसकी वैदेशिक नीति किसी क़दर धुंधली, अस्पष्ट, और राह खोजती हुई सी मालूम पड़ेगी। मुझे दुख है कि हमने अभी

तक कोई रचनात्मक आर्थिक योजना या आर्थिक नीति नहीं निश्चित की है...जब हम यह काम कर लेंगे तब हमारी वैदेशिक नीति इस सभा के सामने दिये गये तमाम भाषणों से उतनी निर्धारित नहीं होगी, जितनी वह हमारी आर्थिक नीति से होगी।" (वही पुस्तक, पृष्ट २०१)

तब से, भारत की आर्थिक नीति भी स्पष्ट हो गयी है। हमारा व्यापार अधिकतर ब्रिटिश कौमनवेल्थ और अमरीका से होता है। हमारी आर्थिक विकास की योजनाएँ विदेशी, विशेष कर, अमरीकी पूंजी पर निर्भर करती हैं। अंग्रेज और अमरीकी पूंजी भारत की आर्थिक व्यवस्था के निर्णायक अंगों पर छायी हुई है। भारत सरकार की आर्थिक नीति अमरीकी जरूरतों के अनुसार बनायी जाती है। ७ जुलाई, १९५० को स्वयं पंडित नेहरू ने स्वीकार किया था कि "हमारी आर्थिक व्यवस्था, जाहिर है कि इंगलैण्ड और दूसरी पश्चिमी ताक़तों से बंधी हुई है।" इसके बाद उन्होंने जल्दी से यह भी कह डाला था कि "राजनीतिक नीति में यह बात नहीं है।" लेकिन उन्होंने यह नहीं बताया कि १९४७ में उन्होंने जो यह सिद्धान्त स्थापित किया था कि वैदेशिक नीति आर्थिक नीति से निकलती है, वह १९५० में कैसे झूठा हो गया!

इसलिये, अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक प्रश्नों पर, भारत प्रायः अमरीका के साथ रहता है। कभी-कभी तो इससे बड़ी अजीब स्थिति पैदा हो जाती है। १२ सितम्बर, १९५१ को संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक और सामाजिक समिति में भारतीय प्रतिनिधि टी० टी० कृष्णमाचारी ने "व्यापार को रोकने वाले नियमों" पर बोलते हुए पहले यह कहा कि "उनके मन में अमरीकी प्रस्तावों से कोई उत्साह नहीं पैदा होता," और बाद में बोले कि भारत सरकार के आदेश के अनुसार वह उसका समर्थन करेंगे। अमरीकी प्रस्ताव में कहा गया था कि किसी सरकार को बाहर से आने वाले माल पर चुंगी या टैक्स आदि लगा कर स्वतंत्र होड़ को नहीं रोकना चाहिये। पिछड़े हुए और कमज़ोर देशों का कहना था कि उन्हें अपने उद्योगों को विदेशी, विशेष कर, अमरीकी होड़ से बचाने के लिये इस तरह के टैक्स लगाने ही पड़ेंगे।

जहाँ तक सामरिक प्रश्नों का सम्बंध है, पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में भारत के पड़ोसी अमरीका या ब्रिटेन से घनिष्ट रूप से सम्बंधित हैं। हाँगकाँग, मलाया, अदन, और फ़ारस की खाड़ी की शेखों की रियासतें अंग्रेजों

की गुलाम हैं। लंका, ईराक़, और जौर्डन, मिश्र से ब्रिटेन के फ़ौजी समझौते हैं जो इन देशों की पराधीनता का दूसरा नाम है। दक्षिणी कोरिया और प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीप अमरीकी फ़ौजों के कब्ज़े में हैं। जापान, फ़ार्मोसा, फ़िलीपाइन और सऊदी अरब में अमरीका के फ़ौजी अड्डे हैं। एक भारतीय लेखक विद्या प्रकाश दत्त के शब्दों में :

> "अतः पश्चिमी और 'पूर्वी' ताक़तों के बीच यदि युद्ध छिड़ा तो एशिया के, विशेष कर प्रशान्त महासागर क्षेत्र के अधिकतर देश पायेंगे कि वे पहले से ही एक पक्ष के साथ बंधे हुए हैं क्योंकि उन्होंने पश्चिमी योरप के देशों के साथ फ़ौजी समझौते कर रखे हैं।"

अतः हमने भी अगर पहले से ही यह तै नहीं कर लिया है कि हम हर हालत में अंग्रेज़-अमरीकी गुट का ही साथ देंगे, तो भारत सरकार को इन फ़ौजी समझौतों को देख कर गहरी चिन्ता में पड़ जाना चाहिये।

परन्तु, असलियत तो यह है कि स्वयं भारत अपनी फ़ौज के लिये हथियार और सामान और ट्रेनिंग देने वाले अफ़सर ब्रिटिश कौमनवेल्थ या अमरीका से मंगाता है। भारत की सेनाओं की शिक्षा-दीक्षा, व्यवस्था व संगठन सब अंग्रेज़ अफ़सरों की सलाह से होता है। भारतीय सेना अंग्रेज़ सेना के साथ मिल-जुल कर मोर्चेबन्दी का अभ्यास करती है। जैसा कि अमरीकी कूटनीतिज्ञ विलियम बुलिट ने हाल में कहा था :

> "दूसरे महायुद्ध में भारतीय सेना बीस लाख सिपाहियों की एक शानदार फ़ौज थी। परन्तु उनके हथियार सब ब्रिटेन या अमरीका के बने हुए थे। भारत खुद एक जीप तक नहीं तैयार कर सकता था।"

और तब से अमरीका के साथ हमारे देश का फ़ौजी सहयोग और बढ़ता ही गया है।

सितम्बर, १९४८ में अमरीका के समुद्री बेड़े का एक सद्भावना-मण्डल एक क्रूज़र और दो डिस्ट्रौयर जहाज़ों के साथ बम्बई में आया। एडमिरल रिचर्ड कौनोली इस मण्डल का नेता था। बम्बई के प्रधान मंत्री बालासाहब खेर ने उसका स्वागत करते हुए कहा :

> "एक शक्तिशाली समुद्री बेड़ा बनाने के काम में हमें आपके जैसे देशों की मदद की आवश्यकता है...।"

१६ जनवरी, १९४९ को **न्यू यौर्क टाइम्स** के सामरिक आलोचक हैन्सन वाल्डविन ने समाचार दिया कि भारतीय और पाकिस्तानी फ़ौजों के अफ़सर लीवेनवर्थ के अमरीकी फ़ौजी कालिज में शिक्षा पा रहे हैं।

अप्रैल, १९४९ में एक भारतीय फ़ौजी मिशन अमरीका गया। इसमें सेना तथा समुद्री वेड़े के चीफ़ ऑफ़ स्टाफ़ भी शामिल थे। उसका उद्देश्य अमरीका में फ़ौजी सामान ख़रीदना और वहाँ बड़े भारतीय अफ़सरों की शिक्षा का प्रबंध करना था। जुलाई में भारतीय सेना के कर्नल के. एस. काटोच और कर्नल एस. पंडित को अमरीका में ऊँची फ़ौजी शिक्षा पाने के लिये भेजा गया।

१९४९ के अन्त में एक और भारतीय फ़ौजी मिशन अमरीका गया। इसमें रक्षा विभाग के मंत्री एच. एम. पटेल, फ़ौज के चीफ़ ऑफ़ स्टाफ़ मेजर जनरल कलवन्त सिंह और समुद्री वेड़े के सेनापति वायस-एडमिरल पैरी भी शामिल थे।

३० जून, १९५० को लीवेनवर्थ कालिज (अमरीका) के दीक्षान्त समारोह में कुछ भारतीय और पाकिस्तानी अफ़सरों ने भी भाग लिया।

१९५१ के शुरु में, दक्षिण भारत में वेलिंग्टन के संयुक्त सैनिक स्टाफ़ कालिज में कुछ अमरीकी अफ़सरों ने भी भाग लिया।

लेकिन, अमरीका में फ़ौजी सामान ख़रीदने में काफ़ी कठिनाई पड़ी। २७ मार्च, १९४९ को **न्यू यौर्क टाइम्स** ने समाचार प्रकाशित किया :

> "भारत और पाकिस्तान दोनों अमरीका में हथियार ख़रीदना चाहते हैं और इसके लिये डालर ख़र्च करने को भी तैयार हैं। परन्तु, अमरीकी विदेश विभाग इसकी इजाज़त नहीं देता। और यह रोक उस समय तक लगी रहेगी जब तक दोनों डोमीनियनों के बीच मौजूदा तनाव क़ायम रहेगा।
>
> "परन्तु, सुदूर पूर्व में तैनात अमरीकी अफ़सर...चीन के बिखर जाने के कारण, भारत और अमरीका के बीच अधिक से अधिक घनिष्ट सम्बंध स्थापित करने को तैयार हैं।"

इसके लगभग एक साल बाद अमरीका के न्यूजर्सी प्रदेश में दक्षिणी एम्बौय नामक स्थान में एक बड़ा भारी विस्फोट हुआ। उससे प्रकट हुआ कि

पाकिस्तान को अमरीका जहाज़ भर-भर कर गोला-बारूद, बम और दूसरा फ़ौजी सामान भेज रहा था, जब कि हिन्दुस्तान को उसने फ़ौजी सामान बेचने से इनकार कर दिया था। १५ जून, १९५० को श्रीमती पंडित ने विदेश विभाग के अधिकारियों से मिल कर इस घटना पर अपनी "चिन्ता" प्रगट की और कुछ गोला-बारूद और शेर्मन टैंक भारत के लिये मांगा।

मार्च १९५१ में भारत सरकार ने अमरीका से फ़ौजी सामान ख़रीदने के सम्बंध में एक समझौता किया और उसमें अमरीका के पारस्पिक सुरक्षा सहायता क़ानून (१९४९) की शर्तें मान ली। मगर इस समझौते की ख़बर प्रकाशित नहीं की गयी—शायद इस ख़याल से कि कोई यह न समझे कि अमरीका से गेहूं क़र्ज़ पर लेने के एवज में भारत को इस समझौते पर दस्तख़त करना पड़ा है।

अमरीका में भारतीय अफ़सरों की शिक्षा होना और अमरीकी सामान पर भारतीय सेना का निर्भर रहना—ये दो ऐसी बातें हैं जिनके कारण भारत कभी पूरी तरह स्वतंत्र नीति पर नहीं चल सकता। **भारत और अमरीका** के लेखक लौरेंस के रोजिंजर ने लिखा है :

> "...जब कोई कमज़ोर सरकार किसी बड़ी ताक़त से फ़ौजी मदद पाने की कोशिश करती है, तब उसका कम से कम इतना मतलब तो होता ही है कि यह मदद ऐसे ढंग से इस्तेमाल नहीं की जायगी जो बड़ी ताक़त के बुनियादी सामरिक दृष्टिकोण से टकराता हो। और एक बार ऐसा सम्बंध क़ायम हो जाने पर दोनों पक्ष जानते हैं कि यदि उनके बीच कभी कोई तीव्र राजनीतिक या आर्थिक मतभेद पैदा हुआ, तो उनका यह सहयोग जारी न रह पायेगा। यदि विदेशी सलाहकारों को बड़ी ताक़त ने वापिस बुला लिया, या फ़ौजी सामान भेजना बन्द अथवा कम कर दिया तो कमज़ोर देश की सेना और सरकार संकट में पड़ जायगी। इसलिये, एक बार ऐसा समझौता करने पर, कमज़ोर सरकार को बड़ी ताक़त से राजनीतिक सम्बंध बनाये रखने के लिये एक फ़ौजी कारण भी मिल जाता है।" (पृष्ठ १२१-२२)

सुदूर पूर्व के सम्बंध में अमरीका से मतभेद

इन आर्थिक और सैनिक कारणों को ध्यान में रखते हुए किसी को इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि वैदेशिक मामलों में अक्सर भारत की

राय अमरीका से मिलती रही है। भारत सरकार ने मार्शल योजना की खूब प्रशंसा की है। भारत सरकार ने मलाया और इंडोनीशिया के कम्युनिस्टों की निन्दा करके और बर्मा सरकार को कर्ज़ा देकर अमरीकी सरकार का मतलब साधने में मदद की है। अक्तूबर १९४८ की कौमनवेल्थ कान्फ्रेंस में भारत सरकार ने फिर से हथियारबन्दी करने और पश्चिमी योरप की ताक़तों का गुट बनाने का समर्थन किया था। रोज़िंजर ने १९५० के शुरू में ही अपनी पुस्तक में यह लिखा था :

> "निस्सन्देह, कुछ अन्तरराष्ट्रीय सवालों पर नयी दिल्ली ने अधिकतर कमज़ोर शक्तियों की तुलना में अधिक स्वतंत्र रुख अपनाया है। परन्तु, यह स्वतंत्रता समय बीतने के साथ कम होती गयी है। जैसे-जैसे बड़ी शक्तियों के बीच और भारत के अन्दर विरोधी तत्वों के बीच तनाव बढ़ता गया है, वैसे-वैसे भारत सरकार धीरे-धीरे ब्रिटेन और अमरीका की ओर बढ़ती गयी है, यद्यपि स्वतंत्र वैदेशिक नीति की शब्दावली को उसने अभी नहीं छोड़ा है।" ('भारत और अमरीका,' पृष्ठ २५)

लेकिन, १९५०-५१ में चीन, कोरिया, और जापान के सवालों को लेकर भारत और अमरीका की सरकारों के बीच तीव्र मतभेद उठ खड़े हुए।

ब्रिटिश सरकार से परामर्श करने के बाद, ३० दिसम्बर, १९४९ को भारत सरकार ने चीन की जनवादी सरकार को मानता दे दी। उस समय अमरीका ने उसकी इस कार्रवाई का कोई उग्र विरोध नहीं किया था। परन्तु, ब्रिटेन की तरह भारत केवल कागज़ी तौर पर मानता देकर ही संतुष्ट नहीं हो गया। उसने चीन के साथ पूर्ण कूटनीतिज्ञ सम्बंध स्थापित किया और वह खुलेआम इस बात का समर्थन करने लगा कि अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं में चीन की जनवादी सरकार को स्थान मिलना चाहिये। यद्यपि भारत सरकार चीन की अनुपस्थिति में भी संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा समिति के फ़ैसलों को मानती रही, फिर भी वाशिंग्टन के च्यांग-परस्त अमरीकी राजनीतिज्ञों ने कस-कस कर भारत पर चोट करना शुरू कर दिया।

आम तौर पर कोरिया के सवाल पर भारत की नीति अक्तूबर १९५० तक, अमरीका के साथ रही। संयुक्त राष्ट्र संघ के जिस अस्थायी कोरिया कमीशन ने १९४८ में दक्षिणी कोरिया में अलग से चुनाव कराने की इजाज़त दी थी,

उस कमीशन के अध्यक्ष एक भारतीय अफ़सर श्री के. पी. एस. मेनन थे। उसके बाद संयुक्त राष्ट्र संघ ने कोरिया के बारे में जो कमीशन बनाया, उसमें भारत की ओर से डा० अनूप सिंह शामिल थे।

२५ जून, १९५० को अमरीका ने सुरक्षा समिति से शिकायत की कि उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर हमला कर दिया है। इसके बारह घंटे के अन्दर भारतीय प्रतिनिधि ने, जो उस समय सुरक्षा समिति का अध्यक्ष था, अमरीका की शिकायत पर विचार करने को बैठक बुला भेजी। बैठक के अन्दर उसने अमरीका के इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि दक्षिणी कोरिया के प्रतिनिधि की बात सुनी जाय, पर उत्तरी कोरिया के प्रतिनिधि को बुलाया न जाय। इसके बाद भारतीय प्रतिनिधि ने अमरीका के उस प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमें उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित किया गया था और उससे ३८वें अक्षांश के पीछे अपनी फ़ौजें हटा ले जाने के लिये कहा गया था। उसने उत्तरी कोरिया के इस कथन को अनसुना कर दिया कि हमला वास्तव में दक्षिणी कोरिया ने किया था। उसने अखबारों में प्रकाशित इस समाचार की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया कि दक्षिणी कोरिया की फ़ौजें कुछ इलाक़ों में उत्तरी कोरिया के अन्दर घुस गयी हैं। और जिस तेजी के साथ सुरक्षा समिति के अन्दर एक के बाद दूसरा सवाल उठ रहा था, उसे देखते हुए यह सम्भव नहीं दिखता था कि भारतीय प्रतिनिधि हर सवाल पर नयी दिल्ली से सलाह ले रहा था। लगता है कि उसे एक आम हिदायत दे दी गयी थी कि कोरिया के मामले में अमरीका का समर्थन करो और वह उसी पर अमल कर रहा था।

२७ जून को, उत्तरी कोरिया का जवाब आने के पहले ही और कोरिया में सैनिक हस्तक्षेप करने के अमरीकी फ़ैसले के चन्द घंटे बाद ही सुरक्षा समिति ने वह अमरीकी प्रस्ताव पास कर दिया जिसमें सभी देशों से दक्षिणी कोरिया की मदद करने को कहा गया था। नयी दिल्ली से हिदायत आने में देर हो जाने के कारण भारतीय प्रतिनिधि इस प्रस्ताव पर समिति की बैठक में वोट न दे सका। लेकिन, बाद में भारत सरकार ने ऐलान कर दिया कि वह इस प्रस्ताव का समर्थन करती है और उसने २०० आदमियों की एक डाक्टरी टुकड़ी भी दक्षिणी कोरिया में भेज दी।

७ जुलाई को सुरक्षा समिति ने अमरीका से कहा कि वह दक्षिणी कोरिया में लड़ने वाली सभी विदेशी फ़ौजों की एक संयुक्त कमान बनाये। भारत ने इस प्रस्ताव पर वोट नहीं दिया। लेकिन, बाद में भारत सरकार ने इस प्रस्ताव के मानने का भी ऐलान कर दिया।

४ सितम्बर को कोरिया कमीशन ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट संयुक्त राष्ट्र की साधारण बैठक (जनरल असेम्बली) के सामने रखी। उसमें विशेष रूप से कोरिया में अमरीकी नीति का समर्थन किया गया था। इसके कुछ दिन पहले यद्यपि भारत सरकार सिंघमन री सरकार की और अमरीकी नीति की कुछ आलोचना कर चुकी थी, पर भारतीय प्रतिनिधि ने बिना किसी भी तरह की चूँ-चपर किये रिपोर्ट पर दस्तख़त कर दिया।

७ सितम्बर को भारत ने सुरक्षा समिति में सोवियत के उस प्रस्ताव का विरोध किया जिसमें युद्ध के क़ानूनों को तोड़ कर ग़ैर-फ़ौजी आबादी पर अंधा-धुंध बम बरसाने की निन्दा की गयी थी। प्रस्ताव पर बोलते हुए सर बी. एन. राव ने कहा :

> "मुझे मानना पड़ेगा कि कोरिया में बड़े पैमाने पर बमबारी की ख़बरें भारत में काफ़ी फैली हुई हैं और उनसे भारतीय जनता को भारी धक्का लगा है।"

अमरीकी फ़ौजी कमान के बयानों में भी यह तसलीम किया गया था कि कोरिया के शहरों, गाँवों, और कारख़ानों पर अंधा-धुंध बमबारी की जा रही है। पर भारतीय प्रतिनिधि ने इस आधार पर सोवियत प्रस्ताव का विरोध किया कि अभी इस आरोप की जाँच नहीं हुई है। किन्तु उसने स्वयं भी यह सुझाव नहीं रखा कि इसकी जाँच होनी चाहिये।

अक्तूबर १९५० तक भारत ने कोरिया के सवाल पर कभी अमरीका के ख़िलाफ़ वोट नहीं दिया। इस बात का महत्व कम नहीं समझना चाहिये। जैसा कि अमरीकी रक्षा विभाग ने हाल में कहा था :

> "... एक ऐसी घड़ी में, जिसे युद्धोत्तर संसार के इतिहास की सबसे नाज़ुक घड़ी कहा जायगा, भारत अमरीका के साथ था।"

७ अक्तूबर, १९५० को संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण बैठक ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें एक तरह से जेनरल मैकार्थर को उत्तरी कोरिया पर हमला करने की इजाजत दे दी गयी थी। भारत इस बिना पर तटस्थ रह गया कि ऐसा करने पर चीन के लड़ाई में आ जाने का अन्देशा है। यहीं से अमरीका और भारत में मतभेद आरम्भ हुआ। इसी समय से भारत सदा बातचीत के द्वारा कोरिया के झगड़े को सुलझाने का प्रयत्न करने लगा और अमरीका किसी शान्तिमय हल के रास्ते में अड़ंगे लगाने लगा। अमरीका ने प्रस्ताव रखा कि चीन को आक्रमणकारी घोषित कर दिया जाय और उसके साथ किसी प्रकार का व्यापार न किया जाय। भारत ने इसका विरोध किया। ये मतभेद मई १९५१ तक इसी तरह क़ायम रहे। जब मई में कोरिया में सुलह की बातचीत शुरू हुई तो इस मतभेद पर थोड़ा पर्दा पड़ा गया।

जापानी शान्ति संधि के अमरीकी मसविदे पर भारत ने दस्तख़त करने से इनकार कर दिया क्योंकि उसमें जापान में अमरीकी फ़ौज रखने और पास के द्वीपों पर अमरीकी अधिकार रखने की बात कही गयी थी। वैसे भारत इन बातों के खिलाफ़ नहीं था, पर उसका कहना था कि उनके बारे में अमरीका को जापान के साथ अलग से कोई समझौता करना चाहिये। इस आशय का भारत सरकार ने एक नोट भी अमरीकी सरकार को लिखा, पर उसकी यह हिम्मत नहीं हुई कि वह खुल्लमखुल्ला अमरीका का विरोध करे। इसीलिये, उसने सान फ्रांसिस्को के शान्ति सम्मेलन में भाग नहीं लिया, यद्यपि वहाँ उसे इस बात का अवसर मिल सकता था कि अमरीकी मसविदे में संशोधन करने पर भारत ज़ोर दे सके।

सुदूर पूर्व की समस्याओं पर भारत और अमरीका के मतभेद, वास्तव में, चीन के प्रति उनके भिन्न दृष्टिकोण से उत्पन्न हुए हैं। चीन के प्रति भारत की भावना शताब्दियों से गहरी सहानुभूति की भावना रही है और एक समान शत्रु के रूप में साम्राज्यवादी शोषण का मुक़ाबला करने के कारण आधुनिक काल में इस भावना ने दृढ़ भ्रातृत्व का रूप धारण कर लिया है। दूसरी ओर अमरीका का दृष्टिकोण प्रधानतः इस बात से बना है कि एक सौ बरस से वह चीन का हिस्सा-बाँट करके शोषण करने में भाग लेता रहा है। अतः जहाँ भारत के लोग मानते हैं कि चीनियों को अधिकार है कि वे जैसी सरकार पसन्द करें, अपने यहाँ बनायें, वहाँ अमरीकी शासक उनका यह

अधिकार मानने को तैयार नहीं हैं—विशेषकर तब जब कि चीनियों की पसन्द उनको नापसन्द हो।

सरकारी तौर पर भारत और अमरीका के बीच जो भी मतभेद पैदा हुए, वे क्षणिक और कुछ विशेष प्रश्नों पर थे। वे प्रायः उन्हीं सवालों पर और उसी समय उठते थे जिन सवालों पर और जब कभी ब्रिटेन और अमरीका के बीच मतभेद पैदा होते थे। यद्यपि यह भी सच है कि भारत की तरह ब्रिटेन, चीन के प्रति एक दृढ़ नीति पर न चल सका, कोरिया के सवाल पर वह आत्मसमर्पण कर बैठा और उसने जापानी संधि पर भी दस्तख़त कर दिया।

भारत-अमरीकी मतभेदों की ओर संसार का ध्यान १९५०-५१ में तब आकर्षित हुआ जब कि उनकी वजह से चीन के ख़िलाफ़ अमरीका एक संयुक्त मोर्चा न बना सका। अख़बार पढ़ने वाले भारत के लोग जानते हैं कि भारत सरकार ने यह नीति प्रधानतः जनमत के प्रभाव के कारण ही अपनायी थी।

भारत का जनमत

भारतीय जनमत सदा अमरीकी गुट में शामिल होने का दृढ़ विरोधी और चीन से मित्रता रखने का प्रबल समर्थक रहा है। एशिया में विदेशी शक्तियों के हस्तक्षेप की उसने हर कदम पर निन्दा की है। जब अमरीका ने कोरिया में हस्तक्षेप किया तो भारतीय जनमत और समाचार पत्रों की प्रतिक्रिया उग्र विरोध की थी। भारत सरकार द्वारा अमरीका का समर्थन किये जाने के बाद कुछ समाचार पत्र ढीले पड़ गये, पर जब एचीसन ने पं० नेहरू के सुझाव को मानने से इनकार कर दिया और सोवियत प्रतिनिधि सुरक्षा समिति में लौट आये तो सभी भारतीय समाचार पत्र फिर बड़े ज़ोरों से अमरीका की आलोचना करने लगे।

रौबर्ट ट्रम्बल ने इस विषय में नयी दिल्ली से एक समाचार भेजा था जो **न्यू यौर्क टाइम्स** के ७ जुलाई, १९५० के अंक में छपा था :

"कूटनीतिज्ञों और यहाँ के दूसरे पर्यवेक्षकों की राय है कि भारतीय जनमत की नाज़ुक दशा को देखते हुए प्रधान मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के लिये यह एक बहुत हिम्मत का काम था कि उन्होंने सुरक्षा समिति का वह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जिसमें उत्तरी कोरियाई

आक्रमण की निन्दा की गयी थी और उसका मुक़ावला करने के उपाय निश्चित किये गये थे...।

"...इस मामले में पं. नेहरू ने...यह खतरा मोल लिया था कि हिन्दुस्तान के लोगों का एक बड़ा हिस्सा उनसे नाराज़ हो जाय। यह हिस्सा वह है जो पूर्व और पश्चिम के प्रश्न से वहुत जल्दी प्रभावित हो जाता है। यही कारण है कि नेहरू के कार्य की प्रशंसा वहुत साहस का कार्य कह कर की जाती है।

"कोरिया में युद्ध शुरू होने पर वहुत से प्रभावशाली हिन्दुस्तानी अख़वारों ने कहा था कि वहाँ का संघर्ष एक अन्दरूनी मामला है जो अपने-आप सुलझ जायगा और जिसमें किसी वाहरवाले को हाथ नहीं डालना चाहिये। राष्ट्रपति ट्रूमन के ऐलान और कोरिया में तत्काल अमरीकी फ़ौजों के कूद पड़ने की सख़्त शब्दों में निन्दा की गयी थी और कहा गया था कि: देखो, फिर पश्चिम वाले एक शुद्ध एशियाई मामले में हस्तक्षेप कर रहे हैं।

"प्रधान मंत्री ने वहुत ध्यान पूर्वक प्रश्न का अध्ययन और विचार-विनिमय करने के वाद कोरिया पर अपना मत स्थिर किया। अपने मंत्रिमण्डल की वैठक वुलाने के पहले वे जिन लोगों से मिले, उनमें अमरीका के राजदूत लौय हेण्डरसन भी थे जिन्होंने प्रधान मंत्री को अमरीका का दृष्टिकोण समझाया।...

"मि. हेण्डरसन ने पं. नेहरू के सामने अमरीकी दृष्टिकोण का साफ़ शब्दों में और पूरा स्पष्टीकरण किया जिसे नेहरू ने वड़ी उत्सुकता और दिलचस्पी के साथ सुना।...

"परन्तु, ठीक मंत्रिमण्डल की वैठक के दिन मि. हेण्डरसन से नेहरू की वातचीत हुई—इस वात को लेकर भारतीय अख़वारों में ऐसा प्रचार हुआ कि राजदूत तथा भारत सरकार दोनों को वयान देकर यह स्पष्ट करना पड़ा कि मंत्रिमण्डल ने जो निश्चय किया है, उसमें अमरीकी 'दवाव' का कोई हाथ नहीं है।"

२० अगस्त, १९५० के **न्यू यौर्क टाइम्स** में रौवर्ट ट्रूम्वल ने फिर लिखा :

"यद्यपि भारतीय पार्लमेंट प्रस्ताव पास करके कोरिया के सम्बंध में नेहरू की कार्रवाईयों का समर्थन कर चुकी है, परन्तु असलियत कुछ और है। पार्लमेंट को नज़दीक से देखने वाले महसूस करते हैं कि यदि कांग्रेस पार्टी अनुशासन का प्रयोग न करती और सदस्यों को सचमुच इच्छानुसार वोट करने की स्वतंत्रता होती तो नेहरू के जीतने की सम्भावना पचास प्रतिशत से अधिक न रह जाती।"

आगे आने वाले महीनों में भारत सरकार की नीति पर इस स्थिति का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था।

जैसा कि पं. नेहरू ने २२ मार्च, १९४९ को 'इंडियन काउंसिल ऑफ़ वर्ल्ड अफ़ेयर्स' के सामने भाषण करते हुए कहा था :

"यदि हमारी तरफ़ से, यानी सरकार की तरफ़ से, किसी एक विशेष दिशा में बहुत ज़्यादा बढ़ जाने की कोशिश होगी तो स्वयं हमारे देश के अन्दर कठिनाइयाँ पैदा हो जायेंगी। उसका विरोध होगा और हमारे अपने देश के अन्दर ऐसे झगड़े उठ खड़े होंगे जिनसे न हमारा फ़ायदा होगा, न किसी और देश का।"

पं. नेहरू यह किसको सफ़ाई दे रहे थे ? उन्हें यह सब कहने की क्यों ज़रूरत पड़ी ? ज़ाहिर है कि इन शब्दों के द्वारा पं. नेहरू उन विदेशी शक्तियों को सफ़ाई दे रहे थे जिनका कहना भारतीय लोकमत के कारण भारत सरकार पूरा-पूरा नहीं मान पा रही थी।

लन्दन के **इकोनोमिस्ट** ने पं. नेहरू की समस्याओं का इस प्रकार वर्णन किया था :

"इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पं. नेहरू अच्छी तरह यह जानते हैं कि अंग्रेज़ और अमरीका वालों का भारत की समृद्धि और स्वतंत्रता में अपना हित है; उनकी सहानुभूति भी जनतांत्रिक देशों के साथ है और वह समझते हैं कि भारत का भाग्य जनतांत्रिक देशों के साथ बंधा हुआ है। परन्तु, इस बात को भारतीय जनता को साफ़-साफ़ समझा देना उनके लिये उतना ही मुश्किल काम है, जितना मुश्किल काम अंग्रेज पाठकों को नेहरू की इस कठिनाई को समझाना है।

"समाजवाद की ओर बढ़ना बन्द करके पं. नेहरू ने जिस तरह अपनी सरकार के क़दमों को एकदम पलट दिया और प्राइवेट पूंजी और व्यवसाय के हित में वातावरण तैयार करना शुरू किया, उससे कांग्रेस के कार्यकर्ताओं में बड़ी बेचैनी और अचम्भा फैला हुआ है। इस स्थिति में यदि नेहरू उन नीतियों की सूची में वैदेशिक नीति को और नहीं जोड़ना चाहते जिनके बारे में उन्होंने और सरदार पटेल ने पिछले तीस वर्षों तक अपने समर्थकों के बीच प्रचार किया है, और जिनमें से प्रत्येक नीति को अब ये उलटी दिशा में घुमा रहे हैं, तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है।"

अमरीकी लेखक लौरेंस रोजिंजर ने भी कहा है:

"...यदि भारत सरकार ने अन्तरराष्ट्रीय सवालों पर जरूरत से ज़्यादा साफ़ रुख़ अपनाया तो उसके लिये मुश्किलें पैदा हो सकती हैं।"

पं. नेहरू ने खुद अपनी अमरीका यात्रा के दौरान में एक जगह कहा था: "मुझे अपनी जनता को भी अपने साथ रखना है।"

इस प्रकार, आर्थिक एवं सैनिक दृष्टियों से जहाँ भारत ब्रिटेन और अमरीका के साथ बंधा हुआ है, वहाँ जनमत भारत सरकार को खुद नेहरू के शब्दों में "एक दिशा में बहुत अधिक नहीं" बढ़ने देता। इस स्थिति में स्वभावतः पश्चिमी देशों की ओर झुकने की, किन्तु खुलेआम उनके साथ न मिलने की नीति सामने आती है।

भारतीय वैदेशिक नीति की हाल की प्रवृत्तियाँ

परन्तु इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि बुनियादी तौर पर भारत की वैदेशिक नीति अंग्रेज़-अमरीकी गुट का पक्ष लेने की है। जब आलोचना किये बिना काम नहीं चलता, तब बहुत ही नम्र शब्दों में, हज़ार माफ़ी मांगते हुए, अमरीका की थोड़ी-बहुत आलोचना भी कर दी जाती है।

२० अगस्त, १९५१ को भारत सरकार ने जापानी संधि के बारे में अपने नोट में कहा था:

"भारत सरकार आशा करती है कि ऊपर के पैराओं में जो भावना जाहिर की गयी है, और जिसका एशिया के लोगों और पूरी मानवता के

भविष्य पर प्रभाव पड़ेगा, उस सम्बंध में हमारे और अमरीकी सरकार के दृष्टिकोण की एकता जाहिर होती है। जो मतभेद दोनों के बीच में हैं, वे तरीकों और उपायों के अन्तर को लेकर हैं।"

१९ सितम्बर, १९५१ को श्रीमती पंडित ने कहा था :

"जहाँ तक चीन को मानता देने का सम्बंध है, हमारा विचार है कि हमारे ऐसा करने से 'स्वतंत्र राष्ट्रों' की सेवा होगी। हम मानते हैं कि इस मामले में कुछ मतभेद मालूम हो सकता है; परन्तु वास्तव में, एक ही उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये हम केवल एक अन्य उपाय का प्रयोग कर रहे हैं।..." ('दी स्टेट्समैन', २० सितम्बर, १९५१)

'इंडियन काउंसिल ऑफ वर्ल्ड अफेयर्स' के सेक्रेटरी जनरल, श्री अप्पाडोराई ने सुझाव रखा था कि यदि भारत केवल वैदेशिक नीति सम्बंधी बयान देना कुछ कम कर दे, तो भारत और अमरीका के सम्बंधों में भारी सुधार हो जायगा।

कुछ लोग मतभेदों को कम करके दिखाते हैं, तो कुछ दोनों देशों के समान हितों की बातें करते हैं। वैदेशिक विभाग के सेक्रेटरी जनरल सर गिरिजाशंकर बाजपेयी ने कोरिया का युद्ध शुरु होने के कुछ दिन पहले **न्यू यॉर्क टाइम्स** के मि. सी. एल. सुल्जबर्गर से कहा था कि "हमारी अपनी समस्याएँ इतनी हैं" कि हम किसी गुट में शामिल नहीं हो सकते, परन्तु :

"यदि तनाव कम नहीं हुआ और दूसरे युद्ध का खतरा पैदा हो गया तो हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि अपनी आशाओं के बावजूद युद्ध से अलग रहना हमारे लिये मुश्किल हो जायगा। हम अभी कहना नहीं चाहते कि तब हम किस पक्ष का साथ देंगे, पर मेरा ख्याल है कि आप खुद समझ सकते हैं कि इस प्रश्न का क्या उत्तर है।"

और जैसे कुछ गलतफ़हमी रह गयी हो, इसलिये उन्होंने आगे यह भी फ़रमा ही दिया कि :

"सोवियत संघ की तुलना में पश्चिम और हमारे बीच कहीं अधिक आर्थिक और अन्य ढंग के सहयोग का क्षेत्र खुला हुआ है।"

अक्तूबर, १९५० में लखनऊ में इंस्टीच्यूट ऑफ़ पैसिफ़िक रिलेशन्स का जो सम्मेलन हुआ था, उसके प्रतिनिधि इस राय पर पहुँचे थे कि :

"...भारत और पाकिस्तान और लंका अपने को पहले से इस बात के लिये बांध देना नहीं चाहते कि हर हालत में वे अमरीका का ही साथ देंगे। यहाँ तक कि फ़ार्मोसा जैसे सवालों पर भी वे ऐसा करने को तैयार नहीं हैं। परन्तु मुख्य सवालों के बारे में, ऐसे सवालों के बारे में, जिन पर स्वतंत्र संसार का भविष्य निर्भर है, इन देशों की समान परम्परा इस बात की गारन्टी है और पिछले तीन वर्ष का अनुभव इस बात का सबूत है कि अन्त में दक्षिणी एशिया और अमरीका एक ही पक्ष में दिखायी देंगे।"

१९ सितम्बर, १९५१ को श्रीमती पंडित ने न्यू यौर्क में एक महत्वपूर्ण बयान दिया था और उसमें साफ़ ऐलान किया था कि भारत की नीति "संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन करने और स्वतंत्र राष्ट्रों का समर्थन करने" की नीति है। आधुनिक अमरीकी शब्दावली में स्वतंत्र राष्ट्रों का मतलब होता है वे देश जो अमरीका के साथ हैं, भले ही वे स्वतंत्र हों या गुलाम, साम्राज्यवादी हों या सामन्तवादी। श्रीमती पंडित ने कहा था :

"संयुक्त राष्ट्र संघ की हाल की साधारण बैठकों में हमने ३८ बार आप लोगों के साथ वोट दिया, ११ बार हम तटस्थ रहे और केवल दो बार आप से हमारा मतभेद रहा।" उनने यह भी जोड़ दिया था कि

"पिछले वर्षों के हमारे अनुभव ने कम्युनिस्ट आक्रमण के प्रति हमारे विरोध को और भी उग्र बना दिया है।"

लेकिन, यह कौन सा अनुभव था, यह दुर्भाग्य से मालूम न हो सका!

अतः भारत की पूरी वैदेशिक नीति को यदि लिया जाय तो कहना पड़ेगा कि फ़ौजी तथा आर्थिक कारणों से हमारी नीति धीरे-धीरे अमरीका-पक्षी बनती जा रही है। अमरीकी विशेषज्ञ फिलिप्स टैलबौट के शब्दों में :

"भारत की वैदेशिक नीति की सबसे प्रबल प्रवृत्ति पहले ब्रिटेन का साथ देने की थी, परन्तु अब वह क्षीण पड़ गयी है। उसका सबूत यह है कि आज अमरीका में अभूतपूर्व संख्या में भारतीय और पाकिस्तानी डाक्टर, इंजीनियर और विद्यार्थी दिखाई देते हैं।"

दसवां अध्याय

पाकिस्तान की वैदेशिक नीति पर एक नोट

ऊपर हमने अमरीका के प्रति भारत की नीति और भारत के प्रति अमरीका की नीति के बारे में जो कुछ कहा, वह मोटे तौर पर पकिस्तान पर भी लागू होता है।

भारत की तरह पाकिस्तान की भी सरकार यही दावा करती है कि वह एक स्वतंत्र नीति पर चलती है और किसी गुट के साथ मिलना नहीं चाहती। १७ अगस्त, १९४७ को प्रधान मंत्री लियाक़त अली खाँ ने ऐलान किया था कि पाकिस्तान ने अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में बिना किसी पूर्व-द्वेष के प्रवेश किया है और वह राष्ट्रों के बीच विचारधारा के संघर्ष में किसी का पक्ष नहीं लेगा। परन्तु, अमल में पाकिस्तान भी ब्रिटिश कौमनवेल्थ का मेम्बर बना हुआ है और आम तौर पर, अंग्रेज-अमरीकी नीति का वह समर्थन करता है। बल्कि सच तो यह है कि अन्तरराष्ट्रीय मामलों में पाकिस्तान ने हिन्दुस्तान से अधिक दृढ़ता से अमरीका का साथ दिया है।

पाकिस्तान की अर्थ-व्यवस्था पश्चिमी गुट, और विशेष कर ब्रिटेन, अमरीका तथा अमरीका द्वारा नियंत्रित जापान के साथ बंधी हुई है।

सैनिक दृष्टि से पाकिस्तान, अंग्रेज-अमरीकी शक्तियों पर निर्भर करता है। उसकी सेना में अंग्रेज अफ़सरों की एक बड़ी संख्या है। पाकिस्तान में हथियार और दूसरा सामान और शिक्षक भी पश्चिम से ही आते हैं।

एक सरकारी प्रकाशन में बताया गया था कि १९४९ में पाकिस्तान के कई सैनिक अफ़सरों को अमरीका में शिक्षा मिल रही थी।

१९४८ और १९५० में अमरीका के समुद्री बेड़े के कई जहाज सद्भावना प्रकट करने के लिये कराँची आये। रक्षा मंत्री इस्कन्दर मिर्ज़ा

जून १९४९ में अमरीका गये। उद्देश्य यह बताया गया था कि "भविष्य में और घनिष्ठ सहयोग स्थापित करने की दृष्टि से वह अमरीकी सेना से सम्पर्क क़ायम करने के लिये वहां गये हैं।" अपना काम खतम करने पर उन्होंने एक बयान में कहा था :

> "हम पाकिस्तानी, दुनिया में शान्ति की आशा करते हैं और वह क़ायम रहेगी यदि अमरीकी सेना सदा तैयारी की हालत में रखी जाये।"

पाकिस्तान को बहुत बड़ी तादाद में फ़ौजी सामान अमरीका से मिला है। यह, असल में १९ मई, १९५० को प्रकट हुआ जब दक्षिणी एम्बॉय में फ़ौजी सामान से भरे एक जहाज़ में अकस्मात विस्फोट हो गया। ४ मई, १९५० को प्रधान मंत्री लियाक़त अली खाँ ने वाशिंगटन में नेशनल प्रेस क्लब के सामने भाषण करते हुए बताया कि उनकी अमरीका यात्रा का एक उद्देश्य "अपनी सेना के लिये आधुनिक सामान हासिल करना" है। दिसम्बर, १९५० में पाकिस्तान ने पारस्परिक सुरक्षा सहायता क़ानून के मातहत हथियार और फ़ौजी सामान ख़रीदने का बाक़ायदा एक समझौता अमरीका के साथ कर लिया।

१९५० से ही अख़बारों में बार-बार ऐसे समाचार निकल रहे हैं कि पाकिस्तान ने उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त और कश्मीर में अमरीका को फ़ौजी अड्डे बनाने देने का प्रस्ताव किया है।

इसलिये, स्वभावतः पाकिस्तान की वैदेशिक नीति पश्चिमी गुट की नीति के साथ चलती है। भारत से कहीं आगे बढ़ कर पाकिस्तान ने अमरीका को खुश करने की कोशिश की। १२ अप्रैल, १९५० को प्रधान मंत्री लियाक़त अली खाँ ने सुझाव रखा कि अमरीका को कोशिश यह करनी चाहिये कि ब्रिटेन, भारत और पाकिस्तान की भौगोलिक सुरक्षा की गारन्टी दे दे। अक्तूबर, १९५० में पाकिस्तान के प्रतिनिधि-मंडल ने संयुक्त राष्ट्र संघ में इस आशय का एक प्रस्ताव पेश किया कि मैकार्थर को उत्तरी कोरिया के इलाक़े में घुसने की इजाज़त दी जाय। भारत ने कोरिया कमीशन में शामिल होने से इनकार कर दिया था। लेकिन, पाकिस्तान ने उसमें सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। जनवरी, १९५१ में प्रधान मंत्री लियाक़त

अली खाँ ने विदेशी सेनाओं को कश्मीर में आने का निमंत्रण दिया। सितम्बर, १९५१ में पाकिस्तान ने जापानी संधि के अमरीकी मसविदे पर दस्तखत कर दिया। जून, १९५२ में पाकिस्तान ने वियतनाम में कठपुतली बाओ दाई की सरकार को मानता देने का फैसला किया।

पाकिस्तान तेजी के साथ अंग्रेजों के असर से निकल कर अमरीका के असर में जा रहा है। इसका सबूत यह है कि बाहर से आने वाली वस्तुओं पर चुंगी लगाने के मामले में ब्रिटिश कौमनवेल्थ को जो सुविधाएँ मिली हुई थीं, बहुत सी वस्तुओं के लिये वे रद्द कर दी गयी हैं। १९५० में लियाक़त अली खाँ की अमरीका यात्रा, पाकिस्तान-अमरीका के सम्बंधों में एक विशेष परिवर्तन की सूचक थी। उसी वर्ष एक अंग्रेज लेखक ने लिखा था :

> "ब्रिटेन से कुछ दूर हो जाने के कारण पाकिस्तान दोस्ती और मदद के लिये अमरीका की ओर देखने लगा है। एडमिरल निमित्स के कश्मीर में मतगणना संचालक के रूप में नियुक्त किये जाने का बड़ा स्वागत हुआ और **डॉन** ने लिखा है कि अंग्रेजों की जगह अमरीकी टेकनीशियन भरती किये जाने चाहियें।" (रिचर्ड सिमन्ड्स की पुस्तक "पाकिस्तान की रचना" से, पृष्ठ १०३)

अमरीकियों ने इन नीतियों को पसन्द किया। सहायक विदेश मंत्री जौर्ज मघी ने २४ जुलाई, १९५१ को ऐलान किया :

> "वे लोग (पाकिस्तान के रहने वाले)...बहुत दृढ़ता के साथ पश्चिम की ओर, और विशेष कर अमरीका की ओर झुके हुए हैं...
>
> "पाकिस्तान सरकार ने घरेलू कम्युनिस्ट कार्रवाई को कुचलने के लिये सक्रिय क़दम उठाया है। पाकिस्तान सरकार ने चीन की कम्युनिस्ट सरकार को तो मानता दे दी है, परन्तु वह कम्युनिज़्म के आक्रमणकारी उद्देश्यों को अच्छी तरह समझती है और अमरीका तथा ग़ैर-कम्युनिस्ट देशों से दोस्ती रखना चाहती है।"

न्यू यौर्क टाइम्स ने सितम्बर, १९५१ में लिखा था :

> "कम्युनिज़्म और जनतंत्र के संघर्ष से भारत अपने को सदा अलग सा रखता है, परन्तु पाकिस्तान तो पश्चिमी ताक़तों का नैतिक समर्थन करने के मामले में मानो लड़ाकू रुख अपनाये हुए है।"

पाकिस्तान सरकार को अमरीकी अपना एक दृढ़ समर्थक मानते हैं। वे समझते हैं कि पाकिस्तान में आगे चल कर दूसरी 'मुस्लिम' सरकारों का नेता बनने की सामर्थ्य है। परन्तु पाकिस्तान का जनमत भारतीय जनमत जैसा ही है। उसने चीन और कोरिया के सवालों पर अपनी सरकार को मजबूर कर दिया कि वह भारत सरकार जैसा ही रुख अपनाये। प्रधान मंत्री लियाक़त अली खाँ और उनका मंत्रिमण्डल पाकिस्तानी फ़ौजों को कोरिया भेजने को तैयार था। परन्तु प्रबल जनमत के विरोध के कारण उनके लिये ऐसा कर सकना सम्भव न हुआ।

परन्तु, पाकिस्तान और अमरीका के बीच यदा-कदा जो मतभेद उठ खड़े होते हैं, उनको बहुत महत्व देना भी ग़लत होगा।

१९४८ के वसन्त में, पाकिस्तान ने सोवियत संघ के साथ राजदूतों की अदला-बदली करने का फ़ैसला किया। ऐसा करके वह "कश्मीर के बारे में सुरक्षा समिति के फ़ैसलों के ख़िलाफ़ अपना क्रोध" ज़ाहिर करना चाहता था। एक वर्ष बाद, जब पं. नेहरू को अमरीका से निमंत्रण मिला तो प्रधान मंत्री लियाक़त अली खाँ ने ऐलान कर दिया कि वह सोवियत संघ जाने वाले हैं। परन्तु, फिर उन्होंने वह यात्रा स्थगित कर दी और अन्त में तो इरादा ही त्याग दिया और उल्टे वह अमरीका तशरीफ़ ले गये। पाकिस्तान सरकार ने इसकी ज़िम्मेदारी सोवियत सरकार पर डालने के लिये अजीब-अजीब क़िस्से अख़बारों में छपवाये। पर अन्तरराष्ट्रीय मामलों के पाकिस्तानी विशेषज्ञ के. सरवर हसन ने हाल में उनका पर्दाफ़ाश कर दिया। उसने लिखा :

> "वह (लियाक़त अली खाँ) यथार्थवादी थे। उनका उद्देश्य अपनी ग़रीब जनता का जीवन स्तर ऊपर उठाना था। यह केवल बड़े पैमाने पर आर्थिक विकास के द्वारा ही सम्भव था, जिसके लिये पाकिस्तान के पास न पूंजी थी, न मशीनें और न तकनीकी दक्षता। ये चीज़ें सिर्फ़ पश्चिम से ही आ सकती थीं। इसलिये, वास्तव में, वह देश की बुनियादी आर्थिक आवश्यकताओं के लिये भी पश्चिम पर उसी प्रकार निर्भर करते थे—जैसे वह कश्मीर के सवाल को संयुक्त राष्ट्र संघ के ज़रिये सुलझाने के लिये उस पर निर्भर करते थे।...
>
> "मि. लियाक़त अली खाँ की प्रस्तावित रूस यात्रा के लिये पाकिस्तान में बड़ा उत्साह था। उसे स्थगित करके—बल्कि कहना चाहिये कि

उसका इरादा छोड़ कर यदि उल्टे उन्हें अमरीका जाना पड़ा, तो सिर्फ़ ऊपर लिखी महत्वपूर्ण आवश्यकताओं के कारण ही।" (**पाकिस्तान होराइज़न** के दिसम्बर, १९५१ के अंक में "मि० लियाक़त अली खाँ की वैदेशिक नीति" शीर्षक लेख से)

सच बात यह है कि पाकिस्तान सरकार को सदा यह डर लगा रहता है कि अमरीका कहीं भारत को एशिया में अपना प्रधान अड्डा न बनाना तै कर ले और उस कारण कहीं भारत को पाकिस्तान से ज़्यादा 'टुकड़े' न मिलने लगें; और अमरीकी सरकार पर दबाव डालने के लिये उसे देशी जनमत और अन्तरराष्ट्रीय पैंतरेबाजी का इस्तेमाल करने में भी कोई हिचक नहीं होती है।

न्यू यौर्क टाइम्स ने १५ सितम्बर, १९५१ को लिखा था :

"पाकिस्तानी अब अपने से सवाल करने लगे हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ में और अन्यत्र, अमरीका तथा ब्रिटेन की नीति का लगातार दृढ़ता से समर्थन करके उन्हें कोई फ़ायदा भी हुआ है या नहीं? और क्या भारत की तरह तटस्थता का खेल खेलना ही पाकिस्तान के लिये अधिक लाभदायक न होगा...?

"वे कहने लगे हैं कि भविष्य में पाकिस्तान को अन्तरराष्ट्रीय झगड़ों पर अपना रुख तै करते हुए इसका ज़्यादा ख़याल रखना चाहिये कि इसमें मेरे लिये क्या है।"

इस तरह के दबाव के साथ-साथ पहले से अधिक 'सहयोग' के वायदे भी किये जाते हैं। प्रधान मंत्री ख़्वाजा नाज़िमुद्दीन ने २२ अक्तूबर, १९५१ को कहा था :

"कश्मीर की समस्या सुन्दरता के साथ हल हो जाय तो हमारी फ़ौजें ख़ाली हो जायेंगी, और तब कोरिया को फ़ौज भेजने के सवाल पर हम गम्भीरता के साथ विचार कर सकेंगे।"

दक्षिण अफ्रीका, कश्मीर और हैदराबाद

सहयोग और पराधीनता में क्या अन्तर है? यही कि सहयोग में दोनों पक्षों को लाभ होता है और पराधीनता में केवल एक पक्ष को। भारत और पाकिस्तान ने अपनी वैदेशिक नीति के द्वारा प्रायः अमरीकी हितों को मजबूत किया है। अमरीकी हितों पर उन्होंने चोट कभी नहीं की। इसलिये, आशा की जा सकती थी कि भारत या पाकिस्तान के बुनियादी हितों का सवाल उठने पर अमरीका भी यही रुख अपनायेगा। इस अध्याय में हम ऐसे तीन सवालों पर अमरीका का रुख देखेंगे।

दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानी

१९४६ में अविभाजित हिन्दुस्तान की अन्तरिम सरकार ने संयुक्त राष्ट्र संघ से अपील की थी कि दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों के साथ वर्बर व्यवहार वन्द हो। अमरीका ने दक्षिण अफ्रीका के रंगभेद की भावना में अंधे बने शासकों का साथ दिया और भारत का विरोध किया।

अमरीका ने दक्षिण अफ्रीका के गोरे शासकों का साथ देना पसन्द किया क्योंकि उसे इन लोगों की कट्टर प्रतिक्रियावादी नीति में, भारत की तटस्थता की नीति से अधिक विश्वास था। रंगभेद की नीति का अमरीका समर्थन करता है क्योंकि उसे डर है कि हब्शियों और एशियाइयों के साथ वह खुद जो भेदभाव वरतता है, कहीं उसके वारे में भी किसी अन्तरराष्ट्रीय मंच से सवाल न उठा दिया जाय। इस प्रकार अमरीकी सरकार ने भारतीय तथा अफ्रीकी जनता के शत्रु का पक्ष लिया है और भारत की वैदेशिक नीति के एक बुनियादी सिद्धान्त का सख्त विरोध किया है।

दूसरा सवाल जो भारत और पाकिस्तान दोनों से सम्बंधित है और जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने पेश है, वह कश्मीर का मसला है। इस सवाल पर संयुक्त राष्ट्र संघ की बहसों में अमरीका सबसे आगे बढ़ कर हिस्सा लेता रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से फ्रैंक ग्रैहम को कश्मीर के मामले में मध्यस्थ और एडमिरल चेस्टर निमिट्ज़ को मतगणना संचालक नियुक्त किया गया है। ये दोनों सज्जन अमरीकी हैं और उनके ज़रिये अमरीका इस मामले में बहुत कारगर ढंग से हस्तक्षेप कर सकता है।

परन्तु, यह समझना ग़लत होगा कि अमरीका ने कश्मीर में केवल जनवरी, १९४८ से, यानी सिर्फ़ तभी से दिलचस्पी लेना शुरू किया, जब कि कश्मीर का मामला सुरक्षा समिति के सामने आया। २७ अक्तूबर, १९४७ को रौबर्ट ट्रूम्बल ने नयी दिल्ली से समाचार भेजा था :

"सिखों (फ़ौजियों) को श्रीनगर ले जाने के लिये जो हवाई जहाज़ किराये पर लिये गये थे, उनमें से एक पर दो अमरीकी अन्वेषक नयी दिल्ली आये—१५० सेण्ट्रल पार्क साउथ, न्यू यौर्क का रहने वाला लेखक और भाषणकर्ता निकल स्मिथ; और शिकागो का फ़ोटोग्राफ़र लोरेन ट्टेल...।

"मि० स्मिथ और मि० ट्टेल अपने साथ १८,००० फ़ीट लम्बी एक चलती-फिरती फ़िलम, जिस पर उन्होंने कश्मीर और पश्चिमी तिब्बत के चित्र खींचे थे, तो बचा कर ले आये, पर ६,००० डालर के मूल्य का कैमरा आदि उन्हें वहीं छोड़ देना पड़ा ...।

"मि० स्मिथ हाल के उपद्रव काल में बहुत दूर-दूर तक कश्मीर में घूमे। उन्हें पता चला कि यदि कोई बड़ा उपद्रव शुरू हुआ तो स्थानीय शासक उससे फ़ायदा उठा कर महाराजा के ख़िलाफ़ बग़ावत का झण्डा बुलन्द कर सकते हैं। लदाख़ में ... मि० स्मिथ ने देखा कि स्वतंत्रता की भावना आम तौर पर लोगों में फैली हुई है।"

दूसरे दिन ट्रूम्बल ने फिर लिखा :

"न्यू यौर्क के लेखक और भाषणकर्ता निकल स्मिथ, जो कल श्रीनगर से लौटे, ख़बर लाये हैं कि लदाख़ प्रान्त की राजधानी लेह

में रूस के समर्थन में कुछ कार्रवाइयाँ हो रही हैं। लद्दाख के पड़ोस में चीनी तुर्किस्तान है। मि० स्मिथ ने देखा कि गोकि वह एक चीनी प्रान्त है, फिर भी वहाँ रूसियों का बहुत असर है।"

ये दो अमरीकी कौन थे और कश्मीर में क्या कर रहे थे?

मेजर टूटेल ने पिछले महायुद्ध में पाँचवीं लड़ाकू कैमरा टुकड़ी के कमांडर की हैसियत से प्रशान्त के युद्ध क्षेत्र में काम किया था। निकल स्मिथ खुफ़िया विभाग का गुर्गा था और विदेशों में जासूसी का संचालन करने वाले अमरीकी सरकार के विभाग (ओवरसीज स्ट्रैटेजिक सर्विसेज) की ओर से फ्रांस, स्याम, भारत, लंका और चीन में काम कर चुका था। हाल में प्रकाशित अपनी एक किताब **तिब्बत का सुनहरा द्वार** में उसने कश्मीर यात्रा का उद्देश्य बताते हुए कहा है :

"...मेरे मन में एक विचार चक्कर लगा रहा था। दूसरे महायुद्ध में मैं अक्सर पूर्वी तिब्बत के पहाड़ों के ऊपर सी-४७ हवाई जहाज में बैठ कर उड़ा हूँ और हर बार मेरे मन में यह डरावना विचार मंडराता रहा है कि हमारे नीचे हजारों मील तक समतल जमीन का एक भी टुकड़ा ऐसा नहीं है, जिस पर हवाई जहाज उतर सके। सवाल यह था कि क्या पैगोंग झील का इलाक़ा भी नीचे उतरने के लिये इतना ही ख़राब है? मैं किसी तरह इस सवाल के जवाब का पता लगाना चाहता था।" (पृष्ठ २३४)

परन्तु, बीमार पड़ जाने के कारण स्मिथ पैगोंग झील की यात्रा न कर सका और टूटेल अकेले ही वहाँ गया।

"लॉरेन ने जो कुछ देखा, उससे मुझे यह विश्वास हो गया कि झील का उत्तरी भाग बीस मील की लम्बाई तक कम से कम दो मील चौड़ा है और किनारे के पास भी उसकी गहराई बहुत काफ़ी है।

"लोरेन ने अपनी जेब से डायरी निकाली और उसने मुझे दिखाया कि झील के इस छोर पर हवाई जहाजों के उतरने के लिये कई मील लम्बा स्थान मिल सकता है। बल्कि, उसका तो कहना था कि यहाँ ऐसे कई स्थान मिल सकते हैं। उत्तर-पश्चिम की ओर पहाड़

भी इतने नीचे हैं कि झील से उड़ने वाला कोई भी हवाई जहाज़ आसानी से उन्हें पार कर सकता है।

"हम खामोश खड़े-खड़े एक-दूसरे को देखते रह गये...।" (वही पुस्तक, पृष्ठ २४८)

अमरीकी अखबारों ने फ़रवरी १९४८ में समाचार छापा कि हेट नामक एक अमरीकी ने आज़ाद कश्मीर फ़ौज में कई महीने तक ब्रिगेडियर-जनरल की हैसियत से काम किया है और उसका दावा है कि उसने बहुत से हिन्दुओं को अपने हाथ से मारा है। *

इससे ज़ाहिर होता है कि कश्मीर में अमरीका की दिलचस्पी बहुत पुरानी थी और उसकी सबसे बड़ी वजह कश्मीर की भौगोलिक स्थिति थी। उसका सैनिक दृष्टि से बड़ा महत्व है। रोज़िंजर ने अपनी पुस्तक **भारत और अमरीका** में लिखा है :

"कश्मीर, सोवियत संघ का पड़ोसी है और उसकी सीमा अफ़ग़ानिस्तान, चीनी तुर्किस्तान (सिंकियांग), तिब्बत, भारत और पाकिस्तान की सीमाओं से मिलती है। शायद इसीलिये, अमरीका को कश्मीर में इतनी दिलचस्पी है।" (पृष्ठ १०५)

भारत सरकार भी यह अच्छी तरह जानती थी कि चीन और सोवियत रूस के खिलाफ़ युद्ध चलाने के केन्द्र के रूप में कश्मीर में अमरीकियों की बड़ी दिलचस्पी है। २९ अक्तूबर, १९४७ को रौबर्ट ट्रूम्बल ने नयी दिल्ली से **न्यू यौर्क टाइम्स** में लिखा था :

---

* सर बी० एन० राव ने फ़रवरी १९५० में सुरक्षा समिति के सामने इस बात का जिक्र करते हुए कहा था : "भारत...चाहे तो इस मामले में सख़्ती से पेश आ सकता है और हेट की कार्रवाइयों से उसे जो नुक़सान पहुँचा है, उसका मुआवज़ा अमरीका से तलब कर सकता है। इसमें जिन लोगों को हेट ने मार डाला, सिर्फ़ वे ही नहीं आते। भारत चाहे तो इस लड़ाई का पूरा खर्चा मांग सकता है, क्योंकि हेट द्वारा आज़ाद कश्मीर फ़ौज का संगठन किये जाने के कारण ही भारत को यह युद्ध लड़ना पड़ा।" ('हिन्दू,' १४ फ़रवरी, १९५०

"...भारतीय अधिकारियों का स्पष्ट मत है कि भारत की सुरक्षा के लिये कश्मीर पर अधिकार रखना बहुत आवश्यक है। सरकार के जिन बड़े अधिकारियों से मैंने आज बातें की, वे सोवियत संघ के बारे में सोच रहे थे जो उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर गिलगिट के पास कश्मीर को छूता है।

"एक भारतीय अफ़सर ने मुझ से कहा : 'इस इलाक़े की रूसी प्रजा चूंकि मुसलमान है, इसलिये पाकिस्तान को इस सीमा की रक्षा की उतनी चिन्ता नहीं है जितनी हमें है।' इस अफ़सर के विचार में कश्मीर के पहाड़ों को सुरक्षा का पर्याप्त साधन नहीं माना जा सकता।"

इस प्रकार, बड़े भारतीय अफ़सर अमरीका को यह समझाने की कोशिश कर रहे थे कि सोवियत रूस के खिलाफ़ दोनों सरकारों के हित एक हैं। रूस का हौआ खड़ा करके और उससे लड़ने के लिये मदद का आश्वासन देकर वे पाकिस्तान से होड़ करना चाहते थे।

१ जनवरी, १९४८ को भारत सरकार ने सुरक्षा समिति से कश्मीर में पाकिस्तान के हस्तक्षेप की शिकायत की। पाकिस्तानी विदेश मंत्री ने जवाब में मांग की कि भारत और पाकिस्तान के बीच जितनी भी बातों पर मतभेद है, उन सब पर सुरक्षा समिति गौर करे। अमरीकी और अंग्रेज़ प्रतिनिधियों के रुख़ से लगता था कि वे भी इस प्रस्ताव को पसन्द करते हैं। जहाँ तक कश्मीर का सम्बंध था, उन्होंने भारत की शिकायत को अनसुना कर दिया और मांग रखी कि सुरक्षा समिति के मातहत वहाँ 'तटस्थ' शासन क़ायम किया जाय और कश्मीर को उसके हाथ में सौंप दिया जाय। ज़ाहिर है कि 'तटस्थ' शासन का मतलब अंग्रेज़-अमरीकी गुट के भेजे हुए विदेशी अफ़सरों का शासन है। ब्रिटिश और अमरीकी प्रतिनिधियों को कश्मीर में स्वतंत्र मतगणना कराने की इतनी चिन्ता न थी, जितनी वहाँ अपना शासन स्थापित करने की थी।

२० जनवरी, १९४८ को सुरक्षा समिति ने एक जाँच कमीशन नियुक्त करने का निश्चय किया। उसमें एक मेम्बर भारत का चुना हुआ रखा जानेवाला था, दूसरा पाकिस्तान का चुना हुआ और तीसरे सदस्य को पहले दो मेम्बर चुनने वाले थे। सुरक्षा समिति के बहुमत से भारत नाराज़ था; उसने

चेकोस्लोवाकिया को चुना। पाकिस्तान ने अपना सदस्य चुनने में देरी की। अंग्रेज़-अमरीकी गुट को मौक़ा मिला, उसने दो महीने के लिये कमीशन के काम को खटाई में डाल दिया। सुरक्षा समिति का अध्यक्ष हर महीने बदलता रहा। वह अमरीका से राय लेकर भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधियों को गुप्त बातचीत के लिये बुलाता रहा। अन्त में, पाकिस्तान ने अर्जेन्टाइना को कमीशन का मेम्बर नामज़द कर दिया।

२१ अप्रैल को अमरीका और ब्रिटेन ने काम ज़्यादा होने का बहाना बना कर सुरक्षा समिति से कमीशन के सदस्यों की संख्या को बढ़ा कर पाँच कर देने की इजाज़त ले ली। दो नये स्थान बेल्जियम और कोलम्बिया को दिये गये। ये दोनों देश अमरीका के आधीन हैं। साथ ही प्रस्ताव में यह भी जोड़ दिया गया कि यदि भारत और पाकिस्तान द्वारा नामज़द दो मेम्बर तीसरे मेम्बर को दस दिन के भीतर चुनने में असमर्थ रहते हैं, तो फ्रांसीसी प्रतिनिधि इस स्थान के लिये किसी को नामज़द कर देगा। इस तरह अमरीका खुद भी कमीशन में घुस गया।

भारत और पाकिस्तान दोनों ने ही इस प्रस्ताव पर एतराज़ किया था, पर कमीशन को सुविधा देने के लिये दोनों ही तैयार हो गये। भारत ने कुछ विशेष प्रबंध भी किया। जैसे :

> "शेख अब्दुल्ला के समर्थकों से सख़्ती से कहा गया कि वे कोई विरोध प्रदर्शन न करें।" (**टाइम्स**, लन्दन, ११ जुलाई, १९४८)

अमरीका के शामिल हो जाने के बाद कमीशन तुरन्त काम करने लगा। २० जुलाई को उसने त्रिग्वी ली से कहा कि एक बड़ा फ़ौजी अफ़सर सैनिक सलाहकार बना कर कमीशन की मदद के लिये भेजा जाय। २४ जुलाई को लन्दन के **टाइम्स** ने समाचार छापा :

> "कमीशन को भारत सरकार से इजाज़त मिल गयी है कि वह सामरिक परिस्थिति की प्रारम्भिक जाँच करने के लिये एक अमरीकी फ़ौज के मेजर और एक बेल्जियन प्रतिनिधि ... दो सदस्यों की एक उपसमिति को कश्मीर भेजे।"

सैनिक परिस्थिति की यह जाँच कमीशन के अमरीकी सदस्य के सैनिक सलाहकार मेजर फ्रांसिस एम. स्मिथ और बेल्जियम के अस्थायी सदस्य

हैरी ग्राफ़े ने की। कमीशन सचिवालय का अंग्रेज़ सदस्य रिचर्ड सिमण्ड्स भी इन लोगों के साथ गया था।

कमीशन ने विस्तृत पैमाने पर राजनीतिक और आर्थिक जाँच कराने के लिये भी कई जत्थे कश्मीर भेजे। परन्तु पाकिस्तान और भारत के बीच समझौता कराने के लिये उसने कुछ न किया। उल्टे, उसने दोनों सरकारों से परस्पर विरोधी बातें करके उन्हें आपस में लड़ाने की कोशिश की और सितम्बर, १९४८ से फ़रवरी १९४९ तक वह योरप में जाकर बैठ गया।

कश्मीर में पिछले साल के बसन्त से ही लड़ाई बन्द थी। इस फ़ौजी सीमा को भारत और पाकिस्तान ने १ जनवरी, १९४९ को बाक़ायदा समझौता करके पक्की कर दिया। दूसरे रोज़ मौरिस देल्वौय नामक एक बेल्जियन जनरल कश्मीर तशरीफ़ ले आया। फ़रवरी तक ३६ सैनिक दर्शक वहाँ पहुँच गये थे। इनमें से १७ अमरीका से आये थे, ६ मेक्सिको से, ५ बेल्जियम से, ४ कनाडा से और ४ नॉरवे से। अमरीका और उसके गुट वाले कश्मीर में मज़बूती के साथ जम गये।

फिर कमीशन ने सुझाव रखा कि संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रधान मंत्री को कश्मीर के लिये एक मतगणना संचालक नियुक्त कर देना चाहिये जिसके हाथ में शासन के विस्तृत अधिकार रहें। ६ मार्च, १९४९ को पं. नेहरू ने बताया कि इस पद के लिये जनरल वाल्टर बेडेल-स्मिथ को चुना गया है। स्मिथ चूंकि बीमार पड़ गये, इसलिये २२ मार्च को त्रिग्वी ली ने फ़्लीट एडमिरल चेस्टर निमित्ज़ की नियुक्ति का ऐलान कर दिया। यह बात महत्व से ख़ाली नहीं है कि इस पद के लिये चुने गये दोनों नाम अमरीकी अफ़सरों के थे। बेडेल-स्मिथ एक जनरल था जो बाद में अमरीकी सरकार के संसारव्यापी केन्द्रीय ख़ुफ़िया विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। निमित्ज़ समुद्री बेड़े का बड़ा अफ़सर था। मतगणना संचालक की तनख़ा ४५,००० डालर वार्षिक रखी गयी। इससे ज़ाहिर होता है कि इस पद को कितना भारी महत्व दिया गया है।

गोकि कमीशन पहले मध्यस्थता या बीच-बचाव कराने वाला कमीशन कहलाता था, पर वह दोनों पक्षों को कभी एक साथ बैठाने की बात न करता था। अगस्त, १९४९ में बड़े अधिकारियों की एक संयुक्त बैठक होने वाली थी।

कमीशन ने उसे मंसूख कर दिया और उल्टे, अमरीकी सदस्य के सुझाव पर प्रस्ताव रखा कि एडमिरल निमित्ज़ को पंच वन कर झगड़े का फैसला दे देना चाहिये। राष्ट्रपति ट्रूमन ने (और स्वयं निमित्ज़ ने भी) भारत और पाकिस्तान पर यह प्रस्ताव मान लेने के लिये दवाव डाला। परन्तु भारत ने इनकार कर दिया। इस समय तक कमीशन और उसके सैनिक दर्शकों की 'निगरानी' के वावजूद आज़ाद कश्मीर की फ़ौज वढ़ कर ३२ वटालियन हो गयी थी और वह पूरी तरह हथियारों से लैस थी।

अमरीका अव कश्मीर की पूरी ज़िम्मेदारी लेने को तैयार था। वह एडमिरल निमित्ज़ को सर्वोच्च शासक और पंच वना कर भेजना चाहता था। परन्तु भारत सरकार के विरोध के कारण उसे एक वीच का रास्ता निकालना पड़ा। १४ मार्च, १९५० को क्यूवा, नॉर्वे और ब्रिटेन के सहयोग से अमरीका ने सुरक्षा समिति से एक मध्यस्थ नियुक्त करा लिया। इन चार सरकारों ने एक राय से सर ओवेन डिक्सन को इस पद के लिये चुना जो युद्ध काल में वाशिंगटन में आस्ट्रेलिया के राजदूत थे और यह संकेत किया कि यदि भारत और पाकिस्तान ने इस नाम को स्वीकार नहीं किया तो भी नियुक्त उन्हें ही किया जायगा। १२ अप्रैल को सुरक्षा समिति ने डिक्सन का नाम मंजूर किया और भारत तथा पाकिस्तान दोनों ने उसे मान लिया। प्रधान मंत्री ली ने तुरन्त पेंशनयाफ़्ता अमरीकी जनरल कुर्टने एच. हौजेज़ को डिक्सन का सैनिक सलाहकार नियुक्त कर दिया।

कुछ महीने वाद डिक्सन ने रिपोर्ट पेश की कि वह अपने काम में असफल रहा है और सिफ़ारिश की कि कश्मीर का वँटवारा कर देना चाहिए।

जनवरी, १९५१ में जो कौमनवेल्थ कान्फ्रेंस हुई, उसमें आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड के अमरीका-परस्त प्रधान मंत्रियों ने कश्मीर में अपनी फ़ौजें भेजने का सुझाव रखा। पाकिस्तान सरकार ने इस सुझाव को भी स्वीकार कर लिया; पर भारत ने उसे नहीं माना।

फ़रवरी १९५१ में, अमरीका और ब्रिटेन ने सुरक्षा समिति से एक दूसरा 'मध्यस्थ' नियुक्त करने की इजाज़त ले ली। जनरल आइज़नहौवर का नाम भी आया; पर वाद में अंग्रेज़-अमरीकी प्रतिनिधियों ने डा. ग्रैहम को चुना। भारत सरकार ने फ़रवरी वाले प्रस्ताव का विरोध किया था, परन्तु अमरीकी

वैदेशिक विभाग का दवाव पड़ने पर ग्रैहम का उसने स्वागत किया। एक साल की मेहनत के वाद ग्रैहम महाशय ने २५ अप्रैल, १९५२ को रिपोर्ट दी कि अव एडमिरल निमित्ज को भी इस मामले में डाल देना चाहिये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पिछले पाँच साल से अमरीका लगातार कश्मीर के मामले में हस्तक्षेप कर रहा है। वह संयुक्त राष्ट्र संघ में चौधरी वना हुआ है। उसने वार-वार ऐसी मांगें पेश की हैं जो सर्वथा अनुचित थीं। वार-वार भारत और पाकिस्तान की सरकारों ने दुनिया के सामने यह वादा किया कि वे कश्मीरियों को इन "पंचों" की वातें मानने के लिये मजवूर करेंगे, गोकि कश्मीरी जनता ऐसी वातों के सख़्त ख़िलाफ़ थी।

सुरक्षा समिति का वहुमत अमरीका की मुट्ठी में है। उसका प्रयोग करके अमरीका ने भारत और पाकिस्तान की सरकारों को विवश कर दिया कि उस वहुमत का समर्थन पाने के लिये वे अमरीका की ख़ुशामद करें। इसका परिणाम यह हुआ है कि कश्मीर अनिश्चित काल के लिये दो टुकड़ों में वँट गया है और कश्मीरी स्वयं अपने भाग्य का निर्णय नहीं कर सकते।

भारत और पाकिस्तान के नेताओं ने प्रायः यह स्वीकार किया है कि कश्मीरियों को आत्मनिर्णय का अधिकार है। उदाहरण के लिये, १३ जुलाई, १९५१ को पं. नेहरू ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के सामने कहा था :

> "कश्मीर को, ग़लती से भारत या पाकिस्तान को मिलने वाला इनाम समझा जाता है। मालूम होता है कि लोग यह भूल जाते हैं कि कश्मीर कोई वाज़ार में विकने वाली चीज़ नहीं है। कश्मीर का अपना व्यक्तिगत अस्तित्व है और वहां रहने वाले ही अपने भाग्य का अन्तिम निर्णय कर सकते हैं।"

परन्तु सुरक्षा समिति की वहसों में हमेशा यह मान कर चला जाता है कि कश्मीर को भारत या पाकिस्तान में से किसी एक में शामिल हो जाना पड़ेगा। जैसा कि शेख़ अब्दुला ने २९ अप्रैल, १९५० को कहा था :

> "...जव कि प्रत्येक रियासत को यह अधिकार दिया गया था कि वह या तो दोनों में से किसी एक डोमीनियन में शामिल हो जाय या

स्वतंत्र रहे, लेकिन संयुक्त राष्ट्र संघ हमें मजबूर कर रहा है कि हम भारत या पाकिस्तान, किसी न किसी डोमीनियन में अवश्य शामिल हो जायें।"

इसीलिये, मतगणना पर जोर दिया जा रहा है और विधान परिषद का विरोध हो रहा है। विधान परिषद यह तै कर सकती है कि राज्य स्वतंत्र रहे या किसी संघ में शामिल हो जाय, बल्कि वह शामिल होने की शर्तों पर भी बातचीत चला सकती है। और अमरीका तो कश्मीरी क़ौम से मतगणना में वोट देने का साधारण हक़ भी छीनने को तैयार बैठा है। वह कश्मीर का विभाजन करा देना चाहता है। मई, १९५० में एडमिरल निमित्ज़ ने ऐलान किया था कि कश्मीर के सवाल को बातचीत के ज़रिये हल किया जा सकता है। ३ अक्तूबर, १९५१ को दिल्ली के अमरीका-परस्त साप्ताहिक **थौट** ने सुझाव रखा था कि कश्मीर को एक संयुक्त भारत-पाकिस्तानी शासन के हाथ में सौंप देना चाहिये जिसके मातहत कश्मीरियों को केवल स्थानीय स्वायत्त शासन का अधिकार हासिल हो।

असल में कश्मीर के सवाल पर अमरीका अपनी संसार-व्यापी नीति का ही अनुसरण कर रहा है। शेख़ अब्दुल्ला ने अप्रैल, १९४८ में ही कहा था :

"(सुरक्षा समिति के) अधिकतर सदस्य कश्मीर को केवल रूस के एक पड़ोसी देश के रूप में ही देखते हैं और उसे भविष्य में रूस पर आक्रमण करने के लिये एक महत्वपूर्ण फ़ौजी अड्डा समझते हैं।"

पं. नेहरू ने ६ फ़रवरी, १९५० को कहा था कि भारत पर जो दबाव पड़ रहा है, उससे प्रकट होता है कि कश्मीर के सवाल पर विचार करते समय कुछ बाहरी प्रश्नों को अधिक महत्व दिया जा रहा है। २८ अक्तूबर, १९५० को उन्होंने कहा कि अंग्रेज-अमरीकी शक्तियाँ 'रंगे हुए चश्मों' से कश्मीर को देख रही हैं। और वे अक्सर अपने दृष्टिकोण से कश्मीर की सुरक्षा और कश्मीर में फ़ौजी अड्डे बनाने की बात सोचती हैं।

इस प्रकार, अमरीका वालों के हाथ में पड़ कर कश्मीर का स्थानीय झगड़ा एक गम्भीर अन्तरराष्ट्रीय प्रश्न बन गया है। इससे नुक़सान कश्मीरी जनता का ही हुआ है। आज हालत यह हो गयी है कि अगर शेख़ अब्दुल्ला कश्मीरी क़ौम के आत्मनिर्णय के अधिकार और प्रभु-सत्ता का जिक्र तक कर

देते हैं—जैसा उन्होंने १० अप्रैल, १९५२ के अपने बयान में किया था—तो भारत, पाकिस्तान और अमरीका के अधिकारियों में बौखलाहट पैदा हो जाती है। इस स्थिति को पैदा करने की मुख्य जिम्मेदारी अमरीकी सरकार पर है।

हैदराबाद

जब निज़ाम और उसके गुट ने हैदराबाद को भारत से अलग करने के उद्देश्य से सुरक्षा समिति से हस्तक्षेप करने को कहा तो अमरीका फ़ौरन उनकी मदद को उठ खड़ा हुआ। अमरीकी प्रतिनिधि जेसप ने वोट दिया कि निज़ाम की शिकायत पर अवश्य विचार करना चाहिये। जब भारत ने हैदराबाद पर चढ़ाई शुरू कर दी तो उसने भारत की निन्दा की। अमरीकी अखबारों ने एक स्वर से भारत को गालियाँ सुनायीं।

बाद में पता चला कि निज़ाम सरकार ने अमरीकी सेना के तीन हवाबाजों को नौकर रखा था। उनमें से एक साहब कनक्टीकट के कोलोनल जौन मौन्टे कौब थे। इन लोगों से कहा गया था कि चालीस थण्डरबोल्ट (पी-४७) और पांच डी. सी-३ के हवाई जहाज़ वे निज़ाम सरकार के लिये खरीदें। इसके अलावा निज़ाम ने अमरीका में प्रचार करने के लिये एक अमरीकी प्रचारक फ़र्म को कई बड़ी रक़में दी थीं।

मार्च १९५० में, हैदराबाद के भूतपूर्व प्रधान मंत्री मीर लायक़ अली पाकिस्तान भाग गये। कहा गया कि बी. सी. मेयर्स नामक एक अमरीकी इंजीनियर और व्यापारी ने भागने में उनकी मदद की थी।

चूँकि निज़ाम की सेना की बहुत जल्दी हार हो गयी, इसलिये, शायद ऐसी अधिक गम्भीर घटनाएँ न हो पायीं जिनमें अमरीका का हाथ नज़र आता।

अमरीका की ' हिमालय सम्बंधी ' नीति

युद्ध के बाद से ही अमरीका हिमालय के इलाक़े में विशेष दिलचस्पी ले रहा है। इस इलाक़े में अमरीका जो कुछ करता है, उसका हमारे पड़ोसी देशों पर गहरा असर पड़ता है। इसलिये, उसके इन कामों पर भारत तथा पाकिस्तान की जनता को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये।

अफ़ग़ानिस्तान

अमरीकी वैदेशिक विभाग की नज़रों में अफ़ग़ानिस्तान " एक महत्वपूर्ण और सैनिक दृष्टि से बड़ी लाभदायक स्थिति वाला देश " है। १७ दिसम्बर, १९४८ को **क्रिश्चियन साइंस मौनिटर** ने यह समाचार छापा था :

> " सोवियत संघ, और भारत तथा पाकिस्तान के बीच का पहाड़ी सरहदी इलाक़ा—यानी अफ़ग़ानिस्तान उन देशों में है जिनमें अंग्रेज़ों का असर घटने के साथ-साथ अमरीकी असर बढ़ता जाता है।...
>
> "...अफ़ग़ान सरकार अधिकाधिक अमरीका की समर्थक बनती जाती है। उसने अनेक अमरीकी व्यापारियों और टेकनिकल विशेषज्ञों को अपने यहाँ बुला लिया है। अफ़ग़ानिस्तान से हाल में आने वाले मुसाफ़िरों ने बताया है कि अफ़ग़ान राजधानी में आजकल ७०० विदेशी रहते हैं और उनमें से लगभग आधे अमरीकी हैं।
>
> " अफ़ग़ानिस्तान के निर्यात व्यापार में अमरीकी फ़र्मों का हिस्सा बढ़ता जाता है। वहाँ के अधिकतर कराकुल को अमरीका रोएँदार कपड़े बनाने के लिये खरीद लेता है। कराकुल अफ़ग़ानिस्तान का मुख्य निर्यात है। दूसरी ओर, अफ़ग़ानिस्तान में जो विदेशी पूंजी और

इस्तेमाल की चीजें वाहर से आ रही हैं, उनका अधिकतर भाग अमरीका से आता है...।

"कुछ समाचारों के अनुसार, यदि कुछ अमरीकी कम्पनियाँ नये उद्योगों में पूंजी लगाने को तैयार होंगी, तो अफ़गानिस्तान सम्भवतः अमरीकी कम्पनियों को खान खोदने के विशेष अधिकार देने से इनकार न करेगा।"

न्यू यौर्क टाइम्स ने २९ मई, १९४९ को लिखा था :

"लड़ाई खतम होने के वाद से अफ़गानिस्तान 'अमरीकी वनता' जा रहा है।"

युद्ध के वाद से अफ़गानिस्तान के व्यापार में सबसे प्रमुख स्थान अमरीका का है। १९४६ में, न्यू यौर्क और व्वाज (इडाहो) की मौरिसन-क्नुडसन कम्पनी को वांध, पुल और सड़कें वनाने का ठेका दिया गया। १९४९ में अमरीकी भूगर्भशास्त्रियों के एक दल ने देश की जाँच-पड़ताल की। सोवियत समाचार पत्रों ने वार-वार आरोप लगाया है कि अमरीकावाले अफ़गानिस्तान में आर्थिक विकास के कार्यक्रमों के वहाने फ़ौजी सड़कें वना रहे हैं और सैनिक महत्व की दूसरी चीज़ों के आँकड़े जमा कर रहे हैं।

खुद अमरीकी अखवारों में वहुत सी ऐसी वातें छपी हैं जिनसे सोवियत पत्रों द्वारा लगाये गये आरोप सही सावित होते हैं। १७ दिसम्वर, १९४८ को **क्रिश्चियन साइंस मौनिटर** ने लिखा था :

"अफ़गानिस्तान में अमरीका की दिलचस्पी मुख्यतः राजनीतिक और सैनिक कारणों से वढ़ रही है।"

आगे उसने लिखा था :

"...अफ़गानिस्तान के हाल के इतिहास में सोवियत का कहीं सख्त दवाव नहीं मिलता...।

"इसके अलावा कोई संगठित कम्युनिस्ट पार्टी या उग्रवादी दल भी अभी अफ़गानिस्तान में नहीं पैदा हुआ है।...

"फिर भी, अफ़गान सरकार का खयाल है कि रूसी असर का मुक़ाबला करने के लिये उसे वाहरी मदद की आवश्यकता है।"

२६ मई, १९४९ को **न्यू यौर्क टाइम्स** ने समाचार प्रकाशित किया था :

"दो हफ़्ते तक जोरदार सवाल करने पर भी काबुल में सोवियत वालों की किसी असाधारण कार्रवाई का पता नहीं चला...।

"फिर भी, कुछ विदेशी कूटनीतिज्ञों ने इस बात का भय प्रकट किया है कि भविष्य में यह सम्भव है कि सोवियत संघ इस देश में दिलचस्पी लेना शुरू कर दे ...।"

पुराने जमाने में इसी तरह के कारण बता कर तीन बार अफ़ग़ानिस्तान पर अंग्रेज़ों ने चढ़ाई की थी। अफ़ग़ान सरकार अमरीकी चालों में फँसने के लिये पूरी तरह राज़ी मालूम पड़ती है। १८ नवम्बर, १९४९ को डी. कोर्ले स्मिथ ने **हिन्दू** में लिखा था :

"अफ़ग़ान सूचना मंत्री, रिश्त्या के सैयद मुहम्मद ख़ाँ ने मुझे बताया था कि उनका देश बोल्शेविज़्म का फ़ैलाव रोकने के लिये पश्चिम से सहयोग करने को तैयार है ...।"

अफ़ग़ानिस्तान में अमरीकी नीतियों के कारण यदि कहीं उसका सोवियत संघ या चीन से कोई झगड़ा हो गया, तो ज़ाहिर है कि भारत और पाकिस्तान के लिये उसका परिणाम गम्भीर होगा।

अमरीका कितना खुल कर इस क्षेत्र में हस्तक्षेप करने लगा है, इसका एक सबूत यह है कि उसने पाकिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान के सीमा के झगड़ों में भी टांग अड़ाना शुरू कर दिया है। मार्च १९५० में, अमरीका के घुमन्तू राजदूत जेसप ने दोनों देशों की यात्रा की। जून में, अमरीका ने इस सवाल के सम्बंध में एक नोट अफ़ग़ानिस्तान भेजा। दिसम्बर में, उसने ग़ैर-रस्मी तौर पर कुछ प्रस्ताव दोनों देशों के सामने रखे। जनवरी १९५१ में, वैदेशिक विभाग का एक विशेष प्रतिनिधि नोट के आधार पर आगे बातचीत चलाने के लिये काबुल गया। मार्च में सहायक विदेश मंत्री जॉर्ज मघी काबुल और कराँची तशरीफ़ ले गये।

कश्मीर के मामले को लेकर अमरीका जिस तरह भारत और पाकिस्तान को दबाता आ रहा है, ठीक उसी प्रकार सीमा के झगड़े को लेकर उसे पाकिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान को दबाने का मौक़ा मिल गया है।

अफ़ग़ानिस्तान के पूर्व की ओर. हिमालय के क्षेत्र में भारत की सीमा चीन को छूती है। इन दो देशों के आपसी सम्बंध पर एशिया का भविष्य निर्भर करता है। इसलिये, भारत-चीन सीमा पर अमरीकी कार्रवाइयों का सारे एशिया और पूरे संसार के लिये महत्व है।

अमरीका कई साल से सिंकियांग के प्रान्त में बहुत ज़्यादा दिलचस्पी दिखा रहा है। सुदूर-पूर्व के मामलों के अमरीकी विशेषज्ञ ओवेन लैटिमूर ने सिंकियांग को "दुनिया की धुरी" कहा है। लड़ाई के बाद से सिंकियांग जानेवाले अमरीकी पत्रकारों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। मार्च १९४९ में **न्यू यौर्क टाइम्स** के सम्वाददाता वाल्टर सुलिवेन ने उसमान बेटर नामक उस नामी डकैत से मुलाक़ात की जिसे चीन की जनवादी सरकार ने युद्ध अपराधी घोषित कर रखा था। उसमान ने उससे कहा कि वह चीनी आज़ाद फौज को सिंकियांग में घुसने नहीं देगा और अपनी ५,००० की फ़ौज लेकर उसका मुक़ाबला करेगा।

१९५०-'५१ में चीनी आज़ाद सेना ने उसमान और उसके संगी-साथियों को गिरफ़्तार कर लिया। उन पर मुक़दमा चला जिसमें उन पर १,१७५ हत्याओं और २३० डकैतियों का आरोप लगाया गया। उसमान ने अपने बयान में कहा कि अमरीकी कूटनीतिज्ञ उसकी मदद किया करते थे। चीनी अधिकारियों ने तिहुआ में अमरीकी सहायक-दूत और ब्रिटिश दूत के घरों की तलाशी ली। उससे इन साज़िशों का भण्डाफोड़ करने वाली और सामग्री भी मिल गयी।

इस सामग्री से पता चला कि अमरीकी सहायक दूत डगलस मैकियरनन अपना अधिकतर समय जासूसी करने और सिंकियांग में क्रान्तिकारी आन्दोलन पर हमले कराने में ख़र्च करता था। १९४७ में, उसने मंगोलिया जनतंत्र की सीमा पर झगड़े कराने के लिये कुछ झगड़े कराये थे और उनमें खुद भाग लिया था। जुलाई १९४८ में, उसने उसमान और एक दूसरे डकैत जानिम ख़ाँ को अपने जासूसों में भरती कर लिया था। सितम्बर १९४९ में, जब कि सिंकियांग की फ़ौजों ने कुओमिन्तांग के खिलाफ़ विद्रोह कर दिया था, पर नयी जनवादी सरकार अभी अपने को वहां जमा नहीं पायी थी, तो मैकियरनन

रेडियो के दो सेटों को लेकर पूर्वी सिंकियांग की ओर भाग गया। वहाँ वह उसमान और जानिम खाँ वग़ैरा से मिला। उसने उन्हें सोना और गोला-बारूद दिया तथा सिंकियांग में तोड़फोड़ का काम जारी रखने की हिदायत दी।

इसके बाद मैकियरनन के दल ने तिब्बत होकर भारत आने की चेष्टा की। २९ जुलाई, १९५० को अमरीकी वैदेशिक विभाग ने ऐलान किया कि मैकियरनन को १३ अप्रैल, १९५० को सीमा पार करते समय कुछ तिब्बती संतरियों ने गोली मार दी। कुछ सप्ताह बाद रायटर ने समाचार भेजा कि मैकियरनन के साथ दो श्वेत रूसी और मारे गये थे। उसने यह भी बताया कि तिब्बत सरकार ने एक विशेष दूत भेजकर संतरियों को आदेश दिया था कि एक अमरीकी दल सीमा पार करने वाला है और उस पर गोली न चलायी जाय। दूत तीन दिन देर से पहुँचा। उस दूत को और गोली चलाने वाले संतरियों को गिरफ़्तार कर लिया गया है।

अमरीकी राजदूत इत्यादि जिस बदहवासी के साथ तिहुआ से भागे, वह भी सन्देह पैदा करने वाली बात है, क्योंकि दूसरे चीनी शहरों में वे कुओमिन्तांग के पतन के बाद भी जमे हुए थे। तिहुआ वालों के भागने के लिये जो लम्बा-चौड़ा इन्तजाम किया गया था, उससे पता चलता है कि अमरीकी सरकार इन लोगों के सुरक्षित ढंग से भाग आने को बहुत महत्व देती थी। चीनियों द्वारा जाँच किये जाने पर यह सन्देह सच निकला।

मैकियरनन के घर की तलाशी ली गयी तो १५३ पेटी विस्फोटक पदार्थ, बहुत सा गोला-बारूद और जासूसी का काम करने के लिये विशेष तौर पर बना हुआ एक रेडियो सेट वहाँ से मिला।

दिसम्बर, १९५० में ब्रिटिश राजदूत जी० फ़ौक्स-होम्ज़ के घर की तलाशी ली गयी तो पता चला कि मैकियरनन के साथ उसकी साँठ-गाँठ थी। तलाशी में गोला-बारूद की दो बड़ी-बड़ी पेटियाँ, एक ख़बरें भेजने और ख़बरें नोट करने वाला रेडियो सेट, और कुछ कागज़ मिले जिनसे मैकियरनन और उसमान के सम्बंधों पर प्रकाश पड़ता था। फ़ौक्स-होम्ज़ ने अमरीकी दूतावास की जासूसी की कुछ रिपोर्टें छिपा दी थीं। सिंकियांग में तैनात कुओमिन्तांग की ५ वीं घुड़सवार फ़ौज के कमांडर मा चेंग-सियांग और

चार अन्य युद्ध अपराधियों को भारत भाग जाने के लिये पासपोर्ट उसने दिया था।

इन समाचारों से ऐसा मालूम होता है कि सिंकियांग में अमरीकियों की ये सरगर्मियाँ भारत सरकार की रज़ामन्दी के बिना नहीं हो सकती थीं। इनसे यह बात भी साफ़ हो जाती है कि हाल में कश्मीर में बहुत से कज़ाक भगोड़े किस तरह आ गये हैं और उनके कारण भारत और चीन के बीच बदमज़गी पैदा हो गयी है।

सिंकियांग में अमरीकी सरगर्मियों से कश्मीर के सवाल पर भी रोशनी पड़ती है और यह मालूम हो जाता है कि आख़िर वहां अमरीका क्यों इतने ज़ोरों से दिलचस्पी ले रहा है। सिंकियांग में किसी भी तरह की कार्रवाई करने के लिये कश्मीर एक केन्द्र के रूप में काम देता है।

नेपाल

दूसरे महायुद्ध से एक सौ साल पहले तक नेपाल का बाहरी दुनिया से कोई सम्बंध न था। यह अलगाव अमरीका ने तोड़ा। २४ मई, १९४९ को **न्यू यॉर्क टाइम्स** ने सम्पादकीय लेख में लिखा था :

> "युद्ध के बाद अमरीका का असर नेपाल के राजनीतिक दुर्ग में घुसने में कामयाब हुआ और अमरीका की कोशिशों का वहाँ स्वागत किया गया।"

सितम्बर, १९४५ में नयी दिल्ली स्थित अमरीका के विदेशी आर्थिक व्यवस्था विभाग के कुछ विशेषज्ञ नेपाल गये। कहा गया कि ये लोग "नेपाल के आर्थिक विकास और अमरीका से सीधे-सीधे व्यापार करने की सम्भावना पर ग़ैर-रस्मी तौर पर बातचीत करने" के लिये वहाँ गये हैं। लगभग इसी समय लन्दन स्थित नेपाली राजदूत वाशिंगटन गया और वहाँ अमरीकी राष्ट्रपति और दूसरे बड़े अमरीकी अधिकारियों से मिला। जुलाई और अगस्त १९४६ में, कमांडिंग जनरल बाबर शमशेर जंग बहादुर राना के नेतृत्व में एक नेपाली सद्भावना-मण्डल अमरीका की यात्रा को गया। यह मण्डल अमरीका के वैदेशिक एवं युद्ध विभागों का मेहमान था। नवम्बर, १९४६ में नयी दिल्ली स्थित अमरीकी दूत जौर्ज मेरेल नेपाल के प्रधान मंत्री को एक

अमरीकी पदक से विभूषित करने के लिये काठमाण्डू गया। अप्रैल १९४७ में, सात आदमियों का एक अमरीकी कूटनीतिक मिशन जोसेफ़ सी० सैटर्थवेट के नेतृत्व में मित्रता के समझौते पर हस्ताक्षर करने और विभिन्न आर्थिक समस्याओं पर विचार करने के लिये नेपाल गया। सैटर्थवेट ने नेपाल के राजा को ट्रूमन का एक खत दिया जिसमें नेपाल की स्वतंत्रता स्वीकार की गयी थी।

फ़रवरी १९४८ में, नेपाल और अमरीका ने राजदूतों ही अदला-बदली करने के बारे में समझौता किया। मई में राजदूत हेनरी ग्रेडी अपनी पत्नी और पाँच कर्मचारियों के साथ राजा के सामने अपना प्रमाण-पत्र पेश करने के लिये काठमाण्डू गये। ग्रेडी के उत्तराधिकारी लौय हेण्डरसन ने भी कई बार काठमाण्डू की यात्रा की।

१८ फ़रवरी, १९५० को लन्दन के **टाइम्स** ने यह समाचार छापा कि नेपाल सरकार ने सड़कें बनाने, बिजली के स्टेशन बनाने, बिना तार के तार का प्रबंध करने, खानें खोदने और सिंचाई की योजनाएँ चालू करने के लिये ब्रिटेन और अमरीका दोनों से मदद मांगी है। ३१ जुलाई, १९५० को **न्यू यौर्क टाइम्स** ने समाचार छापा कि राना सरकार किसी भारतीय, स्विस या अमरीकी कम्पनी को खनिज पदार्थों की जाँच-पड़ताल का काम देने के प्रश्न पर विचार कर रही है।

इस प्रकार रानाशाही बहुत तेजी के साथ अंग्रेज़-अमरीकी गुट में मिलती जा रही थी। प्रोफ़ेसर दिल्लीरमण रेग्मी ने १९५० में ही कहा था कि नेपाल का महाराजा निकट भविष्य में एक तीसरे महायुद्ध की आशा लगाए हुए है और उसके विचार में इस युद्ध में नेपाल और भारत अंग्रेज़-अमरीकी गुट का साथ देंगे।

७ नवम्बर, १९५० को **हिन्दू** ने समाचार भेजा कि राना सरकार के विरोधियों का कहना है कि रानाओं ने "ब्रिटेन के छोटे साझीदार—यानी भारत के सहयोग से" नेपाल को "अंग्रेज़-अमरीकी गुट का अड्डा" बना दिया है। नेपाल में अमरीकी यात्री बड़ी संख्या में भर आये हैं। ऊपर से कहने को तो ये लोग पक्षी, पौधे और फल-फूल जमा करने आये हैं; पर अन्दर-अन्दर वे कुछ और ही खिचड़ी पका रहे हैं। रानाशाही के विरोधियों का कहना था कि ये आसार अच्छे नहीं हैं।

अक्तूबर को एसोसियेटेड प्रेस ऑफ़ अमरीका ने वाशिंगटन से समाचार भेजा कि अमरीका ने जो तिब्बत की मदद करने में सुस्ती दिखाई है, वह सिर्फ़ इसीलिये कि उसके खयाल में चीनियों के तिब्बत की ओर बढ़ने की अभी कोई सम्भावना नहीं है। उसने लिखा :

"अमरीकी कर्मचारियों ने आज बताया कि उन्हें ऐसा लगता है कि चीनी कम्युनिस्टों की तिब्बत पर चढ़ाई करने की बातें कोरी गीदड़-भभकियाँ हैं।

"आक्रमण असम्भव तो नहीं है, परन्तु तिब्बत के विशेषज्ञों की राय है कि आने वाले महीनों में बरफ़ीली हवाएँ और बर्फ़ से ढँके हुए पहाड़ी दर्रे कोई बड़े पैमाने पर फ़ौजी कार्रवाई करने की आज्ञा न देंगे।..."

३० अक्तूबर, १९५० को नयी दिल्ली में यह खबर पक्की हो गयी कि तिब्बत ने भारत से मदद तो मांगी है, पर यह नहीं बताया है कि वह किस तरह की मदद चाहता है। जब भारत से कोई उत्तर नहीं गया तो ७ नवम्बर को तिब्बत के अधिकारियों ने सीधे संयुक्त राष्ट्र संघ से मदद मांगी।

इस बीच, चीनी आज़ाद फ़ौज ने रौबर्ट वेब्स्टर फ़ोर्ड नामक एक अंग्रेज रेडियो चालक को गिरफ़्तार कर लिया और उस पर आरोप लगाया कि वह गुप्त फौजी ख़बरें जमा करता था और उसने एक बड़े चीनी अफ़सर को, जो तिब्बत वालों से बातचीत करने गया था, ज़हर देकर मार डाला था। फ़ोर्ड ने यह स्वीकार किया कि उसका लौवेल टौमस से बराबर सम्पर्क था।

एक और समाचार के अनुसार :

"अक्तूबर, १९५० में दलाई लामा की सरकार कुछ अमरीकी नागरिकों के इस सुझाव पर गम्भीरता से विचार कर रही थी कि छोटे दलाई लामा को हवाई जहाज़ से भारत ले चला जाय..."

२७ फ़रवरी, १९५१ को अमरीकी प्रतिनिधि सभा की विदेश विभाग उपसमिति के सामने सहायक विदेश मंत्री डीन रस्क की गवाही थी। उसके दौरान में प्रतिनिधि सभा के सदस्य डैनियल जे. फ्लड और रस्क के बीच यह बातचीत हुई :

“ **मि. फ्लड** : क्या आप तिब्बत की मौजूदा परिस्थिति पर कुछ कहना चाहेंगे—विशेष कर लाल चीनियों के उस हमले को ध्यान में रखते हुए जो अब ठण्डा पड़ गया है ?

“ **मि. रस्क** : तिब्बत से सूचना मंगाना हमारे लिये बड़ी कठिन समस्या बन गया है। तिब्बत के लोग अमरीकियों का वहाँ जाना पसन्द नहीं करते और पिछले कई वर्षों में लौवेल टौमस और उसके पुत्र को छोड़ कर और कोई अमरीकी वहाँ नहीं जा सका है। हमने कुछ लोगों को वहाँ भेजने की कोशिश की थी, पर कामयाब नहीं हुए। इसलिये हमें सूचना घूम-फिर कर हिन्दुस्तानियों के ज़रिये या और इसी तरह के उपायों से—अप्रत्यक्ष ढंग से मिलती है ...।

“ **मि. फ्लड** : भारत तो आपके ही क्षेत्र में है न ?

“ **मि. रस्क** : अध्यक्ष महोदय, मैं समझता हूँ, आगे की बातचीत लिखी नहीं जानी चाहिये।

“ (आगे की बातचीत लिखी नहीं गयी।) ”

इससे मालूम हुआ कि एक तो लौवेल टौमस कोरा पत्रकार नहीं था, बल्कि जासूस था; दूसरे, अमरीका के वैदेशिक विभाग को भारत सरकार से खबरें मिला करती थीं; तीसरे, मालूम होता है कि तिब्बत के मामले पर दोनों सरकारों के बीच कोई गुप्त समझौता हुआ था।

१४ मार्च, १९५१ को हिन्दू ने काठमाण्डू से आया हुआ यह समाचार प्रकाशित किया कि नेपाल और भारत का एक संयुक्त सैनिक मिशन कोलोनल काटोच के नेतृत्व में तिब्बत को रवाना हो गया है। पाठकों को याद होगा कि भारतीय सेना के इस अफ़सर काटोच को अमरीका में ट्रेनिंग मिली थी।

२७ मई, १९५१ को चीन और तिब्बत में समझौता हो गया जिसके अनुसार चीन के जनवादी राज्य के अन्दर तिब्बत को स्वायत्त शासन का हक़ दे दिया गया और इस प्रकार तिब्बत का सवाल हल हो गया। परन्तु अमरीकी हस्तक्षेप वहां जारी रहा।

१७ जुलाई, १९५१ को एसोसियेटेड प्रेस ऑफ़ अमरीका ने लन्दन से समाचार भेजा :

> "पश्चिमी कूटनीतिज्ञों ने आज बताया कि छोटे दलाई लामा ने अमरीका के पास सन्देश भेजा है कि वह लाल चीन के साथ अपने देश की नयी संधि को तोड़ देने की बात सोच रहा है।"

कहा गया कि दलाई लामा का यह सन्देश किसी तीसरे आदमी के ज़रिये भारत में अमरीकी राजदूत लौय हेण्डरसन के पास पहुँचा है।

दलाई लामा का बड़ा भाई ताक त्सेर लामा ८ जुलाई, १९५१ को न्यू यौर्क पहुँचा। २ अगस्त, १९५१ को **न्यू यौर्क टाइम्स** ने समाचार छापा कि वह एक मित्र से मिलने, "पश्चिमी ज्ञान" प्राप्त करने और स्वास्थ्य-लाभ करने अमरीका आया है। लामा का सारा ख़र्चा "स्वतंत्र एशिया कमिटी" ने दिया। इस समिति के अध्यक्ष अमरीका के जासूस विभाग के पुराने अफ़सर जौर्ज एच. ग्रीन जूनियर थे।

तेरहवां अध्याय

भारत में अमरीकी जासूस

अमरीकी कूटनीति का बायां हाथ जासूसी है, तो दाहिना हाथ प्रचार। जासूसी से किसी देश की ताक़त और कमजोरियों का पता चलता है और अपनी नीति निश्चय करने में सहायता मिलती है। प्रचार के द्वारा उस नीति को जनता के बीच मनवाया जाता है।

जासूसी चीज़ ही ऐसी होती है कि उस पर रहस्य का पर्दा पड़ा रहता है। फिर भी इतनी सामग्री जरूर प्रकाशित हो चुकी है जिससे भारत में अमरीकी जासूसी के विस्तार तथा उसके उद्देश्यों का पता चल जाय।

अमरीका की पहली बाज़ाब्ता, ग़ैर-फ़ौजी गुप्तचर संस्था १९४१ में "आफ़िस ऑफ़ दि कोआरडिनेटर ऑफ़ इनफ़ौर्मेशन" (सूचना-केन्द्रीकरण कार्यालय) के नाम से वैदेशिक विभाग के मातहत क़ायम हुई। १९४२ में, अमरीका के लड़ाई में शामिल हो जाने के बाद, इसकी जगह एक स्वतंत्र विभाग "आफ़िस ऑफ़ स्ट्रैटेजिक सर्विसेज़ (ओ० एस० एस०)" के नाम से खोला गया। १९४५ में ओ० एस० एस० भंग कर दिया गया और उसकी शाखाएँ वैदेशिक एवं दूसरे विभागों के मातहत कर दी गयीं। सरकार के तमाम महकमों की जासूसी की कार्रवाइयों का एक केन्द्र से संचालन करने के लिये, १९४६ में एक केन्द्रीय जासूसी विभाग (सेन्ट्रल इन्टेलीजेन्स ग्रुप) स्थापित किया गया। १९४८ में इस संगठन के स्थान पर एक और भी बड़ी संस्था सेन्ट्रल इन्टेलीजेन्स एजेंसी (सी० आई० ए०) के नाम से बनायी गयी। यह एजेंसी सीधे राष्ट्रीय सुरक्षा समिति और राष्ट्रपति के मातहत काम करती थी। राष्ट्रीय सुरक्षा क़ानून में, जिसके मातहत इस एजेंसी की स्थापना हुई है, उसके नीचे लिखे उद्देश्य बताये गये हैं: "विभिन्न सरकारी महकमों और संस्थाओं की गुप्तचर कार्रवाइयों का एक

केन्द्र से संचालन करना" और "ऐसे अन्य काम करना...जो राष्ट्रीय सुरक्षा समिति की राय में केन्द्रीय ढंग से ज़्यादा अच्छी तरह किये जा सकते हैं।" येल विश्वाविद्यालय के प्रोफ़ेसर शरमेन कैन्ट ने, जो पहले ओ० एस० एस० के एक बड़े अफ़सर थे, जासूस विभाग के अनेक बड़े अफ़सरों की मदद से एक किताब लिखी है : "स्ट्रैटेजिक इन्टेलीजेन्स फ़ौर अमरीकन वर्ल्ड पौलिसी" (अमरीकी विश्व नीति के लिये सामरिक सूचना व्यवस्था)। इसमें कैन्ट ने जासूसी करने वाले सरकारी महकमों में ये नाम गिनाये हैं : विदेश विभाग, रक्षा विभाग, व्यापार विभाग, कृषि विभाग, गृह विभाग, अर्थ विभाग, न्याय विभाग, चुंगी कमीशन, इत्यादि। दूसरे शब्दों में विदेशों से सम्बंध रखने वाला प्रत्येक सरकारी विभाग जासूसी करता है। कैन्ट का कहना है कि अक्सर सब से अच्छी जासूसी वह विभाग कर सकता है जिस पर सबसे कम इसका शक हो सकता है।

सेन्ट्रल इन्टेलीजेन्स एजेंसी (सी० आई० ए०), केन्द्रीय संचालक की हैसियत से इस बात का ख़याल रखती है कि हरेक महकमा अपने पूरे क्षेत्र से लाभ उठाये। यदि कोई विभाग किसी विशेष प्रकार की सूचना में दिलचस्पी नहीं दिखाता, तो एजेंसी उसे मजबूर कर सकती है कि अपने विभाग के लिये न सही, तो अन्य कामों के लिये उस प्रकार की सूचना भी वह एकत्रित करे। सी. आई. ए. इसका भी ख़याल रखती है कि विभिन्न विभागों में जासूसी का काम करने के लिये उचित ढंग के आदमी छाँट कर नियुक्त किये जायें।

सी. आई. ए. कई विदेशी जासूस विभागों के सहयोग से काम करती है और एक लेखक के शब्दों में "अंग्रेज जासूसों से भी ज़्यादा हिम्मत और निडरता से काम लेती है।" १९४९ तक इस एजेंसी का खर्च ८ करोड़ डालर हो गया था और उनके मातहत ६,६१५ पेशेवर जासूस काम करते थे।

डब्ल्यू० पार्क आर्मस्ट्रौंग ने, जो वैदेशिक विभाग में जासूसी के कामों की देखरेख करते हैं, २६ फ़रवरी, १९५१ को अमरीकी प्रतिनिधि सभा की एक उपसमिति के सामने बयान देते हुए ऐलान किया था कि अमरीका का जासूस विभाग बहुत ही कार्य-कुशल है और दूसरे देशों के गुप्तचर विभागों से श्रेष्ठ है। उपसमिति के एक सदस्य ने पूछा कि अमरीका

के जासूस विभाग को सबसे अधिक गुप्त सूचना कहाँ से मिलती है। मि. आर्मस्ट्रौंग ने उसका यह उत्तर दिया :

"अधिकतर गुप्त सूचनाएँ विदेशों में अपने दूतों और प्रतिनिधियों से हमें मिलती हैं...

"इसके अतिरिक्त, फौजी सूचना व्यवस्था के द्वारा, और मित्र सरकारों से सूचना का विनिमय करके...भी हमें सूचना मिलती है।"

राजदूतों को अपने राजनीतिक खर्चों के लिये बहुत बड़ी-बड़ी रक़में दी जाती हैं। समझा जाता है कि ये रक़में अतिथि सत्कार और दावतों वग़ैरा के लिये होती हैं और उनका कोई हिसाब नहीं रखा जाता। वैदेशिक विभाग ने प्रतिनिधि सभा की उपसमिति को बताया कि इन रक़मों को प्रायः जासूसी पर पर खर्च किया जाता है। मिसाल के लिये, अबीसीनिया की राजधानी अदिस अबाबा में तैनात अमरीकी राजदूत की इस रिपोर्ट को उपसमिति के सामने पेश किया गया :

"दूतावास में होनेवाले समारोहों के अवसर पर अबीसीनिया से तथा अन्य सूत्रों से बहुत सी बहुमूल्य जानकारी बिना किसी कष्ट के प्राप्त की गयी है। दूतवासों में दावतों के अवसर पर अबीसीनिया के अफ़सरों, व्यापारियों, और कूटनीतिज्ञों के साथ मेरी और दूतावास के सलाहकार की अनेक बार बहुत ही महत्वपूर्ण बातचीत हुई है।

"मैंने पता लगाया है कि मेरी रिपोर्टों के लिए जितनी जानकारी की जरूरत पड़ती है, उसका ठीक आधा भाग उन लोगों से प्राप्त हो जाता है, जिनसे मेरी मुलाक़ात इन दावतों में होती है...।

"मेरे घर पर (या दूसरे स्थानों पर) होने वाली दावतों या समारोहों में से शायद ही कोई ऐसा रहा हो जिसका लाभ मैंने राजनीतिक और आर्थिक जानकारी प्राप्त करने के लिए न उठाया हो... बहुधा मेरा यह अनुभव रहा है कि आवश्यक जानकारी प्राप्त करने का सबसे अच्छा, और वास्तव में एकमात्र साधन, यही है कि उस समस्या के बारे में सबसे अच्छी जानकारी रखने वाले व्यक्ति को दोपहर या शाम के खाने के लिये बुला लूँ।"

आर्मस्ट्रौंग ने यह भी वताया कि गुप्तचर विभाग केवल उन्हीं लोगों का प्रयोग नहीं करता जिनको जासूसी के काम का अभ्यास होता है, वल्कि वह वैज्ञानिकों और दूसरे प्रकार के विशेषज्ञों का भी इस्तेमाल करता है:

"हम इस काम के लिए लोगों को दो तरह से चुनते हैं। एक तो हम ऐसे लोगों को चुनते हैं जो या तो किसी खास विषय के वारे में विशेष जानकारी रखते हैं—अर्थात जिनको किसी देश या क्षेत्र के वारे में, विशेष रूप से, उसके राजनीतिक इतिहास, वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति, संस्कृति और मनोवृत्ति के वारे में विस्तृत और गहरा ज्ञान होता है—या जिन्हें किसी खास व्यवसाय या पेशे की ट्रेनिंग मिली हुई होती है, जैसे वे लोग जो इस्पात के उद्योग के, या यातायात के अथवा पेट्रोल उद्योग के विशेषज्ञ हैं...दूसरे, वे लोग चुने जाते हैं जो दूसरे लोगों के साथ व्यवहार करने में वहुत कुशल होते हैं और दूसरों की सहायता से ज़्यादा से ज़्यादा जानकारी प्राप्त करना और सम्पर्क बढ़ाना जानते हैं और जिन्हें दूसरों को खुश रखने की कला मालूम है।"

शरमेन कैन्ट ने अपनी पुस्तक में वताया है कि अमरीका के गुप्तचर विभाग का उद्देश्य दूसरे देशों के वारे में पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करना है। अमरीका की गुप्तचर व्यवस्था दूसरे देशों की सैनिक शक्ति में ही नहीं, वल्कि उनकी अर्थ-व्यवस्था, उनकी जन संख्या, उनके संगठनों, उनकी नीति तथा वहां के प्रमुख व्यक्तियों में भी दिलचस्पी रखती है, और यह सारी सूचना वह केवल उन देशों के वारे में ही नहीं जमा नहीं करती जिनके शत्रु होने का अन्देशा होता है, वल्कि उन देशों के वारे में भी जमा करती है जो तटस्थ या मित्र देश हैं।

कैन्ट ने भी गुप्त सूचना जमा करनेवालों की सूची में सवसे पहला नाम वैदेशिक विभाग के अफ़सरों का रखा है। इसके वाद उसकी सूची में "सार्वजनिक जीवन में प्रमुख अन्य लोगों का, जैसे विशेष कमीशनों के सदस्यों, अन्तरराष्ट्रीय कांफ्रेन्सों में अमरीकी प्रतिनिधियों, और विदेशों का भ्रमण करने वाले कांग्रेस के सदयों का" तथा "लेखकों, पत्रकारों और जंगली जानवरों के शिकारियों का" नाम आता है। लेखक ने इस सम्वंध में ऊँची शिक्षा और अनुसंधान की संस्थाओं को वहुत ही महत्वपूर्ण वताया है और कहा है कि

"महत्वपूर्ण जानकारी जमा करने में ये संस्थाएँ हमारे लिये सबसे बहुमूल्य साधनों का काम देती हैं।"

भारत में अमरीकी जासूसों का जाल

अमरीकी गुप्तचर व्यवस्था का साधारण वर्णन ऊपर पढ़ने और भारत का सामरिक महत्व ध्यान में रखने पर यह बात तो अपने आप समझ में आ जानी चाहिये कि भारत में अवश्य ही अमरीकी जासूसों का बड़ा भारी जाल बिछा होगा।

१५ दिसम्बर, १९४८ से १५ दिसम्बर, १९५१ तक के दौरान में अमरीका के राजदूतावास और उप-दूतावासों के कर्मचारियों की संख्या हिन्दुस्तान में ५६ से बढ़ कर १०२ और पाकिस्तान में २२ से बढ़ कर ४६ हो गयी। सन् १९५१ के पहले ६ महीनों में अमरीकी सरकार के सूचना तथा शिक्षा सम्बंधी विनिमय कार्यक्रम के मातहत हिन्दुस्तान में ४९ तथा पाकिस्तान में २० अमरीकी कर्मचारी नियुक्त थे और हिन्दुस्तान में ३९७ और पाकिस्तान में १०३ स्थानीय नागरिक नौकर थे। इसके अलावा पारस्परिक सुरक्षा कार्यक्रम के आधीन अभी हाल में यहां अनेक "टेकनिकल (तकनीकी)" विशेषज्ञ भी भेजे गये हैं। २० जनवरी, १९५२ को भारतीय समाचार पत्रों ने ४३ ऐसे विशेषज्ञों और अफ़सरों के नामों की एक सूची छापी थी।

इन अफ़सरों के अलावा हज़ारों ऐसे अमरीकी हैं जो स्थायी रूप से हिन्दुस्तान में रहते हैं या यहाँ भ्रमण के लिए आते हैं। २४ फ़रवरी, १९५० को उप-प्रधान मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल ने पार्लमेंट में बताया था कि भारत में ३,४९७ अमरीकी रह रहे हैं। सितम्बर में उनकी संख्या बढ़ कर ४,१५७ हो गयी। भारत आनेवाले अमरीकी यात्रियों की संख्या और भी तेज़ी से बढ़ी। १३ दिसम्बर, १९४९ को सहायक विदेश मंत्री जौर्ज मघी ने बताया कि १९४९ के पहले दस महीनों में २,००० अमरीकी नागरिकों को भारत आने के लिये अनुमति-पत्र (वीसा) दिये गये थे। १९५० में भारत ने ३,८९२ अमरीकी यात्रियों को वीसा दिये। पूरे योरप से आने वाले यत्रियों की संख्या इससे कम थी।

परन्तु संख्या से अधिक महत्वपूर्ण इन अमरीकियों को मिले हुए विशेष अधिकार और विशेष सुविधाएँ हैं।

अमरीकी राजदूत के साथ लगे हुए कर्मचारी साधारण ढंग के राजनीतिक प्रतिनिधियों से विल्कुल भिन्न हैं। अमरीकी सहायता पाने को हमारी सरकार इतनी वेचैन थी कि उसने अमरीकी प्रतिनिधियों को ऐसे अधिकार देना स्वीकार कर लिया जिन्हें साधारणतया कोई सरकार न देती। अमरीकी राजदूत के तरह-तरह के सहायक होते हैं। कोई सैनिक सहायक है तो कोई मजदूर सहायक और कोई कृषि सहायक; कोई सूचना अफ़सर है तो कोई श्रम सूचना अफ़सर; कोई सांस्कृतिक प्रतिनिधि है तो कोई समाज सुधार प्रतिनिधि। ये लोग वैदेशिक विभाग के अतिरिक्त भारत सरकार के दूसरे विभागों और ग़ैर-सरकारी व्यक्तियों और संगठनों से भी वरावर सम्पर्क रखते हैं।

राजदूत और उसके सहायकों के सारे अधिकार सूचना अफ़सरों और पारस्परिक सुरक्षा कार्यक्रम के मातहत आये हुए विशेषज्ञों को भी मिले हुए हैं। उन पर हमारे देश के क़ानून लागू नहीं होते; उन पर हमारी अदालतों में मुक़दमा नहीं चलाया जा सकता। उनके ज़रिये राजधानी तथा मुख्य वन्दरगाहों से लेकर प्रदेशों तक अमरीका की ओर से सव कुछ सुनने वालों, सव कुछ नोट करने वालों का जाल हमारे देश में फैला हुआ है। ये लोग प्रादेशिक सरकारों के अधिकारियों से मिलते हैं; हजारों पत्रकारों, वुद्धिजीवियों और व्यापारियों से दोस्ती रखते हैं। पारस्परिक सुरक्षा कार्यक्रम के मातहत आये हुए लोग अभी पचास कम्युनिटी डेवलेपमेण्ट प्रोजेक्टों (सामुदायिक विकास योजनाओं) की देखरेख कर रहे हैं जिनके नीचे कुल १ करोड़ की आवादी आ जाती है। इसकी संख्या आगे और वढ़ने ही वाली है।

भारत में स्थायी रूप से रहने वाले अमरीकियों में २,००० पादरी हैं जिनका लगभग दस लाख ईसाइयों और करोड़ों ग़ैर-ईसाइयों से सम्पर्क है। फिर व्यापारी हैं जिनके सभी वड़े शहरों में दफ़्तर और छोटे शहरों में शाखाएँ हैं। देश का एक भी ऐसा कोना न मिलेगा जहाँ अमरीकी पेट्रोल कम्पनियों के डिपो न हों। पेट्रोल कम्पनियाँ न सिर्फ़ हजारों हिन्दुस्तानियों को नौकर रखती हैं, वल्कि स्थानीय व्यापारियों और अखवारों पर काफी असर डालती हैं।

यहाँ जम कर रहने वालों के अलावा कुछ समय के लिये आने वालों की भी संख्या काफ़ी वड़ी होती है। उसमें कुछ लोग पत्रकार की हैसियत से

आते हैं तो कुछ विद्यार्थी के रूप में। और वे देश भर का चक्कर लगाते घूमते हैं। सीमा प्रदेश के नाजुक इलाक़े भी उनकी कृपा दृष्टि से नहीं बच पाते।

इससे ज़ाहिर है कि हिन्दुस्तान या पाकिस्तान में कोई महत्वपूर्ण बात ऐसी नहीं हो सकती जिसकी सूचना किसी न किसी अमरीकी को न मिल जाय। अमरीकी जासूस विभाग के बड़े से बड़े अफ़सर खुद जितना मान चुके हैं, उसके बाद कोई अमरीकी इस सन्देह से परे नहीं माना जा सकता कि वह हमारे मुल्क में जासूसी करने नहीं आया है।

३० अक्तूबर, १९५१ को फुलब्राइट योजना (विद्यार्थियों की अदला-बदली की योजना) के मातहत आया हुआ एक विद्यार्थी, फ़िलिप हौकिंस हिमालय की तराई में दूर मुक्तेश्वर नामक स्थान पर हानिकारक कीटाणुओं का अध्ययन करते हुए मर गया। प्रश्न यह है कि क्या हौकिंस केवल कीड़ों-मकोड़ों में ही दिलचस्पी रखता था, या सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हिमालय की तराई में किसी और खोजबीन में लगा हुआ था। अमरीकी राजदूतावास का कर्मचारी रौबर्ट हैन्कौक जनवरी १९५२ में, अमृतसर के नजदीक एक मोटर दुर्घटना में मारा गया। क्या वजह थी कि वह मोटर पर नयी दिल्ली से पाकिस्तान के लिये रवाना हुआ था, जब कि वह यह अच्छी तरह जानता था कि सड़क के रास्ते पर हज़ार तरह के ख़तरे हैं और दोनों तरफ़ की फ़ौजें सरहद पर डटी हुई हैं। परन्तु अमरीका के जासूसों के बारे में जानने के लिये कोरी अटकल-बाज़ी की ही ज़रूरत नहीं है। काफ़ी ठोस सबूत भी मौजूद हैं।

युद्ध के दिनों के कारनामे

भारत में अमरीका की ओर से जासूसी की नींव युद्ध के दौरान में डाल दी गयी थी। उस ज़माने के बारे में, ओ. एस. एस. के एक गुमनाम अफ़सर ने **एटलान्टिक मंथली** नामक पत्रिका में अप्रैल १९४८ में लिखा था :

> "... सुदूर पूर्व और दक्षिण-पूर्वी एशिया में, अमरीका ने उस क्षेत्र में प्रवेश किया जो पहले लगभग शुद्ध ब्रिटिश और डच इलाक़ा था। इसका परिणाम बहुत शीघ्र और जोरों के साथ दिखायी दिया। इसके साथ-साथ, वहाँ पूर्णतः स्वतंत्र अमरीकी गुप्तचर व्यवस्था की भी नींव पड़ गयी।"

कोलोनल लुई जौन्सन, जो १९४२ में अमरीकी तकनीकी मिशन के प्रमुख की हैसियत से भारत आये थे और जो बाद में यहाँ राष्ट्रपति रूजवेल्ट के व्यक्तिगत दूत नियुक्त किये गये, अमरीकी गुप्तचर विभाग के साथ घनिष्ठ सम्बंध रखते थे। १९५१ में उन्होंने यह बात खुलेआम स्वीकार की थी (इसी पुस्तक का दूसरा अध्याय देखिये)। परन्तु आश्चर्य की बात है कि किसी हिन्दुस्तानी अखबार ने उनका बयान नहीं छापा।

कोलोनल जौन्सन के बाद भारत में मि. विलियम फ़िलिप्स, अमरीकी राष्ट्रपति के प्रतिनिधि नियुक्त किये गये। वह इसके पहले लन्दन में ओ० एस० एस० के प्रमुख थे।

भारत में अमरीकी फ़ौज के आने के साथ-साथ फ़ौजी गुप्तचर विभाग के अफ़सर और ओ० एस० एस० के कर्मचारी भी बड़ी संख्या में भारत आये। १९४१ की गरमियों में अमरीका की केन्द्रीय फ़ौजी कमान के फ़ौजी गुप्तचर विभाग ने अपने दो अफ़सरों, लेफ्टिनेंट कर्नल डब्ल्यू० ड्रेपर और लेफ्टिनेंट वी० एच० सूत्रो को ब्रिटिश फ़ौजों के साथ दर्शकों की हैसियत से काम करने के लिये यहां भेजा था। ओ० एस० एस० का दक्षिण-पूर्वी एशियाई कार्यालय लंका में कैंडी नामक स्थान पर था और एक गुप्त ट्रेनिंग कैम्प त्रिंकोमाली से १५ मील की दूरी पर था। ओ० एस० एस० का कलकत्ता दफ़्तर टालीगंज के ओ-हाउस में था। ओ० एस० एस० का एक दस्ता और १५ ट्रेनिंग कैम्प आसाम के जंगलों में फैला हुआ था। बड़े अफ़सर सब अमरीकी थे, पर साथ ही अनेक हिन्दुस्तानी भी इसमें भरती किये गये थे।

अमरीका के वैदेशिक विभाग ने गुप्तचर विभाग की रिपोर्टों की एक सूची प्रकाशित की है। उसमें १६ रिपोर्टें ऐसी हैं जिनका सम्बंध भारत अथवा दक्षिण-पूर्वी एशिया में रहने वाले भारतीयों से था। इन रिपोर्टों को ओ० एस० एस० के "खोज और विश्लेषण" विभाग ने तैयार किया था। उनमें भारत के विभिन्न इलाक़ों की भी रिपोर्टें थीं और अलग-अलग राजनीतिक पार्टियों की भी। सूची के कोड (सांकेतिक) नम्बरों से पता चलता है कि ऐसी क़रीब सौ रिपोर्टें और हज़ारों मेमोरेण्डम तैयार किये गये थे। ज़ाहिर है कि इन दस्तावेज़ों के लिये काफ़ी जानकारी भारत में जमा की गयी होगी।

युद्धोत्तर कालीन कार्रवाइयाँ : राजदूतों के कारनामे

आर्मस्ट्रॉंग और कैन्ट ने अपनी किताब में जैसा बताया है कि सबसे अच्छी जासूसी राजदूत लोग और उनके सहायक करते हैं। नयी दिल्ली के अमरीकी राजदूतावास का एक कर्मचारी, कौनरेड वेक्कर पहले गुप्तचर विभाग में काम करता था। डॉरोथी स्पेंसर नाम की एक महिला कर्मचारी पहले ओ० एस० एस० के खोज और विश्लेषण विभाग में काम कर चुकी है। कराँची में अमरीकी राजदूतावास का तीसरा सेक्रेटरी डेविड टेलर स्नाइडर १९४९ में अमरीकी हवाई फ़ौज का गुप्तचर था।

भारत और पाकिस्तान में अमरीकी राजदूतावासों के कर्मचारियों की संख्या बहुत तेज़ी से बढ़ती जा रही है। लाज़िमी है कि इसके साथ उनकी गुप्त कार्रवाइयाँ भी बढ़ रही होंगी। १९५२ में कुछ नये पदों पर लोगों को नियुक्त करने के लिये, वैदेशिक विभाग ने अमरीकी कांग्रेस के सामने यह कारण पेश किया था :

स्थान	पद	उद्देश्य
नयी दिल्ली	सहायक आर्थिक अफ़सर	भारतीय अर्थ-व्यवस्था के उन बहुत पेचीदा और विस्तृत परिवर्तनों पर रिपोर्ट तैयार करने में मदद देना जिनमें अमरीका की दिलचस्पी है।
	राजनीतिक स्टेनोग्राफ़र	राजनीतिक विभाग में रिपोर्ट तैयार करने का काम बढ़ गया है और स्टेनोग्राफ़र की आवश्यकता है।
करांची	मज़दूर रिपोर्टिंग अफ़सर	आजकल इस पद पर कोई आदमी नियुक्त नहीं है। दूतावास की और सरकार के मज़दूर विभाग की राय है कि इस नवजात देश में मज़दूरों के सम्बंध में जो घटनाएँ हों, उनकी रिपोर्ट तैयार करने के लिये एक अलग अफ़सर होना चाहिये।

स्थान	पद	उद्देश्य
बम्बई	राजनीतिक स्टेनोग्राफ़र	राजनीतिक और आर्थिक विभाग का गुप्त काम बढ़ गया है जिसके कारण एक कर्मचारी और नियुक्त करना आवश्यक हो गया है।
मद्रास	राजनीतिक स्टेनोग्राफ़र	गुप्त सूचनाओं के लिये आवश्यक है। अभी यहाँ कोई अमरीकी स्टेनोग्राफ़र नहीं है।
ढाका	कोड क्लर्क	गुप्त पत्र-व्यवहार और कोड का काम बहुत बढ़ गया है; उसके लिये एक अनुभवी आदमी चाहिये।

यहाँ इतना और जोड़ देना उचित है कि बम्बई, मद्रास और ढाका में अमरीकी राजदूतों के नहीं, कौंसलों के दफ़्तर हैं, जिन्हें अन्तरराष्ट्रीय क़ानून के मातहत राजनीतिक मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं लेनी चाहिये।

अमरीकी पत्रकार भी जासूसी करते हैं

अमरीकी पत्रकारों का भी गुप्तचर विभाग से घनिष्ठ सम्बंध मालूम पड़ता है। **न्यू यौर्क टाइम्स** के सम्वाददाता, रौबर्ट ट्रूम्बल के भेजे हुए समाचारों से इस सम्बंध पर कुछ प्रकाश पड़ता है। ट्रूम्बल भारत में चार बरस से है और इस महाद्वीप का कोना-कोना छान चुका है। ८ नवम्बर, १९५० को उसने लिखा था :

> "...अन्दर की जानकारी रखने वाले सूत्रों से इस सम्वाददाता को आज पता चला कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को आशा है कि पीपिंग (पीकिंग) सरकार का अगला क़दम नेपाल में उठेगा।"

९ नवम्बर, १९५० को उसने "एशिया में सीमा विस्तार के लिये सोवियत की समर नीति" विषय पर एक लेखमाला लिखी जो २०, २३, और २४ नवम्बर के **न्यू यौर्क टाइम्स** के अंकों में छपी। पहले लेख में उसने बताया कि जिस जानकारी के आधार पर वह लेख लिख रहा है, वह उसने "खुफ़िया रिपोर्टों से" प्राप्त की है, जिन्हें "बहुत असाधारण ढंग के गुप्तचर कार्य के द्वारा, जिसकी तफ़सील नहीं बतायी जा सकती,

प्राप्त किया गया था।" ट्रूम्बल ने बताया कि उसको यह सूचना पश्चिमी तिब्बत की यात्रा करके लौटने वाले "योग्य खोजियों" से मिली थी। तीसरे लेख में उसने लिखा कि उसके लेख की सामग्री "एक अनोखी खोज" के द्वारा प्राप्त हुई है और "पश्चिमी तिब्बत और हिमालय के अन्दर घुस कर" निकाली गयी है। अन्त में, उसने एक विशेष कम्युनिस्ट-विरोधी गुप्तचर जाँच का जिक्र किया, जो भारत में की गयी थी।

२६ नवम्बर को, उसने दरभंगा (बिहार) से समाचार भेजा :

"नेपाली कांग्रेस पर अधिकतर समाजवादियों का प्रभुत्व है। परन्तु उसके अल्पायु विद्रोह ने वास्तव में कम्युनिस्टों के सुनियोजित कार्यक्रम को आगे बढ़ाने में मदद दी है। नेपाली सीमा के निकट इस शहर में यह समाचार हमें गुप्त सूत्रों से मिला है।"

हम यहाँ इस बात पर विचार करना नहीं चाहते कि ट्रूम्बल की कितनी कहानियाँ सच्ची हैं और कितनी कोरी गप्पें हैं। हम यहाँ इस बात की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहते हैं कि ट्रूम्बल ने खुद स्वीकार किया है कि उसका भारतीय और अमरीकी जासूसों और भारतीय तथा नेपाली राजनीतिक पार्टियों के अन्दर घुसे हुए गुप्त अमरीकी एजेंटों से सम्बंध था।

विश्वविद्यालय, खोज संस्थाएँ, आदि

वैदेशिक विभाग के गुप्तचर विभाग के विशेष अफ़सर, डब्ल्यू॰ पार्क आर्मस्ट्रोंग ने २६ फ़रवरी, १९५१ को प्रतिनिधि सभा की एक उपसमिति के सामने बयान देते हुए कहा था :

"...हमने यहाँ और विदेशों के विश्वविद्यालयों, वज़ीफ़े देने वाली संस्थाओं और खोज करने वाली संस्थाओं से बड़े विस्तृत पैमाने पर सहयोग करने की व्यवस्था कर ली है।"

रौकफ़ेलर फ़ाउण्डेशन नामक वज़ीफ़े देने वाली संस्था कई वर्ष से भारत में काम कर रही है और १९४९ से तो उसका सुदूर पूर्वी कार्यालय भी शंघाई से बंगलौर आ गया है। और पिछले वर्ष से फोर्ड फाउण्डेशन भी भारतीय रंगमंच पर उतर आयी है।

१९५१ के अन्त तक, फोर्ड फाउण्डेशन भारत और पाकिस्तान को ४० लाख डालर के वज़ीफ़े दे चुकी थी। २८ मार्च, १९५२ को उसने एशिया तथा मध्य पूर्व के बारे में खोज करने के लिये १०० अमरीकियों को वज़ीफ़े देने का ऐलान किया।

फोर्ड फाउण्डेशन के अध्यक्ष पॉल हॉफ़मेन हैं जो पहले मार्शल योजना के संचालक थे। उनके सहायक संचालक मिल्टन काट्ज़ हैं जो पहले योरप में मार्शल योजना के दूत का काम करते थे और जो लड़ाई के दिनों में ओ० एस० एस० की ओर से जासूसी कर चुके हैं। फाउण्डेशन ने विदेशों में ट्रेनिंग देने और खोज करने के काम का संचालन करने के लिये एक बोर्ड बना रखा है। यही बोर्ड वज़ीफ़े देता है। इसके अध्यक्ष गॉर्डन ग्रे हैं, जो पहले अमरीकी सरकार के युद्ध मंत्री थे।

अमरीका की राष्ट्रीय भूगोल समिति एक ग़ैर-सरकारी खोज संस्था है। परन्तु, उसका खुद का दावा है कि सरकार के रक्षा विभाग से उसका घनिष्ठ सम्बंध है। समिति के युद्ध कालीन कार्यों की रिपोर्ट देते हुए, उसके अध्यक्ष ने हाल में ही कहा था :

> "आपकी समिति ने अमरीका के युद्ध उद्योग की सबसे बड़ी सेवा यह की है कि उसने भू-मंडल के बड़े भागों के बहुत ही सही नक़शे तैयार करके दिये।
>
> "अमरीकी फ़ौज के इंजीनियर विभाग के प्रमुख लेफ़्टिनेण्ट जनरल यूजीन रेबोल्ड ने, जो फ़ौज के लिये नक़शे बनाने के काम का संचालन करते थे...लिखा है : 'नक़शे के लिये हम राष्ट्रीय भूगोल समिति पर इतना अधिक निर्भर करते हैं कि वास्तव में अब हम समिति को अपने फ़ौजी नक़शे बनाने वाले विभाग का ही एक अंग समझते हैं।'...
>
> "युद्ध विभाग ने लड़ाई के दौरान में राष्ट्रीय भूगोल समिति के दस लाख से अधिक नक़शे इस्तेमाल किये। अमरीकी समुद्री बेड़े ने भी कई हज़ार नक़शे उससे लिये।
>
> "युद्ध के दौरान में आपकी समिति के नक़शे बनाने वालों ने युद्ध विभाग और समुद्री विभाग के घनिष्ठ सहयोग से काम किया।..."

अभी हाल तक इस समिति ने भारत के सम्बंध में अधिक काम नहीं किया था और उसकी पत्रिका में भारत के बारे में जो लेख प्रकाशित हुआ करते थे, वे प्रायः मन्दिरों की बनावट और महाराजाओं की शान-शौकत के बारे में होते थे। परन्तु अब उसने स्थायी रूप से अपना एक फ़ोटोग्राफ़र भारत में नियुक्त कर दिया है और कुछ महत्वपूर्ण इलाक़ों की जाँच करायी है। समिति की पत्रिका, **नेशनल ज्यौग्रैफ़िक मैगज़ीन** के अंकों से पता चलता है कि वह कश्मीर, नेपाल, बखान, सिक्किम और आसाम में खोज करा चुकी है।

अगस्त १९४६ में समिति के फ़ोटोग्राफर वेंत्ज़ेल ने कश्मीर की छान-बीन की। परन्तु उसने अपना अनुभव १९४८ तक प्रकाशित नहीं किया, जब कि कश्मीर में लड़ाई चल रही थी। उस वक्त भी उसने केवल कश्मीर घाटी का वर्णन छपा और सरहदी इलाक़ों के बारे में चुप्पी साधे रहा। मई १९५१ में इस पत्रिका में एक भारतीय फिल्म निर्माता की पत्नी, श्रीमती एनाक्षी भवनानी का एक लेख उनकी श्रीनगर से लेह और हिमिस तक की यात्रा के बारे में छपा। लेह लदाख की राजधानी है और हिमिस तिब्बत की सरहद पर पड़ता है। वेंत्ज़ेल ने इस लेख के साथ छपने के लिये इन इलाक़ों के फ़ोटो दिये।

वेंत्ज़ेल भारत में स्थायी रूप से तैनात था। उसके अतिरिक्त समिति समय-समय पर भारत के सैनिक महत्व के स्थानों की खोज-बीन करने के लिये विशेष प्रतिनिधि भेजती रहती थी। उसकी पत्रिका के नवम्बर १९५० के अंक में जाँ शोर और फ्रैंक शोर की बखान यात्रा का वर्णन छपा। बखान पाकिस्तान के क़ब्ज़े में एक बहुत संकरी सी ज़मीन की पट्टी है जो सोवियत संघ और कश्मीर के उस हिस्से के बीच पड़ती है जो आजकल पाकिस्तान के क़ब्ज़े में है। ये दोनों लेखक तुर्की और ईरान के ऐसे इलाक़ों को पार करके काबुल पहुँचे थे जिन पर आजकल फौजी नियंत्रण है और जहाँ साधारणतः किसी को घुसने की इजाज़त नहीं मिलती। इसी प्रकार अफ़गानिस्तान की सरकार, आम तौर पर, किसी यात्री को बखान जाने की अनुमति नहीं देती, परन्तु इन लोगों को उसने इजाज़त भी दे दी और हिफ़ाज़त के लिये फ़ौजी सिपाहियों का एक दस्ता और एक दुभाषिया भी साथ में कर दिया।

ये दोनों लेखक एक बार फिर १९५२ में पाकिस्तान आये और पेशावर तथा रावलपिंडी गये। **डॉन** ने १५ मार्च, १९५२ को लिखा :

> "आशा की जाती है कि वे लगभग एक सप्ताह तक रावलपिंडी में ठहरेंगे। गिलगिट और हुंजा जाने का भी उनका इरादा है।"

मार्च १९५२ में, **नेशनल ज्यौग्रेफ़िक मैगज़ीन** ने एफ० किंगडन-वार्ड नामक एक अंग्रेज़ का एक लेख प्रकाशित किया। इन महाशय ने १९५० के शुरु में, बीज जमा करने के बहाने आसाम-तिब्बत सरहद का दौरा किया था। उसी साल अगस्त में आसाम में भूचाल आ गया। परन्तु, उस समय तक किंगडन-वार्ड सदिया के इर्द-गिर्द के इलाक़े का दौरा कर चुका था और पूर्वी तिब्बत की लुहित घाटी के ऊपरी भाग में पहुँच गया था। चीनी आज़ाद फौज के आने के पहले ही वह उस इलाक़े में तैनात भारतीय फ़ौज की मदद से भाग गया।

नेपाल में भी अमरीकी यात्री इसी तरह के कई दौरे कर चुके हैं।

१९४६ में, अमरीका की एक सरकारी संस्था, स्मिथसोनियन इंस्टीच्यूशन, और येल विश्वविद्यालय की ओर से यात्रियों का एक दल पक्षी जमा करने के लिये भारत और नेपाल आया। उसने यहाँ छः महीने बिताये। इस दल के नेता सिडनी रिपले थे।

इन्हीं दो संस्थाओं और राष्ट्रीय भूगोल समिति की ओर से यात्रियों का एक और दल पशु-पक्षी एकत्र करने के लिये १९४८-४९ में फिर नेपाल आया। इसके नेता भी डॉ० रिपले थे। वेंत्ज़ेल दल के साथ था। कहा जाता था कि ये लोग एक ऐसी विचित्र चिड़िया की तलाश में थे जो ६८ वर्ष से किसी वैज्ञानिक को नहीं दिखाई दी थी। २० जनवरी, १९४९ को **न्यू यौर्क टाइम्स** ने समाचार छापा कि रिपले ने नेपाल के प्रधान मंत्री से न्यू यौर्क के चित्रकार चार्ल्स बास्करवील को निमंत्रण दिलाया है कि वह नेपाल आकर वहाँ के राजा, प्रधान मंत्री और प्राकृतिक दृश्यों के चित्र बनाये।

यदि डॉ० रिपले के बारे में कुछ मालूम हो जाय तो यात्रियों के इन दलों की असलियत का भी पता लग जाय।

रिपले साहब ने १९४२ में हरवर्ड विश्वविद्यालय में अपनी शिक्षा समाप्त की। १९४२ से १९४५ तक उन्होंने दक्षिण-पूर्वी एशिया में ओ०

एस० एस० के जासूसी के डायरेक्टर के पद पर काम किया। १९४६ में वह येल के पीवडी अजायबघर के सहायक व्यवस्थापक नियुक्त किये गये और तुरन्त नेपाल की यात्रा को रवाना हो गये। उनके मित्र वास्करवील महोदय हवाई फ़ौज में लेफ़्टिनेंट-कर्नल और सरकारी चित्रकार थे।

१९४९-५० में, शिकागो के प्राकृतिक अजायवघर ने मध्य नेपाल की खोज करने के लिये एक दल भेजा। फ़तेहगढ़ के अमरीकी मिशन अस्पताल के डाक्टर कार्ल ई. टेलर उसके साथ गये। लौट कर उन्होंने अमरीकी भूगोल समिति के पत्र ज्यौग्रैफ़िकल रिव्यू में एक लेख लिखा और उसमें वताया कि उन्होंने काली-गंडक और पोखरा घाटियों का दौरा किया था।

युद्ध के पहले तक किसी विदेशी का नेपाल में दिखाई देना बड़ी अजीब और अनहोनी सी वात समझी जाती थी। पर १९४९ तक ३०० विदेशी काठमाण्डू हो आये और उनमें से ५० तो अन्दर तक घूम आये। १९४९ के वाद से तो मानो वहां अमरीकी कूटनीतिज्ञों, पत्रकारों और वैज्ञानिकों का तांता लग गया है।

यहाँ न्यू यौर्क के इंस्टीच्यूट ऑफ पैसिफ़िक रिलेशन्स पर भी विचार कर लेना चाहिये। इसका खर्चा रौकफ़ेलर तथा कारनेगी फ़ाउण्डेशनों के दान से चलता है। साथ ही, सुदूर पूर्व के साथ व्यापार करने वाली कुछ कम्पनियाँ भी उसे रुपया देती हैं। इंस्टीच्यूट की अमरीकी शाखा सरकार के आदेश पर काम करती है। हाल में च्यांग काई-शेक के अमरीकी समर्थकों के गुट ने इस इंस्टीच्यूट पर तथा उसकी अमरीकी शाखा पर च्यांग काई-शेक की आलोचना करने के लिये बड़े सख़्त हमले किये। इंस्टीच्यूट के मंत्रियों ने कहा कि अमरीकी खुफ़िया विभाग (फ़ेडरल व्यूरो ऑफ़ इनवेस्टिगेशन) उसके कागज़-पत्तर की जाँच कर ले। वाद में, अमरीकी कांग्रेस की समितियों ने इन कागज़ों पर कब्ज़ा कर लिया। इस प्रकार, भारतीय तथा अन्य देशों की शाखाओं के गुप्त पत्र, और इंस्टीच्यूट की रिपोर्टें सव अमरीकी सरकार के पास पहुँच गयीं।

इंस्टीच्यूट के आलोचकों को सफ़ाई देते हुए, उसके भूतपूर्व प्रधान मंत्री एडवर्ड कार्टर ने ३० मार्च, १९५० को कहा कि सुदूर पूर्व, योरप तथा सोवियत संघ का १९३६ में, दौरा करने के वाद :

> "हम लोगों ने (कार्टर तथा ओवेन लैटिमूर ने) मॉस्को में अमरीकी राजदूतावास के कर्मचारियों को उन देशों की एक रिपोर्ट दे दी थी

जिनका हमने दौरा किया था। अमरीका लौटने पर मैंने वाशिंग्टन में वैदेशिक विभाग के अफ़सरों से भी अपने दौरे के बारे में तफ़सील के साथ बातचीत की थी।"

अर्थात, उच्च शिक्षा, खोज और अनुसंधान से सम्बंध रखने वाली संस्थाओं के नेता, विदेशी विद्वानों के साथ निजी बातचीत करके जो जानकारी प्राप्त करते हैं, उसे वे सीधे अमरीका के सरकारी महकमों को पहुँचा देते हैं। ये लोग अक्सर भारत और पाकिस्तान आते हैं, यहाँ तरह-तरह के सम्मेलन करते हैं—जैसे, १९४९ का दिल्ली में भारत-अमरीका सम्मेलन और १९५० का लखनऊ में प्रशान्त सम्बंध सम्मेलन—जिनमें देश के प्रभावशाली व्यक्ति एकत्रित होते हैं। इंस्टीच्यूट ऑफ़ पैसिफ़िक रिलेशन्स के प्रतिनिधि विदेशों में रिसर्च या खोज करने जाते हैं। जे. ए. करन नामक एक साहब भारत में डेढ़ साल तक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के बारे में खोज करते रहे। आजकल इस संस्था की ओर से श्री मीनू मसानी के नेतृत्व में भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन के बारे में खोज की जा रही है।

अमरीकी विश्वविद्यालय भी इस क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। बहुत से विश्वविद्यालयों ने संसार के कुछ विशेष क्षेत्र छाँट लिये हैं जिनके बारे में वे खोज करते हैं। अमरीका की समाज विज्ञान खोज परिषद ने कहा है कि इस व्यवस्था का "सरकार के लिये भारी महत्व है।"

भारत और पाकिस्तान के सम्बंध में इस प्रकार की खोज कौर्नेल विश्वविद्यालय में, डॉक्टर लौरिस्टन शार्प के नेतृत्व में होती है, जो पहले वैदेशिक विभाग के कर्मचारी थे। उनके विद्यार्थी उत्तर प्रदेश में 'चौथे सूत्र' के कार्यक्रम के अन्तर्गत चलनेवाली नमूने की योजनाओं में काम करते हैं। **न्यूज़वीक** नामक पत्र ने उनके बारे में लिखा था :

> "स्थानीय अधिकारियों के साथ काम करते हुए, कौर्नेल विश्वविद्यालय के ये विद्यार्थी उत्तम बीज, सिंचाई, खाद, खेती के औज़ार और दूसरी ऐसी चीज़ों के बारे में सलाह देते हैं।
>
> "परन्तु इस योजना से अन्त में जो सबसे बड़ा लाभ होनेवाला है, वह यह है कि उसके द्वारा अनेक ऐसे अमरीकी विद्वान और विशेषज्ञ तैयार हो जायेंगे जो भारत के बारे में बहुत कुछ जानकारी रखेंगे...।"

अमरीका के अन्दर भारत के बारे में खोज कराने और ट्रेनिंग देने वाली सबसे प्रसिद्ध संस्था 'साउथ एशिया रीजनल स्टडीज़ इंस्टीच्यूट' है जिसे पेन्सिलवेनिया के विश्वविद्यालय ने १९४७ में क़ायम किया था और जिसे न्यू यौर्क का कार्नेगी कार्पोरेशन आर्थिक सहायता देता है। वैदेशिक विभाग तथा दूसरे सरकारी महकमे अपने कर्मचारियों को एशियाई भाषाओं तथा राजनीतिक मामलों की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये इस संस्था में भेजते हैं। मद्रास में अमरीका के भूतपूर्व कौंसल रोबर्ट रूसो, जो आजकल नयी दिल्ली स्थित अमरीकी राजदूतावास में पुस्तकाध्यक्ष हैं, और कलकत्ता में अमरीकी कौंसल निकोलस ठेकेर इस संस्था में ट्रेनिंग पा चुके हैं। उन्हें वैदेशिक विभाग ने शिक्षा प्राप्त करने के लिये वहाँ भेजा था।

इस संस्था के अध्यक्ष विलिमय नौर्मन ब्राउन नाम के एक सज्जन हैं, जो १९१८ से अमरीकी फ़ौज तथा समुद्री बेड़े के गुप्तचर विभागों में काम करते आये हैं। १९४१ से १९४५ तक वह वाशिंगटन में ओ० एस० एस० के एक बड़े अफ़सर थे। ब्राउन साहब "कमिटी औन सदर्न एशिया" के भी अध्यक्ष हैं। यह कमिटी अमरीका के विभिन्न विश्वविद्यालयों में इसी प्रकार की शिक्षा का संचालन करने के लिये बनायी गयी है।

दक्षिणी एशिया की समस्याओं का अध्ययन करने वाली दूसरी संस्थाएँ मिनीसोटा और कैलीफोर्निया के विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत हैं। मिनीसोटा विश्वविद्यालय ने तो स्पष्ट शब्दों में ऐलान किया था कि :

> "हमने ग्रेजुएट स्तर के विद्यार्थियों को गुप्तचर कार्य की बुनियादी शिक्षा देने और इस प्रकार फ़ौजी और ग़ैर-फ़ौजी सरकारी महकमों के लिये दक्ष कर्मचारी तैयार करने का कार्यक्रम आरम्भ किया है। पूर्वी और दक्षिणी एशिया उन क्षेत्रों में से है जिनका इस कार्यक्रम के अन्तर्गत विशेष अध्ययन करने का प्रबंध किया गया है।"

कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय में इस कार्यक्रम के अध्यक्ष भारतीय विभाग के डेविड गुडमैन मैन्डलबौम हैं जो १९३७-३८ और १९४९-५० में भारत भी हो गये हैं। ये हज़रत १९४२ में अमरीकी गुप्तचर विभाग के ब्रिटिश विभाग में काम करते थे और १९४६ वह में वैदेशिक विभाग के खोज और गुप्तचर कार्यालय के भारत-लंका सम्बंधी महकमे में काम करते थे।

पिछले साल कोलम्बिया विश्वविद्यालय में पाकिस्तान सरकार की आर्थिक मदद से एक पाकिस्तान इंस्टीच्यूट की स्थापना की गयी थी। इस इंस्टीच्यूट के एक शिक्षक, जिनका नाम जे. सी. हूरेविल्ज़ है, लड़ाई के ज़माने में ओ. एस. एस. और वैदेशिक विभाग के जासूसी डिवीज़न में काम कर चुके हैं।

इसके अलावा अमरीकी विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले विदेशी विद्यार्थी भी गुप्तचरों का काम करने के लिये भरती किये जाते हैं।

विदेशी विद्यार्थियों के दाखले आदि की व्यवस्था इंस्टीच्यूट ऑफ़ इंटरनेशनल एज्यूकेशन (अन्तरराष्ट्रीय शिक्षा की संस्था) करता है और वहीं उन्हें मिलने वाले वज़ीफ़ों की देखरेख करता है। इसे फ़ोर्ड फाउण्डेशन जैसी संस्थाओं से धन मिलता है। हाल में, इस इंस्टीच्यूट ने कोरा डुबौय को पिछड़े हुए देशों की शिक्षा सम्बंधी साधनों तथा आवश्यकताओं का निर्णय करने वाले एक कार्यक्रम का संचालक नियुक्त किया है। युद्ध के समय यह महिला ओ० एस० एस० में काम करती थी। वह दक्षिणी एशिया सम्बंधी खोज की संचालिका थी और उसका प्रधान कार्यालय लंका के कैंडी नामक स्थान में था। अक्तूबर १९४५ में उसे वैदेशिक विभाग की गुप्तचर शाखा के दक्षिणी क्षेत्रों से सम्बंध रखने वाले विभाग का प्रमुख नियुक्त किया गया था और १९४९ तक वह इसी पद पर रहा।

दूसरी संस्थाएँ और अमरीकी यात्री

अमरीकी गुप्तचर विभाग से सम्बंध रखने वाली दूसरी संस्थाओं में सान फ्रांसिस्को की कमिटी फ़ौर ए फ्री एशिया (स्वतंत्र एशिया समिति) का विशेष उल्लेख करना ज़रूरी है। इस समिति को पैसा क्रूसेड फ़ौर फ्रीडम (' स्वतंत्रता संग्राम ') नामक वह संगठन देता है जिसके नेता जनरल लुसियस डी० क्ले हैं। समिति का उद्देश्य " एशिया में कम्युनिज़्म से लोहा लेना " बताया जाता है। इसके लिये, वह अमरीका में रहने वाले भारतीयों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करती है। पिछले वर्ष डाक्टर राममनोहर लोहिया अमरीका गये थे तो उन्होंने इस समिति के तत्वावधान में हुई एक सभा में भाषण दिया था।

इस समिति के पहले अध्यक्ष जौर्ज एच. ग्रीन थे जो बीस साल तक न्यू यौर्क के नेशनल सिटी बैंक में नौकरी करने के बाद, लड़ाई के ज़माने में

ओ. एस. एस. के मातहत, और १९४८–४९ में मार्शल योजना के अन्तर्गत चीन में काम कर चुके हैं। दिसम्बर १९५१ में ग्रीन की जगह एलेन वैलन्टाइन नामक एक व्यापारी नियुक्त किया गया जो १९४८–४९ में हॉलैण्ड में मार्शल योजना का संचालक था।

समिति के सदस्यों में इन शक्तिशाली कम्पनियों के अध्यक्ष शामिल हैं: अमरीकन ट्रस्ट कम्पनी, जनरल मिल्स कार्पोरेशन, पैसिफ़िक गैस एण्ड इलेक्ट्रिक कम्पनी, पैन-अमरीकन एयरवेज़, सेफ़वे स्टोर्स, स्टैण्डर्ड ऑयल कम्पनी औफ़ कैलीफ़ोर्निया और वेस्टर्न पैसिफ़िक रेल रोड।

अन्त में, कुछ अमरीकी यात्रियों का भी ज़िक्र कर देना उचित होगा जो हाल में भारत हो गये हैं।

जनवरी १९५१ में, सुदूर पूर्व का दौरा करते हुए विलियम डौनोवन साहब भारत तशरीफ़ लाये थे। यह सज्जन लड़ाई के ज़माने में ओ. एस. एस. के संचालक थे। न्यू चाइना न्यूज़ एजेंसी ने समाचार छापा था कि उनकी इस यात्रा का असली उद्देश्य उन अमरीकी जासूसों के कार्य-क्षेत्रों को फिर से निश्चित करना था जो चीन से भाग आये थे।

३१ मार्च, १९५१ को जस्टिस विलियम डगलस ने घोषणा की थी कि पं. नेहरू ने उन्हें हिमालय क्षेत्र के तिब्बत की सीमा से लगे हुए भाग में ४०० मील तक घूमने की अनुमति दे दी है। इसके चन्द दिन पहले इन महाशय ने बताया था कि उन्हें दलाई लामा से मिलने जाना है। इसके भी पहले वह यूगोस्लाविया और ईरान की यात्रा कर आये थे और सोवियत पत्रों ने उसी समय कहा था कि वह असल में जासूसी करने की गरज़ से वहाँ गये थे।

१९५१ में ही विलियम बुलिट साहब भी **लाइफ़** पत्रिका का सम्वाददाता बनकर भारत का दौरा कर गये थे। सोवियत पत्र **प्रावदा** के कथनानुसार यह महाशय एक पुराने अमरीकी जासूस हैं।

अमरीकी जासूसों को मिलने वाला भारतीय सहयोग

ऊपर हमने जो कुछ बताया है, उससे यह बात तो पाठकों के सामने साफ़ हो गयी होगी कि अमरीका का गुप्तचर विभाग भारत में भी काम करता

है, और भारत का महत्व देखते हुए उसके बड़े भारी अफ़सर यहाँ के काम की देखरेख करने के लिये नियुक्त किये जाते हैं।

जब भारत में कांग्रेसी सरकार की स्थापना की संभावना पैदा हुई तो अमरीका को इस बात की बड़ी चिन्ता हुई कि पता नहीं नयी सरकार कैसी होगी, वह भरोसा करने लायक़ होगी या नहीं। इसलिये, उसने युद्ध समाप्त होते ही तुरन्त निकल स्मिथ, अमौरी दि राइनकोर्ट, डिलन रिप्ले आदि गुप्तचरों को भेजा कि कश्मीर, नेपाल और तिब्बत का दौरा करके परिस्थिति की पूरी जाँच-पड़ताल करें। भारत के अंग्रेज़ अधिकारियों ने इन लोगों को विशेष सुविधाएँ दीं। बाद में यह बात तो साफ़ हो गयी कि नयी भारत सरकार से अमरीका को डरने या घबराने की कोई ज़रूरत नहीं है। परन्तु, अमरीकी गुप्तचरों की कार्रवाइयाँ बराबर जारी रहीं, बल्कि और बढ़ती ही गयीं।

अमरीकी गुप्तचर भारत की अन्दरूनी राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति के बारे में पूरी-पूरी जानकारी रखते हैं। सरहदी इलाक़ों पर उनकी विशेष कृपा दृष्टि रहती है।

भारत सरकार ने इन लोगों की हरकतों को रोकने की कोई कोशिश नहीं की है। बल्कि, लगता है कि वह अमरीकी गुप्तचर विभाग से पूर्ण सहयोग करती है। २७ अप्रैल, १९४८ को बम्बई के **फ्री प्रेस जर्नल** ने समाचार छापा था :

> "एक अमरीकी न्यूज़ एजेंसी द्वारा भेजे हुए एक समाचार से पता चलता है कि भारत, पाकिस्तान, बर्मा आदि देशों की सरकारों ने अमरीकी वैदेशिक विभाग की दी हुई सूचना के आधार पर कम्युनिस्ट पार्टियों के खिलाफ़ कार्रवाई की है।"

अगस्त १९४७ के पहले तक तो भारतीय गुप्तचर विभाग अंग्रेज़ों के ाधीन था ही; पर लगता है कि उसके बाद भी हालत बदली नहीं है। ौर ब्रिटिश गुप्तचर विभाग अमरीकी गुप्तचर विभाग के साथ मिल कर काम ़रता है। अतः हम पाते हैं कि भारत के केन्द्रीय गुप्तचर विभाग के प्रधान ्तेरपत्तूर जी. संजीवी, १९४९ में किसी अज्ञात विषय पर गुप्त बातचीत ़रने के लिये अमरीका तशरीफ़ ले गये थे। इसी प्रकार, यह बात भी मतलब

से ख़ाली नहीं है कि भारत स्थित अमरीकी सम्वाददाता अक्सर जासूस विभाग से मिली हुई सूचनाओं का ज़िक्र अपनी रिपोर्टों में किया करते हैं।

१५ दिसम्बर, १९४९ को **हिन्दू** ने ख़बर छापी थी कि ब्रिटिश गुप्तचर विभाग के प्रधान, सर परसी सिलिटो भारत में एक कुशल अन्दरूनी और वैदेशिक गुप्तचर विभाग संगठित करने के प्रश्न पर पं० नेहरू से विचार-विनिमय करने के लिये आने वाले हैं। उन्हीं दिनों यह ख़बर भी अख़बारों में निकली थी कि सर परसी ब्रिटिश कौमनवेल्थ के दूसरे देशों की यात्रा को भी जाने वाले थे। ग़लत न होगा यदि इन समाचारों का यह मतलब लगाया जाय कि इस तरह भारतीय गुप्तचर विभाग का पूरी तरह से अंग्रेज़-अमरीकी गुप्तचर व्यवस्था से घनिष्ठ सम्बंध स्थापित करने की कोशिश हो रही है।

३१ जुलाई, १९५१ को गृह विभाग के सचिव, एच. वी. आर. आयंगर ने स्पेशल पुलिस अफ़सरों के एक सम्मेलन में बताया था कि भारत सरकार अमरीका के ख़ुफ़िया विभाग (फ़ेडरेल ब्यूरो औफ़ इनवेस्टिगेशन) के ढंग का केन्द्रीय ख़ुफ़िया विभाग स्थापित करने वाली है। भारतीय ख़ुफ़िया अफ़सरों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये अमरीका भेजा भी गया था।

भारतीय, ब्रिटिश और अमरीकी गुप्तचर विभागों का यह सहयोग प्रत्येक भारतीय के लिये चिन्ता का विषय है। यह समझना भूल होगी कि हम तो कोई काम लुक-छिप कर नहीं करते, इसलिये हमें गुप्तचरों और जासूसों से क्या डर! भारत सरकार बहुत सी बातें भारतीय जनता से छिपा कर रखती है। परन्तु, अमरीका वालों के लिये सरकार की गुप्त से गुप्त फाइलें खुली रहती हैं। हमारी सरकार का प्रत्येक भेद उनको मालूम हो जाता है। वे हमारी प्रत्येक कमज़ोरी को अच्छी तरह जानते हैं और उससे पूरा-पूरा फ़ायदा उठाते हैं।

भारत में अमरीकी प्रचार

अमरीकी सरकार की प्रचारक मशीन कितनी विशाल है, इसका कुछ अनुमान इस बात से लग सकता है कि वैदेशिक विभाग के आधे कर्मचारी और आधे साधन केवल सूचना विभाग में लगे हुए हैं। विदेशों में प्रचार करने के लिये डालर पानी की तरह बहाये जाते हैं। भारत और पाकिस्तान की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रचारक विभाग (इंटरनेशनल इन्फ़ौरमेशन एण्ड एज्यूकेशनल एक्सचेंज प्रोग्राम—अन्तरराष्ट्रीय सूचना एवं शिक्षा सम्बंधी विनिमय का कार्यक्रम) की हाल की रिपोर्टों में इन देशों को "महत्वपूर्ण" और "नाजुक परिस्थिति वाला" देश कहा गया है और इन पर और देशों से अधिक ध्यान देने की आवश्यकता बतायी गयी है।

१९५१ के पहले ६ महीनों में अमरीकी प्रचार विभाग ने भारत में ३,६९,४९८ डालर और पाकिस्तान में १,३१,५८७ डालर खर्च किया था। भारत में इस विभाग के मातहत ४९ अमरीकी और ३९७ भारतीय कर्मचारी नौकर थे और पाकिस्तान में २० अमरीकी और १३० पाकिस्तानी कर्मचारी।

बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, नयी दिल्ली और कराँची के अमरीकी सूचना केन्द्रों का दावा है कि १९५० में १,९४,२४० व्यक्ति उनके दफ़्तरों में आये। इनके अतिरिक्त नीचे लिखे स्थानों पर भी या तो अमरीकी सूचना केन्द्र खुल गये हैं, या शीघ्र खुलने वाले हैं: पुरानी दिल्ली, लखनऊ, बंगलौर, हैदराबाद, अम्बाला, बनारस, पटना, नागपुर, अहमदाबाद, त्रिवेन्द्रम, इलाहाबाद, कटक, लाहौर, ढाका, पेशावर, रावलपिंडी और क्वेटा।

अमरीकी सूचना विभाग की ओर से **अमरीकन रिपोर्टर** नामक पत्र सारे हिन्दुस्तान में मुफ़्त बांटा जाता है। १९५१ में इस पत्र की १,५०,०००

प्रतियाँ छपती थीं। पाकिस्तान में इस विभाग की ओर से **पनोरमा** नामक पत्र २२,००० की संख्या में निकलता है। जून, १९५१ से **फ्री वर्ल्ड** नामक एक नयी सचित्र पत्रिका भी प्रकाशित होने लगी है।

इन पत्रिकाओं के अलावा, अमरीकी सूचना विभाग देशी अखबारों को तरह-तरह के लेख, समाचार, फ़ोटो, कार्टून अमरीकी पत्रों की प्रतियाँ और दूसरा मसाला भेजता रहता है। भारत में अंग्रेज़ी तथा ६ देशी भाषाओं में रोज़ समाचारों की बुलेटिन निकलती है, पाकिस्तान में अंग्रेज़ी और उर्दू में। इस प्रकार, भारत और पाकिस्तान के अखबारों में निकलने वाली बहुत सी सामग्री वास्तव में अमरीकी सूचना विभाग के दफ़्तरों में तैयार होती है।

यह विभाग पुस्तकें और पैम्फलेट भी प्रकाशित करके बाँटता है। **जीवित अमरीका** नाम की एक पुस्तकमाला भारत, पाकिस्तान और मध्य पूर्व के "खास-खास" लोगों के बीच अमरीका की 'प्रतिष्ठा' बढ़ाने के लिये निकाली जा रही है। इसकी पहली तीन पुस्तिकाओं की कुल ७,८०,००० प्रतियाँ छपी थीं। स्कूलों में इस्तेमाल करने के लिये एक **संक्षिप्त अमरीकी इतिहास** अंग्रेज़ी, हिन्दी और उर्दू में निकाला गया है। गौसलिन की **जनतंत्र** नामक किताब ग्यारह भाषाओं में छापी गयी है; बेनेट की **अमरीका** नामक किताब दस भाषाओं में; फेरिस और रूज़वेल्ट की किताब **साझीदार: राष्ट्र संघ और युवक** नौ भाषाओं में; ग़ाल्ट की किताब **राष्ट्र संघ कैसे काम करता है** ग्यारह भाषाओं में; और वान डोरेन की किताब **अमरीकी साहित्य क्या है** बंगाली और उर्दू में प्रकाशित हुई है।

अमरीकी प्रचार विभाग फ़िल्में भी बाँटता है। १९५० में उसके भारतीय दफ़्तरों ने १,३१० फ़िल्मों का प्रयोग किया। ये फ़िल्में अंग्रेज़ी, बंगला, हिन्दी, उर्दू, तामिल, तेलगु, गुजराती और मराठी भाषाओं में थीं। पाकिस्तानी दफ़्तरों ने उसी वर्ष ७६४ फ़िल्में बाँटीं। भारतीय दफ़्तरों के पास ५२ फ़िल्म दिखाने वाली मशीनें और ४ चलते-फिरते सिनेमा थे; पाकिस्तानी दफ़्तरों के पास ३० मशीनें और २ चलते-फिरते सिनेमा थे। भारत में उस वर्ष १२,८४८ बार फ़िल्में दिखायी गयीं जिन्हें कुल ५५,१०,००० लोगों ने देखा। पाकिस्तान में १,४९० बार फ़िल्में दिखायी गयीं और उन्हें ८,४२,००० लोगों ने देखा।

प्रचार का दूसरा बहुत महत्वपूर्ण साधन 'वौयस ऑफ़ अमरीका (अमरीका की आवाज़)' नामक रेडियो कार्यक्रम है। जून १९५१ तक उसके अन्तर्गत ख़ास सुदूर पूर्व के लिये अंग्रेज़ी भाषा में रोज़ सवा चार घंटे का ब्राडकास्ट होने लगा था। फिर आध-आध घंटे हिन्दी और उर्दू का ब्राडकास्ट शुरू किया गया। १९५० से इस कार्यक्रम को रेडियो सीलोन प्रसारित करता है और लंका में तीन नये और बड़े ताक़तवर रेडियो प्रसारक यंत्र लगाये जा रहे हैं।

प्रचार का एक और कार्यक्रम विद्यार्थियों और शिक्षकों, पत्रकारों और सम्पादकों और "जनमत बनाने वाले ख़ास-ख़ास लोगों" का विनिमय या आदान-प्रदान करना है। ३ मई, १९५२ को सार्वजनिक कार्य विभाग के सहायक मंत्री होलैण्ड सार्जेण्ट ने बताया था :

> "चालू कार्यक्रमों के अन्तर्गत हर साल सरकार कुल १३,००० लोगों को विदेशों से यहाँ अध्ययन, ट्रेनिंग और राजनीतिक शिक्षा के लिये लाने वाली है।"

२ फ़रवरी, १९५० को भारत के साथ अमरीका का जो फुलब्राइट समझौता हुआ था, उसके मातहत इस प्रकार के आदान-प्रदान पर पाँच वर्षों में १७,५०,००० डालर खर्च किये जायेंगे। पाकिस्तान के साथ इसी तरह का समझौता १ सितम्बर, १९५० को हुआ था। उसके मातहत १२,५०,००० डालर ख़र्च किये जायेंगे। १९५०-५१ में, २३२ भारतीय और १०० पाकिस्तानी इस सम्बंध में अमरीका गये थे और अमरीका से ४५ लोग भारत में तथा २४ पाकिस्तान में आये थे।

सूचना कार्य की आड़ में

अमरीकी प्रचार विभाग, जो अपने को सूचना विभाग कहता है, बहुत से ऐसे काम करता है जो न सूचना के क्षेत्र में आता है और न प्रचार के क्षेत्र में।

पहली बात तो यह है कि यह विभाग ऐसी बड़ी-बड़ी रक़में ख़र्च करता है जिनका कोई हिसाब नहीं रखा जाता।

दूसरे, इस विभाग में स्थानीय तौर पर तथा अमरीका में, जो सैकड़ों भारतीय और पाकिस्तानी नौकर रखे गये हैं, उनकी पहले अमरीकी खुफ़िया

विभाग जाँच करता है। व्यक्तियों का आदान-प्रदान करते समय भी उनके राजनीतिक विचारों की जाँच की जाती है। कागज़ी तौर पर, अमरीका तथा सम्बंधित देश के प्रतिनिधियों की एक संयुक्त कमिटी उनका नाम चुनती है, परन्तु अन्तिम निर्णय अमरीकी दूतावास के कर्मचारियों के हाथों में होता है। और उनकी एक बार अनुमति मिल जाने पर भी वाशिंगटन में वैदेशिक विभाग और विदेशी वज़ीफ़ों का बोर्ड फिर से उनकी जाँच करता है। बहुत से विद्यार्थियों और शिक्षकों को केवल उनके राजनीतिक विचारों के कारण वज़ीफ़े नहीं दिये गये हैं।

तीसरे, इस विभाग की पुस्तिकाएँ, पत्र और फ़िल्म प्रायः उन सरकारों की निन्दा करने के लिये तैयार किये गये हैं जिनके साथ भारत की मित्रता है।

चौथे, यह विभाग एक तरह से भारतीय प्रकाशकों और लेखकों को घूस दे-दे कर भ्रष्ट करने की कोशिश करता है। अमरीकी प्रचार विभाग की छठी रिपोर्ट में कहा गया है कि :

> "अमरीकी पुस्तकों के अनुवाद और प्रकाशन के काम को तेज़ करने के लिये विदेशी प्रकाशकों को निम्न प्रकार की सहायता दी गयी : (१) अमरीकी प्रकाशकों से अनुवाद और प्रकाशन की इजाज़त मंगवा कर देना; (२) अनुवादित पुस्तक की एक निश्चित संख्या को स्वयं ख़रीद लेने की गारंटी देना; (३) चित्रों के लिये आवश्यक सामग्री मंगा देना; (४) लागत से भी कम दाम पर गुटका या जेबी संस्करण निकालने में प्रकाशकों को आर्थिक सहायता देना।"

इसी विभाग की सातवीं रिपोर्ट में आगे यह लिखा गया था :

> "सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण देशों में अनुवाद के काम पर ज़्यादा ज़ोर दिया गया। १५ देशों के स्थानीय प्रकाशकों को २४ भाषाओं में अमरीकी पुस्तकें छापने में इस प्रकार की मदद दी गयी : कापी राइट मंगा कर देना; जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ कागज़ मुहय्या कर देना; महत्वपूर्ण संगठनों और व्यक्तियों को भेंट करने के लिये एक निश्चित संख्या में अनुवादित पुस्तकों को ख़रीद लेना ...। मध्य और सुदूर पूर्व में कागज़ की बहुत कमी थी, इसलिये चुनी हुई किताबों को

प्रकाशित करने के लिये...भारत में...प्रकाशकों के वास्ते कागज़ खरीदा गया।

"कम्युनिस्ट प्रचार का मुक़ाबला करने के उद्देश्य से इस काल में जिन किताबों का अनुवाद किया गया, उनमें ये भी शामिल थीं: **सोवियत रूस में बेगार** (डालिन और नोकोलाव्स्की) जो अंग्रेज़ी, चीनी, इटालियन और वर्मी भाषाओं में छपी; और **मास्को में मेरे तीन वर्ष** (स्मिथ), **एक जो बच गया** (बरमाइन) और **मैं क्यों जान बचा कर भागा** (पिरोगोव) जो भारत की ग्यारह भाषाओं में प्रकाशित की गयीं...।"

डी० एफ० कराका ने, जो अपनी अमरीका-भक्ति के लिये प्रसिद्ध हैं, २३ जुलाई, १९५१ के **न्यू यौर्क टाइम्स** में लिखा था:

"कुछ सप्ताह हुए मेरे अखबार करेन्ट के दफ़्तर में अमरीकी सूचना विभाग का एक सदस्य आया। वह 'युद्ध अवश्यम्भावी है' शीर्षक हमारे एक लेख के लिये मुझे बधाई देने आया था। इस लेख में प्रधान मंत्री नेहरू की तटस्थता की नीति की आलोचना की गयी थी। हमारा विचार था कि युद्ध के अवश्यम्भावी-पन के खिलाफ़ अमरीका जिस तरह लड़ रहा है, उसे देखते हुए तटस्थता का रुख उचित नहीं है। हमसे कहा गया कि भारत में इस लेख का और प्रचार होना चाहिये। मैंने समझा कि यह सज्जन चाहते हैं कि लेख पर से मैं अपना कापीराइट हटा लूँ ताकि उनकी संस्था, यानी अमरीकी सूचना विभाग उसे छाप कर देश में बाँट सके। इस विचार से मैंने कहा कि मुझे ऐसा करने में कोई ऐतराज़ नहीं है। परन्तु आप के युवा प्रतिनिधि के दिमाग में तो कुछ और ही बात थी। उनकी इच्छा यह मालूम पड़ती थी कि हमारा पत्र ही इस लेख के सन्देश को और फैलाने की व्यवस्था करे। उनने मुझसे कहा कि इसमें जो कुछ खर्च होगा, उसका बन्दोबस्त हो जायगा।"

पांचवीं बात यह है कि अमरीकी प्रचार विभाग स्थानीय संगठनों और संस्थाओं में खुलेआम हस्तक्षेप भी करता है। छठी रिपोर्ट में लिखा है:

"लाहौर के सूचना कार्यालय की सहायता से तीन विद्यार्थी संगठन स्थापित किये गये: एक मानव सम्बंध सुधार समिति, जिसके ६५०

सदस्य हैं और जो प्रायः सांस्कृतिक कार्य करती है; दूसरा, कलम और रोशनाई क्लब, जो वाई० एम० सी० ए० में काम करता है; और तीसरी, कम्युनिस्ट-विरोधी पाकिस्तान विद्यार्थी लीग।"

अन्तिम, परन्तु बहुत ही महत्वपूर्ण बात यह है कि अमरीकी प्रचार विभाग, खुफ़िया विभाग के घनिष्ठ सहयोग से काम करता है। स्वयं वैदेशिक विभाग ने १८ जनवरी, १९५२ के अपने बयान में इस बात को तसलीम किया है। उसमें कहा गया था कि :

> "सूचना विभाग के अमली कार्यक्रम तथा वैदेशिक विभाग के गुप्तचर कार्य एवं वैदेशिक नीति का संचालन करने वाली शाखाओं के बीच आवश्यक सम्बंध दृढ़ता के साथ क़ायम रखा जायगा।"

इस प्रकार अमरीकी प्रचार विभाग में नौकरी करने वाले सैकड़ों भारतीय और पाकिस्तानी, वास्तव में, अमरीकी गुप्तचर विभाग के लिये काम करते हैं।

मनोवैज्ञानिक युद्ध

वैदेशिक विभाग की एक बार यह व्याख्या की गयी थी कि वह "मनोवैज्ञानिक युद्ध करने का एक अमरीकी अस्त्र" है। उसके सूचना या प्रचार विभाग की देख-रेख "मनोवैज्ञानिक समर-नीति निर्धारक बोर्ड" करता है। **न्यू यौर्क टाइम्स** के कूटनीतिक सम्वाददाता, जेम्स रेस्टन ने इस बोर्ड को "गंदे हथकण्डों का विभाग" कहा है। वैदेशिक विभाग, रक्षा विभाग और केन्द्रीय गुप्तचर विभाग के प्रतिनिधि इस बोर्ड के सदस्य हैं।

मनोवैज्ञानिक युद्ध के बारे में हाल में एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। उसके लेखक रौबर्ट समर्स ने बताया है कि "मनोवैज्ञानिक युद्ध" शब्दों का प्रयोग पहले-पहल नात्सियों ने किया था। उसके शब्दों में नात्सी :

> "योरप को जीतने के लिये मनोवैज्ञानिक युद्ध को सशस्त्र युद्ध के बराबर महत्व देते थे।...नात्सी विचारकों की राय में मनोवैज्ञानिक युद्ध लड़ाई के पहले, लड़ाई के दौरान में और लड़ाई के बाद बराबर ही चलता रहता है और उसका उद्देश्य शत्रु को कमजोर करना और तटस्थ देशों के जनमत पर असर डालना होता है।"

दूसरे महायुद्ध के बाद अमरीका की तरफ़ से मनोवैज्ञानिक युद्ध बड़े पैमाने पर १९४८ में शुरू हुआ और १९५० में उसने अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लिया।

फरवरी १९५१ में 'नेशनल कमिटी फ़ौर ए फ़्री योरप' (स्वतंत्र योरप के लिये लड़ने वाली राष्ट्रीय समिति) के अध्यक्ष चार्ल्स डी० जैकसन ने कहा था कि मनोवैज्ञानिक युद्ध में सबसे अधिक धन की और ऐसी मनोवृत्ति की आवश्यकता होती है जो शत्रु के ख़िलाफ़ अच्छे-बुरे हर प्रकार के अस्त्र का उपयोग करने को तैयार हो। वैदेशिक विभाग के एक बड़े अधिकारी ने १९५२ में कहा था:

> "...पहले हम अमरीका का एक पूरा और सच्चा चित्र दूसरों के सामने पेश करके ही संतोष कर लेते थे। पर अब हमने ज़्यादा ज़ोरदार और उग्र कार्यक्रम अपनाया है...।"

मैकार्थर सम्बंधी जाँच के समय १९५१ में विदेश मंत्री एचीसन ने सेनेट की एक कमिटी के सामने स्वीकार किया था कि उनका विभाग विदेशों में प्रचार करते समय सच्ची ख़बरों को तोड़ता-मरोड़ता है।

अमरीकी प्रचार विभाग के अध्यक्ष एडवर्ड बैरट ने बताया है कि विदेशों में बहुत सी प्राइवेट संस्थाओं और संगठनों को आर्थिक सहायता दी जाती है। उसके शब्दों में:

> "आजकल हमारे काम का एक बहुत बड़ा भाग विदेशों में ऐसे संगठनों और दलों को बढ़ावा और प्रोत्साहन देना है जो हमारे 'सत्य के प्रचार' में सम्मिलित होने को तैयार हों।"

समर्स साहब ने फ़रमाया था कि रेडियो, छपा हुआ साहित्य, फ़िल्में और शिक्षकों की अदला-बदली का कार्यक्रम — ये सभी मनोवैज्ञानिक युद्ध के अस्त्र बन गये हैं। यही नहीं, इसी प्रकार:

> "विदेशों में व्यापार करने वाली अमरीकी कम्पनियों द्वारा दिये गये विज्ञापन, अमरीकी पेटेन्टों को इस्तेमाल करने की इजाज़त, विदेशों को दी जानेवाली आर्थिक सहायता, भारत को दिया गया गेहूँ, और दूसरे ऐसे अनेक आश्वासन और कार्य जिनसे दूसरे देशों में अमरीका के लिये

सहानुभूति उत्पन्न होती है—ये सब कार्रवाइयाँ भी मनोवैज्ञानिक युद्ध की अस्त्र बन गयी हैं।" (समर्स साहब की पुस्तक)

वैदेशिक विभाग, इस क्षेत्र में, खुद काम करने के अलावा दूसरे सरकारी महकमों और प्राइवेट संस्थाओं के द्वारा भी काम कराता है :

"विदेशों में व्यापार करने वाली कम्पनियों ने हमारी बड़ी मदद की है—और हमने भी उन्हें काफ़ी सहायता दी है। विदेशों में अमरीकी माल बेचने वाली कम्पनियाँ वहाँ अमरीका तथा स्वतंत्रता की हमारी परिभाषा के पक्ष में बड़ी सफलतापूर्वक प्रचार कर सकती हैं।... विदेशी समाचार पत्रों में विज्ञापन देने वाली कुछ अमरीकी कम्पनियाँ अब अपने विज्ञापन इस तरह तैयार करने लगी हैं कि उनसे विदेशों में अमरीकी विचारों का प्रचार करने में भी मदद मिले।"

(वैदेशिक विभाग की **बुलेटिन**, १२ मार्च, १९५१)

अमरीकी प्रचार में हमारी सरकार की मदद

अतः यह बात स्पष्ट हो गयी कि कहने को अमरीका, भारत और पाकिस्तान को अपना मित्र समझता है, परन्तु वास्तव में वह मनोवैज्ञानिक युद्ध के सभी अस्त्रों का उनके विरुद्ध उपयोग कर रहा है। इन देशों की जनता इस बात को पसन्द नहीं करती। स्वयं **न्यू यॉर्क टाइम्स** ने २० अगस्त, १९५० को लिखा था :

"हिन्दुस्तानियों को यह बात पसन्द नहीं आती कि कोई उनको प्रचार के जरिये फांसने की कोशिश करे। इसलिये, अमरीकी प्रचार को वे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और कभी-कभी तो उसका उल्टा असर होता है।"

परन्तु भारतीय और पाकिस्तानी सरकारें अमरीका के इस मनोवैज्ञानिक महायुद्ध को रोकने के बदले, उल्टे उसकी मदद करती हैं। पहले तो वे सोवियत रूस और चीन के बारे में सच्ची खबरों को अपने देशों में स्वतंत्रतापूर्वक नहीं आने देतीं। सोवियत नागरिकों को भारतीय सम्मेलनों में शरीक होने के लिये भारत आने के पासपोर्ट नहीं दिये जाते। हाल में रेलवे स्टेशनों पर लगने वाली किताबों की दूकानों पर सोवियत साहित्य की बिक्री बन्द कर दी गयी

है। ४ दिसम्बर, १९५१ को **न्यू यौर्क टाइम्स** ने समाचार छापा था कि पाकिस्तान सरकार ने सोवियत साहित्य की बिक्री पर रोक लगा दी है और यह काम उसने "बाहरी दबाव" पर किया है।

भारत और पाकिस्तान की सरकारों से अमरीकी प्रचार विभाग को और किस ढंग की मदद मिलती है, यह स्वयं प्रचार विभाग की सरकारी रिपोर्टों के शब्दों में सुनिये :

"विश्व स्वास्थ्य दिवस पर फ़िल्म दिखाने का विशेष आयोजन करके अमरीकी सूचना विभाग ने एक बार फिर पाकिस्तान सरकार के सहयोग से काम किया है।" (पांचवीं रिपोर्ट, पृष्ठ ३२)

"नयी दिल्ली में, अमरीकी सूचना विभाग को सरकारी सचिवालय भवन की दीवारों पर अपनी सामग्री मुफ़्त प्रदर्शित करने की अनुमति मिल गयी है। रोज़ २०,००० आदमी इस स्थान से गुज़रते हैं और यह पहला मौक़ा है जब भारत सरकार ने किसी विदेशी सरकार को इस स्थान को ऐसे काम के वास्ते इस्तेमाल करने की इजाज़त दी है। अप्रैल में अपनी फ़िल्मों का वितरण करने के लिये हमें एक नयी सुविधा प्राप्त हुई। अमरीकी सूचना विभाग की फ़िल्म **हरीकेन सरकिट** दो करोड़ आदमियों को दिखायी गयी। वह इस तरह कि भारत सरकार के सूचना विभाग द्वारा बनायी गयी फ़िल्मों को दिखाने की जो व्यवस्था है, उसी के द्वारा हमारी इस फ़िल्म का भी प्रदर्शन किया गया। यह हमारी पहली फ़िल्म थी जिसे भारत सरकार ने स्वीकार किया, पर हमें आशा है कि भविष्य में हर साल हम अपनी पाँच-छः फ़िल्में इस सरकारी व्यवस्था के ज़रिये दिखा सकेंगे।" (पांचवीं रिपोर्ट, पृष्ठ ३२)

"फ़िल्म वितरक कम्पनियों और भारत सरकार के फ़िल्म डिवीज़न के ज़रिये देश के सिनेमा घरों में अमरीकी प्रचार फ़िल्म की एक विशेष व्यवस्था तैयार हो गयी है।" (छठी रिपोर्ट, पृ. ३३)

"लाहौर में पंजाब सरकार के जन-सम्पर्क विभाग के चलते-फिरते सिनेमा ने लगभग साढ़े चार लाख व्यक्तियों को अमरीकी सूचना विभाग की फ़िल्में दिखायीं।" (सातवीं रिपोर्ट, पृष्ठ ३४)

पन्द्रहवां अध्याय

भारत में अमरीकी पादरी

ईसाई पादरी

भारत में दो हज़ार अमरीकी पादरी हैं। वे लगभग दस लाख भारतीय ईसाइयों के बीच काम करते हैं और मिशनरी स्कूलों, अस्पतालों, वाई. एम. सी. ए., वाई. डब्ल्यू. सी. ए. आदि के ज़रिये लाखों गैर-ईसाई हिन्दुस्तानियों से उनका सम्पर्क है। देश का कोई भाग ऐसा नहीं है जहाँ ये लोग न मौजूद हों। यहाँ तक कि नागा की पहाड़ियों और भारत-नेपाल सीमा जैसे सैनिक महत्व के इलाक़ों में भी अमरीकी पादरी जमे हुए हैं।

कुछ वर्षों से अमरीका दिनोंदिन इस बात की कोशिश कर रहा है कि गिरजा घरों को और ईसाई धर्म के संगठनों को अपने कम्युनिस्ट-विरोधी संघर्ष में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया जाय। अमरीकी गिरजा घर और धार्मिक संगठन भी खुलकर राजनीतिक वाद-विवाद में हिस्सा लेने लगे हैं। और अब भारत में तैनात अमरीकी पादरियों में भी यह प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी है।

५ मई, १९४८ को अमरीका के मेथोडिस्ट गिरजा घर के वृहद सम्मेलन ने संसार भर में कम्युनिज़्म के खिलाफ़ जिहाद छेड़ने और उस पर चार वर्ष में ५ करोड़ डालर खर्च करने का फ़ैसला किया। ऐलान किया गया कि दो सौ युवा दम्पत्तियों को कम्युनिज़्म से संघर्ष करने की शिक्षा देकर दुनिया के प्रत्येक ऐसे इलाक़े में भेजा जायगा जिसे कम्युनिज़्म से खतरा है। भारत को इस कार्यक्रम में विशेष स्थान दिया गया।

दिसम्बर १९४९ में गिरजा घरों की विश्व समिति और अन्तरराष्ट्रीय मिशनरी काउंसिल के संयुक्त तत्वावधान में बंगौक में एक पूर्वी एशियाई

सम्मेलन हुआ जिसमें भारतीय प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। इस सम्मेलन में अन्तरराष्ट्रीय मिशनरी काउंसिल के अमरीकी प्रधान मंत्री रेवरेण्ड सी० डब्ल्यू० रैन्सन ने एक रिपोर्ट पेश की। उस पर विचार करने के बाद सम्मेलन ने तै किया कि एशिया में कम्युनिज़्म का कैसे मुक़ाबला किया जाय।

उपरोक्त दोनों समितियों की एक संयुक्त बैठक फिर जुलाई १९५० में टोरन्टों में हुई। उसने न्यू यौर्क की यूनियन थियोलौजिकल सेमिनरी के प्रोफ़ेसर रेवरेण्ड जौन सी० बैनेट को नियुक्त किया कि वह एशिया जाकर "स्थानीय ईसाई संस्थाओं और दलों से उन समस्याओं पर परामर्श करें जो कम्युनिज़्म की प्रगति के कारण पैदा हो गयी हैं।" बैनेट साहब ने लाहौर, दिल्ली, हैदराबाद, मद्रास, बंगलौर, कोट्टायम, त्रिवेंद्रम और कलकत्ता में विचार विनिमय करने के बाद रिपोर्ट दी कि :

> "प्रत्येक देश में कुछ ऐसे ईसाइयों का एक दल होना चाहिये, जो कम्युनिज़्म के बारे में पूरी जानकारी रखते हों, जिन्हें कम्युनिस्ट सिद्धान्तों का ज्ञान हो और जो कम्युनिस्ट दाँव-पेंच से भी परिचित हों। इन लोगों को इसकी भी पूरी जानकारी होनी चाहिये कि जिन देशों में कम्युनिस्टों का राज्य है, विशेष कर चीन में, वहां वास्तव में क्या हुआ है।..."

बैनेट साहब के सुझाव पर १९५१ के शुरू में बंगलौर में, "सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं के अध्ययन के लिये केन्द्रीय ईसाई इंस्टीच्यूट" की स्थापना की गयी। त्रावणकोर के ए० के० थम्पी नामक एक युवक को, जिसके बारे में कहा जाता है कि उसने कम्युनिज़्म का काफ़ी अध्ययन किया है, इस इंस्टीच्यूट का कार्यवाहक मंत्री नियुक्त किया गया। पहला कोर्स ४ जून से १५ जून, १९५१ तक हुआ। उसमें ४० विद्यार्थियों ने भाग लिया। उन्हें यह सिखाया गया कि भारत में कम्युनिज़्म की चुनौती का ईसाई धर्म क्या जवाब देता है।

कुछ व्यक्तियों को विशेष रूप से छाँट कर अमरीका में ट्रेनिंग पाने के लिये भेजा गया। इलाहाबाद के ईविंग क्रिश्चियन कालेज के अमरीकी शिक्षक जौन बाथगेट को और बंगलौर के युनाइटेड थियोलौजिकल कालेज के त्रावणकोरी शिक्षक जे० रसेल चन्द्रन को १९५० में अमरीका की यूनियन थियोलौजिकल सेमीनरी में भारतीय कम्युनिज़्म का अध्ययन करने के लिये भेजा गया था।

एशिया में जितने ईसाई गिरजा घर और संगठन हैं, उनका एक संयुक्त सम्मेलन गिरजा घरों की विश्व काउंसिल ने नवम्बर १९५१ में मनीला में बुलाया था। इस सम्मेलन ने सभी सच्चे ईसाइयों को आदेश दिया कि वे "कम्युनिज़्म का विरोध करें और कम्युनिस्ट-पीड़ित देशों की मुक्ति के लिये भगवान से प्रार्थना करें।"

१८ अप्रैल, १९५२ को अमरीका की ईसाई गिरजा घरों की राष्ट्रीय समिति के विदेशी मिशन विभाग की भारतीय समिति ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की। उसमें "पिछले चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी की अप्रत्याशित सफलताओं" का मुक़ाबला करने के तरीक़े सुझाये गये थे।

बाथगेट और चन्द्रन के एक लेख से पता चलता है कि ईसाई पादरी इतने क्यों परेशान हैं। वे लिखते हैं कि त्रावणकोर के कुछ व्यापारियों को छोड़ कर भारतीय ईसाई आम तौर पर धनी नहीं हैं। गिरजा घर या संगठित ईसाई धर्म ने तो कभी भी एक उग्रवादी सामाजिक शक्ति के रूप में काम नहीं किया है। परन्तु साधारण भारतीय ईसाई सामाजिक परिवर्तन के ख़िलाफ़ नहीं हैं। बहुत से ईसाई कम्युनिज़्म और ईसाई धर्म को परस्पर विरोधी चीज़ें नहीं समझते। ईसाई विद्यार्थी, कम्युनिस्ट विद्यार्थियों के साथ सहयोग करते हैं और वी० चक्काराई चेट्टियार नामक एक ईसाई तो अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अध्यक्ष बन गया है। (**इंटरनेशनल रिव्यू ऑफ़ मिशन्स** के जनवरी १९५१ के अंक में बाथगेट और चन्द्रन का "भारतीय कम्युनिज़्म और भारतीय गिरजा घर" शीर्षक लेख)

इस प्रकार अमरीकी पादरी, राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करने पर उतारू हो गये हैं और इसलिये अब वे उन विशेष सुविधाओं के अधिकारी नहीं रह गये हैं जो विशुद्ध धार्मिक कार्यकर्ताओं को मिलती हैं।

अंग्रेज़ों के दिनों से ही मिशनरी स्कूलों-कालेजों और अस्पतालों को सरकार से आर्थिक सहायता मिलती रही है। पिछले वर्ष, जब भारत सरकार ने अमरीका से कर्ज़ पर गेहूँ ख़रीदा तो उसने अमरीकी सरकार का यह सुझाव मान लिया कि भारत में काम करने वाले अमरीकी मिशनरी अस्पतालों के पास छः अमरीकी संस्थाओं की तरफ़ से जितना भी सामान भेजा जायेगा, उसके देश के अन्दर आने-जाने आदि का सब ख़र्चा भारत सरकार देगी। याद रहे

कि भारत सरकार ने ग़ैर-अमरीकी मिशनरी संस्थाओं या भारतीय संस्थाओं को ऐसी कोई सुविधा नहीं दी है।

भारतीय ईसाइयों को अपने राजनीतिक मतभेदों को अलग रख कर, अमरीकी पादरियों की हरकतों पर गम्भीरता से ध्यान रखना चाहिये। नहीं तो वह समय आ सकता है जब अमरीकी पादरियों की मदद करने वाले भारतीयों को यहां की जनता विदेशी एजेन्ट और देशद्रोही समझने लगे। जब तक भारतीय गिरजा घर और ईसाइयों के धार्मिक संगठन विदेशी संस्थाओं के नियंत्रण से मुक्त नहीं होंगे और आर्थिक तथा संगठनात्मक दृष्टि से पूर्णतः स्वतंत्र नहीं होंगे, तब तक बाकी भारतीय जनता से ईसाई सम्प्रदाय के कट जाने का ख़तरा सदा बना रहेगा।

भारतीय ईसाई गिरजा घर और संगठन स्वतंत्र हों—इसमें देश की सारी जनता का हित है। किसी विशेष धार्मिक सम्प्रदाय का राजनीतिक उद्देश्य के लिये इस्तेमाल किया जाना और एक विदेशी सरकार का हमारी सरकार पर इस सम्प्रदाय की आर्थिक सहायता करने के लिये दबाव डालना—ये ऐसी बातें हैं जिनको यदि नहीं रोका गया, तो ख़तरनाक नतीजे हो सकते हैं।

'नये ढंग' के 'पादरी'

अमरीकी पादरी तो कई पीढ़ियों से भारत में ईसामसीह का सन्देश फैला ही रहे थे। अब हाल में एक नये ढंग के अमरीकी 'पादरियों' ने भी भारत पर कृपा की है। अमरीकी कार्यक्रम के 'चौथे सूत्र' के अन्तर्गत आने वाले विशेषज्ञ, व्यक्ति-विनिमय कार्यक्रम के अन्तर्गत आनेवाले प्रोफ़ेसर और विद्यार्थी और 'सांस्कृतिक स्वतंत्रता सम्मेलन' में आनेवाले अमरीकी प्रतिनिधि—सभी को हम इन नये ढंग के पादरियों में गिनते हैं। उनमें सबसे जोरदार अमरीकी मज़दूर यूनियनों के दूत होते हैं।

२० अप्रैल, १९५० को स्वयं राष्ट्रपति ट्रूमन ने इन 'मज़दूर पादरियों' का महत्व स्वीकार करते हुए कहा था :

> "यदि अमरीकी मज़दूर यूनियनों के सदस्य विदेशों में जाकर वहां के मज़दूरों को स्वतंत्र अमरीकी मज़दूरों की कहानी सुनायें, तो सरकारी कर्मचारियों के दर्जनों भाषणों से अधिक और बेहतर कम्युनिस्ट-विरोधी प्रचार हो सकेगा।"

अमरीका की प्रमुख मजदूर संस्थाओं ने भूतपूर्व अमरीकी राष्ट्रपति की इस सलाह को मान लिया है और वे सरकारी संस्थाओं से पूरा सहयोग कर रही हैं।

जून १९४८ में अमरीकी फ़ेडरेशन औफ़ लेबर (ए. एफ़. एल.) की स्वतंत्र ट्रेड यूनियन कमिटी ने अन्तरराष्ट्रीय मजदूर संगठन (आई. एल. ओ.) के सान फ्रांसिस्को अधिवेशन में आये हुए एशियाई प्रतिनिधियों से सम्पर्क क़ायम किया और उनके सामने एशिया में एक कम्युनिस्ट-विरोधी मजदूर संगठन बनाने का सुझाव रखा। उसके सुझावों में एशियाई ट्रेड यूनियन संगठन-कर्ताओं को शिक्षा देने के लिये एक मजदूर कालेज खोलने का प्रस्ताव भी शामिल था।

नवम्बर-दिसम्बर १९४९ में लन्दन में एक 'स्वतंत्र' मजदूर सम्मेलन हुआ जिसमें एक 'अन्तरराष्ट्रीय स्वतंत्र मजदूर संघ' की स्थापना की गयी। भारत की इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (राष्ट्रीय मजदूर संघ या इंटक) और हिन्द मजदूर सभा दोनों के प्रतिनिधि इस सम्मेलन में शरीक थे और ये दोनों संस्थाएँ इस संघ में शामिल हो गयी हैं।

इस सम्मेलन ने एक घोषणापत्र निकाला जिसमें सोवियत संघ और पूर्वी योरप के जनवादी देशों में "पुलिस राज के नीचे दबी हुई जनता की, एकतंत्री अत्याचार से मुक्त होने की कोशिशों" का समर्थन किया गया था।

सम्मेलन में बार-बार इस बात पर चिन्ता प्रकट की गयी कि पिछड़े हुए देशों के मजदूर यूनियनों में कम्युनिस्टों का असर बढ़ता जा रहा है। अमरीकी और ब्रिटिश प्रतिनिधियों ने जोर दिया कि उन्नत देशों के यूनियनों से पैसे लेकर पिछड़े हुए देशों में कम्युनिस्ट-विरोधी यूनियन बनाये जायें, और उनका संगठन करने के लिये क्षेत्र-कमिटियाँ क़ायम की जायें। यह बात यहां तक बढ़ी की इंटक की प्रतिनिधि डॉ० मैत्रेयी बोस तक को कहना पड़ा कि :

> "यह बिल्कुल सही है कि क्षेत्र-कमिटियाँ बननी चाहिये, परन्तु इसके साथ ही मैं यह भी कहना चाहती हूँ कि इन कमिटियों को बाहर से बहुत मदद नहीं मिलनी चाहिये। उन्हें स्वतंत्र इकाइयों की तरह काम करना चाहिये। जहाँ तक उन्नत देशों से आर्थिक और दूसरे ढंग की मदद लेने का सवाल है, मेरी राय है कि जरा सोच-समझ कर उनसे मदद लेनी चाहिये। पिछड़े हुये देशों के ऊपर विदेशी असर

नहीं लादना चाहिये। मुझे डर है कि यदि ऐसी कोई बात की गयी तो हमारा उद्देश्य पूरा नहीं होगा।"

फिर भी, अमरीकी मज़दूर संगठन, 'अन्तरराष्ट्रीय स्वतंत्र मज़दूर संघ' के ज़रिये और प्रत्यक्ष रूप से, एशियाई मज़दूर आन्दोलन में सक्रिय ढंग से हस्तक्षेप कर रहे हैं।

१९५० में इस संघ ने अपना एक प्रतिनिधि-मण्डल दक्षिण-पूर्वी एशिया में भेजा। मण्डल में दो अमरीकी थे, एक अंग्रेज, एक बेल्जियन और एक इंटक का प्रतिनिधि हिन्दुस्तानी था। इन लोगों ने सिफ़ारिश की कि सिंगापुर में इस संघ का सूचना केन्द्र खोला जाय और भारत में उसके प्रतिनिधि स्थायी रूप से तैनात किये जायें तथा लंका और सिंगापुर में दो मज़दूर कालेज खोले जायें।

मई १९५१ में इस संघ ने कराँची में एशियाई क्षेत्रीय सम्मेलन किया। इसमें अमरीकी फ़ेडरेशन औफ़ लेबर, कुओमिन्तांग के फ़ार्मोसा स्थित मज़दूर संगठन, और दक्षिण कोरियाई फ़ेडरेशन औफ़ लेबर के प्रतिनिधि शरीक हुए थे। कोरियाई प्रतिनिधि ने वहाँ एक प्रस्ताव पेश किया जिसमें सभी मज़दूर संगठनों से कहा गया था कि वे कोरिया के बारे में "संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्तावों को कार्यान्वित कराने के लिये उचित कार्रवाई करें, आक्रमणकारी को लड़ाई का सामान भेजना बन्द करायें और जो कुछ मदद कर सकते हैं, करें।" यह प्रस्ताव भारत तथा पाकिस्तान के जनमत के ही नहीं, उनकी सरकारों की नीति के भी विरुद्ध था। फिर भी, इंटक के नेता श्री हरिहरनाथ शास्त्री ने सम्मेलन में ऐलान किया कि :

"कम से कम हमें जो कुछ करना चाहिये, वह यह है कि इस प्रस्ताव का हम हार्दिक समर्थन करें।"

सरकार के बल पर खड़े हुए अखिल पाकिस्तानी कॉनफ़ेडरेशन औफ़ लेबर के प्रतिनिधि फ़ैज अहमद ने कहा :

"मैं इस प्रस्ताव की दिल से ताईद करता हूँ।"

जून १९५१ में संघ का दूसरा अधिवेशन मिलान में हुआ। उसमें निश्चय किया गया कि पिछड़े हुए देशों में, विशेष कर एशिया में मज़दूरों का संगठन खड़ा करने के लिये ढाई लाख पौण्ड का एक विशेष फ़ण्ड खोला जाय।

अमरीकी यूनियनों के नेता एशियाई यूनियनों की मदद करने को इतने उत्सुक क्यों हैं, यह स्पष्ट हो जायगा यदि हम विचार कर लें कि यह मदद है किस प्रकार की। संघ की ओर से जो प्रतिनिधि-मण्डल दक्षिणी एशिया का दौरा करने आया था, उसके अध्यक्ष एफ० डब्ल्यू० डैली ने बताया है कि ब्रिटिश उपनिवेशों के मजदूर यूनियनों के नेताओं की शिक्षा का एक कार्यक्रम ब्रिटेन में चलाया गया था, पर वह सफल नहीं हुआ। डैली ने आगे लिखा है :

> "...कुछ नेता वज़ीफ़े पाकर विदेश गये थे। लौटने पर उन्होंने पाया कि उनके देश का समाज उनकी नयी शिक्षा का स्वागत करने को तैयार नहीं है। वहां मज़दूर यूनियनों की सदस्य संख्या इस तरह गिरती जा रही है कि वे अपने मुख्य कर्मचारी को उचित तनख़ा भी नहीं दे सकते। ऐसी परिस्थिति में ये लोग सरकार या व्यापारी फ़र्मों की नौकरियाँ तलाश करने लगते हैं और मज़दूर आन्दोलन से किनारा कस लेते हैं।"

भारत में सबसे पहले मज़दूरों के संगठन का काम उन लोगों ने शुरू किया था जो असल में उदार दिल वाले व दानशील लोग थे और इस काम को भी समाज सेवा का अंग समझते थे। बाद में, कम्युनिस्टों से प्रेरणा पाकर यहां नये प्रकार के मज़दूर नेता पैदा हुए जो या तो स्वयं मज़दूर होते थे या अपने को मज़दूरों में घुला-मिला देते थे। स्वतंत्र मज़दूर संघ एक तीसरे तरह के—अमरीकी ढंग के—नेता तैयार कर रहा है जो मोटी तनख़ाएँ लेंगे और अपने को मज़दूरों का अफ़सर या अधिक से अधिक वकील समझेंगे।

भारत और पाकिस्तान में इस संघ का रंग अभी से दिखाई देने लगा है। यह संघ मार्शल योजना, अटलान्टिक समझौते, शुमन योजना आदि का समर्थन करता है और सोवियत रूस तथा चीन का विरोधी है। भारत और पाकिस्तान का जनमत इस नीति के पक्ष में नहीं है। फिर भी दोनों देशों के प्रतिनिधियों ने संघ के ऐसे सभी प्रस्तावों का सदा समर्थन किया है।

अमरीकी फ़ेडरेशन औफ़ लेबर इस संघ से अलग, स्वतंत्र रूप से भी कार्य करता है। इससे इन 'मज़दूर पादरियों' और अमरीकी सरका का सम्बंध स्पष्ट हो जाता है।

जुलाई १९४९ में, अमरीकी फ़ेडरेशन औफ लेबर की स्वतंत्र मज़दूर यूनियन कमिटी ने बम्बई में अपना एक दफ़्तर खोला। इसके प्रधान मि०

रिचर्ड डेवरेल बनाये गये जो पहले मैकार्थर के मज़दूर सलाहकार थे। इन सज्जन ने यहां आते ही राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। १९५० में इंडियन काउंसिल औफ़ वर्ल्ड अफ़ेयर्स की बम्बई शाखा के सामने भाषण देते हुए उसने उत्तरी कोरिया और सोवियत संघ को गालियाँ दीं। १२ अप्रैल, १९५२ को उसने, करांची से एक बयान दिया जिसमें कहा गया था कि कोरिया में कीटाणु-युद्ध करने का अमरीका पर जो आरोप लगाया जा रहा है, वह निराधार है। स्वतंत्र मज़दूर यूनियन कमिटी के मंत्री जौर्ज मीनी ने **अमरीकन फेडरेशनिस्ट** के अप्रैल १९५१ के अंक में ऐलान किया था :

> "भारत में हमने एक बहुत सक्रिय दफ़्तर खोल रखा है। यह दफ़्तर न सिर्फ़ अमरीका के बारे में सूचना प्रसारित करता है, वह न सिर्फ़ हमारे देश और हमारी संस्थाओं के खिलाफ़ कम्युनिस्टों के ज़हरीले प्रचार का मुक़ाबिला करने में केन्द्र का काम देता है, बल्कि वह भारतीय मज़दूर आन्दोलन का भी पथ-प्रदर्शन करता है...।"

इस प्रकार अमरीकी फेडरेशन औफ़ लेबर राजनीतिक काम को अपना मुख्य कार्य मानता है और मज़दूर संगठन को गौण स्थान देता है। बल्कि सच तो यह है कि इस संगठन के अध्यक्ष ग्रीन के कथनानुसार वह अपनी अनुचित राजनीतिक कार्रवाई से आगे बढ़ कर अमरीकी गुप्तचर विभाग की मदद भी करने को तैयार है। मई १९५० के **अमरीकन फेडरेशनिस्ट** के अंक में ग्रीन ने फ़ेडरेशन के सदस्यों को आदेश दिया था कि सोवियत रूस, पूर्वी योरप और चीन में "गुप्त शक्तियों" की मदद करने के लिये उन्हें जत्थेबन्दी शुरू कर देनी चाहिये।

यह संगठन अमरीकी सरकार की सलाह से काम करता है—यह सहायक विदेश मंत्री एडवर्ड बैरट के उस लेख से सिद्ध हो चुका है जो **अमरीकन फेडरेशनिस्ट** के अप्रैल १९५१ के अंक में प्रकाशित हुआ था। उसमें लिखा था :

> "हम जानते हैं कि मज़दूरों के पास जाने का सबसे अच्छा तरीक़ा मज़दूर यूनियनों के ज़रिये ही है।...

"...हमने अमरीकी मज़दूर आन्दोलन से कहा है कि दुनिया में अमरीका का सन्देश फैलाने में वह हमारी मदद करे।...

"मज़दूर यूनियनों के नेताओं और सरकार के प्रतिनिधियों ने आपस में सलाह करके प्रचार के लिये कुछ ऐसी सामग्री इकट्ठा की है जो बहुत लाभदायक साबित हो सकती है।..."

वाल स्ट्रीट के बड़े पूँजीपतियों के मुखपत्र **बिजनेस वीक** ने तो और भी साफ़गोई से काम लिया। उसने २१ जुलाई, १९५१ को लिखा :

"ठण्डे युद्ध ने अमरीका के बड़े-बड़े मज़दूर यूनियनों के काम को एक तरह से वैदेशिक विभाग का काम बना दिया है। जब एक बार अमरीकी यूनियन अमरीका की वैदेशिक नीति को विदेशों में आगे बढ़ाना स्वीकार कर लेते हैं, तो एक ऐसे क्षेत्र में, जिसका सचमुच बड़ा महत्व है, यानी विदेशी मज़दूर यूनियनों पर सरकारी महकमों की अपेक्षा वे अपने ज़रिये कहीं अधिक असर डाल सकते हैं।

"उदाहरण के लिये फ्रांस में यदि कोई कम्युनिस्ट-विरोधी मज़दूर संगठन अमरीकी सरकार से आर्थिक सहायता लेना क़बूल कर ले, तो वह एकदम बदनाम हो जायगा। परन्तु यदि यही मदद उसे अमरीकी फ़ेडरेशन ऑफ लेबर या सी. आइ. ओ. से मिले या स्वतंत्र मज़दूर यूनियन संघ के कोष में अमरीकी यूनियनों द्वारा दिये गये चन्दे में से प्राप्त हो, तो मामले की शक्ल बिल्कुल दूसरी बन जायगी।"

अमरीकी फ़ेडरेशन औफ लेबर न केवल सोवियत और चीन का विरोधी है, बल्कि वह वर्तमान भारत सरकार की नीति और भारतीय जनता के बहुमत की भावनाओं के भी ख़िलाफ़ है। १९५१ में उसकी स्वतंत्र मज़दूर यूनियन कमिटी ने—**सोवियत साम्राज्यवाद एशिया को लूटता है**—शीर्षक से एक पुस्तिका प्रकाशित की थी जिसमें भारत सरकार की चीन से मित्रता रखने की नीति की सख़्त आलोचना की गयी थी। यही नहीं, इसके साथ-साथ पुस्तिका में मज़दूरों को भी एक अनोखा उपदेश सुनाया गया था :

"आज मानवता को दो वस्तुओं में से एक को चुनना है। एक ओर मानवोचित सद्व्यवहार है; दूसरी ओर है कम्युनिस्ट तानाशाही। इस

केन्द्रीय सवाल के सामने दूसरी सारी बातें, दूसरे सारे सवाल वे चाहे देशी सवाल हों या विदेशी, फिलहाल गौण बन गये हैं।"

यानी इन 'पादरियों' के लिये खुद मज़दूर वर्ग के दुख-दर्द के सवाल, उनकी मांगें भी अब गौण हो गयी हैं। उनके लिये सारा महत्व केवल उनकी राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं और अमरीका की वैदेशिक नीति का है। ऐसी हालत में भारतीय जनता उन्हें मज़दूर नेता नहीं मान सकती। वह उन्हें विदेशी राजनीतिक प्रचारक ही मान सकती है। भारत के जो मज़दूर नेता इन लोगों को हमारे देश में बुलाते हैं और उनकी बेजा राजनीतिक हरकतों के खिलाफ़ चूँ तक नहीं करते हैं, और जो विदेशियों के छेड़े हुए राजनीतिक जेहादों में भाग लेने को सदा तैयार रहते हैं, एक न एक दिन उन्हें जनता के सामने अपनी कार्रवाइयों के लिये ज़रूर जवाब देना पड़ेगा।

सोलहवां अध्याय

भारत में अमरीकी संस्कृति

फ़िल्में और किताबें

अमरीका एक ओर अपने राजनीतिक प्रचारकों के जरिये भारतीयों को व्यक्तिगत रूप से मनोवैज्ञानिक युद्ध के लिये भर्ती करता है; दूसरी ओर फ़िल्मों और साहित्य के जरिये वह हमारे पूरे देश के मन पर प्रभाव डालने और हम सभी के दृष्टिकोण को विकृत करने का प्रयत्न करता है।

भारतीय फ़िल्म व्यवसाय में हौलीवुड ने अपने पैर जमा लिये हैं। भारतीय सिनेमा घरों में आज अंग्रेजी भाषा में अमरीकी फ़िल्में, भारतीय फ़िल्मों से कहीं अधिक संख्या में दिखायी जाती हैं:

भारत में दिखायी गयी बड़ी फिल्मों की संख्या

वर्ष	भारतीय या पाकिस्तानी फिल्में	अमरीकी फिल्में
१९४०–४७ (वार्षिक औसत)	१६५	२१९
१९४८	२६०	१९०
१९४९	२३१	२२४
१९५०	१४४	१८३

भारत में दिखायी जाने वाली अमरीकी फ़िल्मों से हर साल एक करोड़ रुपये से अधिक का मुनाफ़ा होता है। परन्तु भारतीय फ़िल्मों को अमरीका में दिखाने की कोई सुविधा नहीं है। भारत के सबसे अच्छे सिनेमा घरों में केवल हौलीवुड की फ़िल्में दिखायी जाती हैं। थोड़े दिन से कुछ अमरीकी कम्पनियों ने भारत में ही फ़िल्में बनाना शुरू कर दिया है, ताकि मुद्रा विनिमय सम्बंधी बंधनों से उन्हें परेशानी न हो। कुछ अमरीकी कम्पनियाँ।

भारतीय कम्पनियों को साझी बनाकर फ़िल्में बना रही हैं। भारतीय फ़िल्म उद्योग दुनिया का दूसरे नम्बर का फ़िल्म उद्योग है, परन्तु हौलीवुड की असमान प्रतियोगिता से उसे स्वयं अपने देश में नुक़सान उठाना पड़ रहा है।

हौलीवुड में बनी फ़िल्मों की कुछ विशेषताएँ होती हैं। कहने को उनका उद्देश्य मात्र मनोरंजक होता है। परन्तु भारत के बारे में यदि कोई फ़िल्म वहाँ बने तो लाज़िमी है कि उसमें भारत का मखौल बनाया जाय। औपनिवेशिक देशों के लोगों और हब्शियों के बारे में भी यही बात सच है।

हौलीवुड में बनी बहुत सी फ़िल्मों में बर्बरता, क्रूरता और भाँति-भाँति के अपराधों का बखान किया जाता है। उनका नवयुवकों पर कितना घातक प्रभाव पड़ता है, इसकी संसार के प्रत्येक देश के लोगों ने सख़्त आलोचना की है। ऐसी ज़हरीली फ़िल्मों को देश में बिना रोक-टोक के आने देना कहाँ की बुद्धिमानी है ?

और अब हौलीवुड में ऐसी फ़िल्में भी बनने लगी हैं जिनमें किसी न किसी ढंग से युद्ध का प्रचार किया जाता है और सोवियत संघ तथा चीन के ख़िलाफ़ होने वाले भावी युद्धों के गीत गाये जाते हैं। ऐसी फ़िल्में अमरीकी सरकार के इशारे पर बन रही हैं।

पिछले चन्द वर्षों में अमरीकी फ़िल्म उद्योग में सरकार का हस्तक्षेप बहुत बढ़ गया है। १९४७ में ग़ैर-अमरीकी कार्यों की जाँच करने वाली कमिटी की मदद से अमरीकी फ़िल्म कम्पनियों ने बहुत से डायरेक्टरों, फ़िल्म के कहानी लेखकों और कलाकारों को प्रगतिशील विचार रखने के जुर्म में नौकरी से अलग कर दिया था। सारे फ़िल्म उद्योग में दमन और आतंक का राज क़ायम कर दिया गया है। हौलीवुड में पहले कुछ इनी-गिनी प्रगतिशील फ़िल्में बन जाती थीं, और उनसे मुनाफ़ा भी ख़ूब होता था; पर अब उनका बनना भी बिल्कुल बन्द हो गया है। फ़िल्म कम्पनियों के मालिक सरकार का हुक्म बजाने लगे हैं। १९४९ में रक्षा मंत्री लुई जौन्सन ने अमरीका के सिनेमा घरों के मालिकों के सम्मेलन के सामने बोलते हुए कहा था :

> "हमारे सामने जो काम है, उसमें रक्षा विभाग को फ़िल्म उद्योग का पूरा सहयोग मिलने का भरोसा है।"

इसके थोड़े दिन वाद सरकार ने दो समुद्री जहाज़ एक फ़िल्म कम्पनी को दिया ताकि वह अपनी फ़िल्म **टास्क फोर्स** का, जिसका विषय युद्ध है, पहला प्रदर्शन खूब तड़क-भड़क के साथ कर सके। विश्व शान्ति आन्दोलन की एटम-बम विरोधी स्टौकहोम अपील के जवाब में अमरीकी सरकार एक फ़िल्म बनवाना चाहती थी। हौवर्ड ह्यूज़ नामक फ़िल्म निर्माता ने १९५० के अन्त में **हाई फ्रंटियर** बनाकर सरकार की इच्छा पूरी कर दी। १९५१ में सरकार की अनुमति से जर्मन जनरल रोमेल की प्रशंसा में एक फ़िल्म बनायी गयी। इसका नाम **डेज़र्ट फ़ौक्स** था। वाल्टर वैंगर नामक फ़िल्म-निर्माता ने १९५० में कहा था कि अमरीकी सरकार के लिये फ़िल्में यानी सिनेमा, हाइड्रोजन बम से भी ज़्यादा ज़रूरी हैं।

फ़िल्मों के बारे में जो कुछ हमने कहा, वह किताबों के बारे में भी सच है। भारतीय नगरों में किताबों की दूकानों पर ज़्यादातर अमरीकी किताबें दिखाई देती हैं। अखबारों और पत्रिकाओं की दूकानें सस्ते अमरीकी उपन्यासों और गन्दी अमरीकी पत्रिकाओं से भरी रहती हैं। ऊपर से अमरीकी प्रचार विभाग बहुत सी पत्र-पत्रिकाएँ मुफ़्त में बाँटता है। भारतीय समाचार पत्रों में अमरीकी पत्रों से ले-लेकर लेख छापे जाते हैं। उनकी विषय-वस्तु हौलीवुड की फ़िल्मों की विषय-वस्तु से बेहतर नहीं होती।

भारत पर अमरीकी विचारों का प्रभाव

अमरीकी किताबों, फ़िल्मों और प्रचार ने अमरीकी विचारों को भारत में फैला दिया है। विज्ञापन करने में अमरीकियों की होशियारी का क्या कहना। अमरीकी विचारों का भी खूब विज्ञापन किया गया है। नतीजा यह हुआ है कि अनेक भारतीय बुद्धिजीवियों ने अमरीकी विचारों को अपना लिया है। इसके दो उदाहरण काफ़ी होंगे।

राजनीतिक विचारों के क्षेत्र में "शून्य के सिद्धान्त" को लीजिये। अमरीकन फ़ौरेन पौलिसी एसोसियेशन (अमरीकी वैदेशिक नीति संघ) की सदस्या वीरा माइकेल्स डीन ने हाल में अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति का इन शब्दों में वर्णन किया था :

> "जर्मनी और जापान की हार, फ्रांस और इटली के पतन, और विशेष कर ब्रिटेन के कमजोर हो जाने के कारण सारे संसार में जगह

-जगह शून्य के क्षेत्र बन गये हैं। प्रकृति की तरह बड़ी शक्तियाँ भी शून्य से घृणा करती हैं। अतः सबसे बड़ी दो शक्तियाँ, अमरीका और रूस अधिकाधिक इन शून्य के क्षेत्रों की ओर झुकती जाती हैं...।"

इस प्रकार "शून्य के सिद्धान्त" के द्वारा दूसरे देशों में अमरीकी हस्तक्षेप को स्वाभाविक और उचित क़रार दे दिया गया है। कोई देश साम्राज्यवाद से मुक्त हो जाय तो अमरीकी राजनीतिक विचारकों की नज़रों में वह फ़ौरन "शून्य का क्षेत्र" बन जाता है और अमरीका को उसके मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार मिल जाता है।

आश्चर्य की बात यह है कि बहुत से भारतीय लेखकों ने इस सिद्धान्त को सच मान लिया है। श्री वेंकटरंगैय्या जैसे विद्वान तक ने लिखा है कि:

"...पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में आजकल शक्ति के मामले में वह परिस्थिति पैदा हो गयी है जिसे शून्य कहा जाता है...परन्तु अन्य क्षेत्रों की भाँति शक्ति के क्षेत्र में भी बहुत दिन तक शून्य क़ायम नहीं रह सकता। देर या सवेर उसका भरा जाना लाज़िमी है। एशिया में आज एक ही शक्ति है जो इस शून्य को भर सकती है; वह है सोवियत रूस।" (**भारत-अमरीका सम्बंध** शीर्षक साइक्लोस्टाइल लेख)

अन्त में श्री वेंकटरंगैय्या ने सुझाव दिया है कि इस सम्भावना से बचने के लिये अमरीका को भारत से सहयोग लेना चाहिये।

इन बुद्धिजीवियों को शायद यह बात याद नहीं रहती कि इस अमरीकी सिद्धान्त के अनुसार अंग्रेज़ी शासन के हटने के बाद से भारत भी 'शून्य का क्षेत्र' बन गया है।

एक और बहुत प्रचलित अमरीकी सिद्धान्त "फ़ालतू आबादी" का सिद्धान्त है।

२८ जनवरी, १९५२ को अमरीकी शरणार्थी कमीशन के सदस्य, हैरी एन. रोज़ेनफ़ील्ड ने ऐलान किया था:

"मेरा विश्वास है कि अमरीका को दूसरे देशों के साथ मिल कर 'फ़' बम पर अन्तरराष्ट्रीय नियंत्रण लागू करना चाहिये।"

'फ़' वम का मतलब है "फ़ालतू आवादी" का वम जिससे "हताशा निराशा, धूर्त नेताओं की सफलता, हिंसा—और फिर युद्ध" जैसे भयानक परिणाम हो सकते हैं।

अमरीका में इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा प्रचारक विलियम वोग्ट है। **बचने का मार्ग** नामक अपनी पुस्तक में उसने ब्रिटेन पर आरोप लगाया है कि उसने भारत में युद्धों और अकाल को रोक कर वहाँ की आवादी को वेतहाशा वढ़ने दिया है। उसके शब्दों में, अंग्रेज़ों के राज में :

"हिन्दुस्तानी अपनी आदत के मुताविक मछलियों की तरह अंधाधुंध वच्चे पैदा करते गये।"

आगे वोग्ट ने लिखा :

"यदि भारत का जोरों से औद्योगीकरण हो गया और उसकी आवादी इसी तरह वढ़ती गयी तो सारी दुनिया के लिये खतरा पैदा हो जायगा। अंग्रेज़ों के जाने के वाद भारत में जो उपद्रव हुए उनसे फिर आवादी के वढ़ने पर वे वंधन लग गये ...। यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि इन उपद्रवों से वड़े पैमाने पर वहाँ औद्योगीकरण भी रुक जायगा। हम सब को प्रार्थना करनी चाहिये कि ऐसा ही हो...।"

वोग्ट चाहता है कि भारत का औद्योगीकरण न होने पाये। साथ ही वह भविष्यवाणी करता है कि अंग्रेज़ों के जाने के वाद हमारे देश में अकाल, महामारी और खूनखच्चर का दौर जारी रहेगा :

"माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार देश के अन्दर खुद ऐसे तनाव पैदा होंगे जिनसे आने वाली कई पीढ़ियों तक भारत का विकास असम्भव हो जायगा।...वहुत सम्भव है कि अंग्रेज़ों के हट जाने से भारत में आवादी वढ़ने के वजाय घटने लगेगी। यदि भारत के लोगों के जीवन-स्तर को ऊपर उठाना है तो ऐसा होना अत्यन्त आवश्यक है।...पर कितना अच्छा होता यदि युद्ध, भुखमरी और महामारी के वदले केवल वच्चे पैदा करने पर रोक लगा कर साधारण, मानवोचित ढंग से हम आवादी को घटा सकते!"

कुछ वर्ष पहले इंगलैण्ड के टोरी, एमरी आदि, यह कहा करते थे कि भारत की ग़रीबी उसकी अधिक आबादी के कारण है। अब अमरीकियों ने इस सिद्धान्त को अपना लिया है।

आबादी की समस्याओं के एक दूसरे अमरीकी विशेषज्ञ डॉक्टर एल्मर पेन्डेल हैं। उनकी नयी किताब का नाम है : **बेलगाम आबादी**। डॉक्टर वाल्टर पिटकिन ने उसकी भूमिका में संसार के लोगों को इन दो वर्गों में बाँटा है : सस्ते लोग और महँगे लोग।

"जहाँ आबादी ज़्यादा है और खाने-पीने की चीज़ें कम हैं, वहाँ आदमी महँगे होते हैं; और जहाँ आबादी के लिहाज से भोजन काफ़ी मिलता है, वहाँ आदमी सस्ते होते हैं।...

"महँगा आदमी कैसा होता है? जिसके लालन-पालन पर बहुत ख़र्च हुआ हो, जिसे ख़र्चीली आदतें पड़ गयी हों, जो ऐसे कौशल जानता हो जिनके लिये दूसरे लोग बहुत रुपये देने को तैयार हों। ऐसा आदमी अपने को महँगा समझता है। जीवन का उसके लिये बड़ा महत्व होता है।...

"कम से कम साढ़े सात क़रोड़ अमरीकी कुछ उतार-चढ़ाव के साथ, इसी प्रकार का जीवन बिता रहे हैं।...

"पूरी दुनिया में महँगे आदमी बहुत कम हैं, शायद कुल मिला कर लगभग १५ करोड़। दुनिया में एक महँगा आदमी है तो चौदह सस्ते आदमी हैं। जहाँ सस्ते आदमियों की संख्या महँगे आदमियों से बहुत ज़्यादा होती है, वहाँ लोग आम तौर पर कमजोर, जाहिल, अंधविश्वासी और दब्बू होते हैं। इसलिये, इन कमजोरों पर शासन करने के लिये कुछ ताक़तवर लोग खड़े हो जाते हैं।...सस्ते आदमी उनका मुक़ाबला नहीं कर सकते।"

हिन्दुस्तानी, ज़ाहिर है कि सस्ते आदमियों में गिने जाते हैं। बल्कि असल में तो उनके जीवन का कुछ मूल्य ही नहीं है। वह आगे कहता है :

"रूस है गुलामों का एक विराट राज्य। और रूस के बाद मानो ग़रीबों के मुहल्ले आ जाते हैं जहाँ मानवता का मूल्य सस्ता होते-होते

'ज़ीरो' या शून्य हो जाता है और कहीं-कहीं तो उससे भी नीचे गिर जाता है।"

सस्ते आदमियों की संख्या अधिक होने के कारण संसार को बड़ा खतरा बताया जाता है :

"सबसे बड़ा खतरा बेलगाम आबादी से है। यह दुनिया ऐसे सस्ते आदमियों की है जो बहुत ग़रीब हैं और इसलिये इतने कमज़ोर हैं कि ज़ालिमों को लड़ कर नहीं हरा सकते।"

पिटकिन के सिद्धान्त को पेन्डेल और आगे बढ़ाता है :

"ओसबोर्न (**हमारा लुटा हुआ ग्रह** के लेखक फ़ेयरफ़ील्ड ओसबोर्न—ले०) कहता है कि ज़रूरत से ज्यादा आबादी दुनिया की **दुश्मन** है। यह सही है। परन्तु ज्यादा आबादी का मतलब है ज्यादा आदमियों का होना। और सीधी और सच्ची बात यह है कि जब आदमियों की तादाद इतनी ज्यादा बढ़ जाती है कि अपने और अपने परिवार के लिये भर पेट भोजन पाना भी नामुमकिन हो जाता है, तब ये सभी आदमी एक-दूसरे के दुश्मन बन जाते हैं। दुश्मन वह है जिसके कामों से हमें नुक़सान पहुँचता हो; और जब पड़ोसियों की संख्या इतनी बढ़ जाय कि वे एक-दूसरे की मदद करने से ज़्यादा एक-दूसरे की नोच-खसोट करने लगें, तब वे पड़ोसी भी दुश्मन बन जाते हैं।...

"भारत में, बच्चे पैदा करने वाला हरेक आदमी न सिर्फ़ अपने संगी-साथियों की खुशी में कमी करता है, बल्कि उनकी उम्र घटा देता है। भारत में लोग औसतन २१ वर्ष की उम्र में मर जाते हैं —अमरीका में लोग प्रायः ६४ वर्ष तक जिन्दा रहते हैं।"

यानी, भारत की कोई भी समस्या हल करनी है तो पहले उसकी आबादी घटाओ! भारतीय "पैदा इतना कम करते हैं कि उन्हें कभी खाने को नहीं मिल सकता।" भारत के लोगों से "बाक़ी मानवता को कोई लाभ नहीं होता, और न कभी भविष्य में होने की आशा है।" शिक्षा, इंजीनियरी, खेती की उन्नति, भूमि-सुधार—ये सब रोग के निदान नहीं हैं, ऊपर से मरहम-पट्टी

करने के नुस्खे हैं। "वुनियादी सवाल यह है कि जरूरत से ज़्यादा वच्चे पैदा किये जा रहे हैं।"

फिर हल क्या है ?

"यदि किन्हीं अन्तरराष्ट्रीय समझौतों के समय भारत से यह कहा जाय कि उसे अमुक व्यापार-सम्वंधी या अन्य सुविधा केवल इस शर्त पर दी जा सकती है कि वह अपनी आवादी कम करना मंजूर करे—तव भारत के क़ानून वनाने वाले इन सुविधाओं को दिखा कर लोगों के धार्मिक विरोध को शान्त कर सकेंगे और शायद भारत सरकार स्वयं संतति-निग्रह (वर्थ कण्ट्रोल) या किसी और ढंग से आवादी पर नियंत्रण करने का कार्यक्रम शुरू कर सकेगी।"

"जिस देश की आवादी इतनी अंधाधुंध वढ़ गयी हो, जैसे भारत की; तो अमरीका को चाहिये कि वह लोगों को प्रत्यक्ष रूप से वजीफ़े दे। पहला वच्चा पैदा होने पर पिता से कहा जाय कि यदि वजीफ़ा चाहते हो तो अपनी वच्चा पैदा करने की शक्ति को नष्ट कराना स्वीकार करो। वड़े परिवारों में वाप का भी ऑपरेशन हो जाना चाहिये और लड़के का भी—केवल उस लड़के को छोड़ कर जिसमें वच्चे पैदा करने की शक्ति सवसे अधिक हो; वे लड़के भी छोड़े जा सकते हैं जो राष्ट्र के उन वीस प्रतिशत लोगों में आ जायें जिनकी शक्ति दूसरों से अधिक है। वज़ीफ़े की रक़में जितनी ही वड़ी होंगी, उतने ही अधिक लोग इस कार्यक्रम की ओर आकर्षित होंगे और उतनी ही तेज़ी से देश का जीवन-स्तर ऊपर उठाया जा सकेगा।"

यह है, भारतीय जनता के प्रति अमरीकी विचारकों का दृष्टिकोण !

१९४६ में, जव वाशिंग्टन में भारत के प्रतिनिधि अकाल का खतरा रोकने के लिये उधार पर अनाज लेने की कोशिश कर रहे थे, तो एक अमरीकी अफ़सर ने जवाव दिया था :

"यह सव तो ठीक है; पर जव कुतिया वहुत से पिल्ले जन देती है, तो उनमें से कुछ को तो पानी में डुवा कर मार डालना ही पड़ता है।" (**न्यू यॉर्क टाइम्स**, १५ दिसम्वर, १९४७; डॉ० आर्थर उपहम पोप द्वारा एक पत्र में उद्धृत)

प्रधान मंत्री नेहरू की अमरीका यात्रा के समय १४ अक्तूबर, १९४९ को **यू० एस० न्यूज एंड वर्ल्ड रिपोर्ट** ने लिखा था :

"अमरीका में जो बहुत सा फ़ालतू गेहूँ जमा हो रहा है, उसे मि० नेहरू भूखी निगाहों से देख रहे हैं...।

"परन्तु, मि० नेहरू को पहले उन लोगों को समझाना पड़ेगा जिनकी राय में भारत को और भोजन देने का मतलब उसकी आबादी को बढ़ाना है, और जो कहते हैं कि इस तरह अनाज देकर भोजन और आबादी का सामंजस्य नहीं बैठाया जा सकता।"

आश्चर्य और दुख की बात यह है कि कुछ भारतीय विद्वान इस बेईमानी से भरे सिद्धान्त को भी घोल कर पी गये हैं। मिसाल के लिये अन्नामलाई विश्वविद्यालय में अर्थ-शास्त्र विभाग के अध्यक्ष, डॉक्टर एस. चन्द्रशेखर ने, जिन्होंने अमरीका में शिक्षा प्राप्त की थी, पेन्डेल को एक ख़त में लिखा था :

"भारत की भयंकर मिसाल सामने होते हुए भी यदि अमरीका वालों ने अपने समृद्ध देश में इसी तरह आबादी को बढ़ जाने दिया, तो वे अक्षम्य अपराध करेंगे...।"

अमरीका की वाटूमल फाउण्डेशन ने हाल में भारतीय विद्यार्थियों के बीच निबंध-लेखन की एक प्रतियोगिता संगठित की थी। उसमें विषय रखा गया था : "भारत में भोजन की मात्रा को ध्यान में रखते हुए आबादी पर नियंत्रण करने की समस्या।" इस प्रतियोगिता का उद्देश्य, जाहिर है कि उपरोक्त विचारों को फैलाना ही था।

अमरीकी प्रचार को कितनी सफलता मिल रही है और भारतीय बुद्धि-जीवियों पर उसका कैसा घातक प्रभाव पड़ रहा है, इसकी एक मिसाल काफ़ी होगी। जब एमरी ने यह सिद्धान्त बघारा था कि हिन्दुस्तान की ग़रीबी उसकी ज्यादा आबादी की वजह से है, तब पं. जवाहरलाल नेहरू ने उसकी सख़्त आलोचना की थी। परन्तु, अब वह खुद ग़रीबी को दूर करने के लिये बच्चों की पैदावार पर रोक लगाने के हामी बन गये हैं।

सत्रहवां अध्याय

अमरीकी सरकार के भारतीय मित्र

भारत में अमरीका अपना असर बढ़ाने की जो कोशिशें कर रहा है, उसमें उसे कुछ भारतीयों से भी मदद मिल रही है। ये लोग सरकार में भी पाये जाते हैं और सरकार के बाहर भी। अंग्रेज़ों के ज़माने में उनके टोडी हुआ करते थे, अब अमरीकी सरकार के टोडी पैदा हो रहे हैं। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है।

कांग्रेस सरकार पर सबसे ज़्यादा असर उन बड़े पूँजीपतियों का है जो संख्या में तो बहुत कम हैं, पर जिनका देश की अर्थ-व्यवस्था पर पूरा कब्ज़ा है। सरदार पटेल जैसे कांग्रेसी नेता के नेतृत्व में कांग्रेसी सरकार सदा वर्ग-हितों के आधार पर चलती आयी है। स्वयं पटेल इस बात का संकेत पहले कई बार कर चुके थे। ५ जनवरी १९४८ को कलकत्ता क्लब के भोज में भाषण करते हुए उन्होंने कहा था :

> "जब मैं आपसे बीती हुई बातों को एकदम भुला देने को कहता हूँ तो मैं आपको यह भी याद दिला दूँ कि हमारा अर्थ-मंत्री आपके ही वर्ग का आदमी है।...हमने जान-बूझ कर और भारत के औद्योगिक भविष्य में विश्वास पैदा करने के लिये उसे इस पद पर नियुक्त किया है। हमारा व्यापार मंत्री भी एक अनुभवी उद्योगपति है।"

यदि सरकार के नेता बड़े पूंजीपतियों के हितों की रक्षा करने के लिये इतने उत्सुक हैं, तो बड़े पूंजीपति भी सरकार से सहयोग करने को तैयार हैं। रौयल इंस्टीच्यूट औफ़ इंटरनेशनल अफ़ेयर्स के मुखपत्र वर्ल्ड टुडे के अगस्त १९५० के अंक में एक लेखक ने लिखा था :

> "दक्षिण पक्ष के लोग—उन वर्गों के लोग जो अंग्रेज़ों की मदद किया करते थे और जिनकी शक्ति अंग्रेज़ों पर निर्भर थी—अब इतने खुश हो

गये हैं कि बहुत से अंग्रेज़ पूंजीपति भी, कभी-कभार थोड़ा-बहुत 'नाक-भौं' सिकोड़ने के बावजूद नयी सरकार के सबसे पक्के समर्थक बन गये हैं।"

इस किताब के शुरू के अध्यायों में हम देख चुके हैं कि भारत के बड़े पूंजीपति अधिकाधिक अमरीकी कम्पनियों के साथ गठबंधन करते जा रहे हैं। बिड़ला ने स्टुडबेकर से साझा किया है तो वालचन्द हीराचन्द ने क्राइस्लर से, टाटा ने कई अमरीकी पूँजीपतियों से नाता जोड़ा है तो साराभाई ने स्क्विब से, लालभाई ने अमरीकन साइनामाइड से गठबंधन किया है तो पटियाला के महाराजा ने कोका-कोला से और प्रेमनाथ नैयर ने इवास्को से, इत्यादि। अमरीकी पूंजीपतियों के ये साझीदार अमरीकी नीतियों की भी प्रशंसा किया करते हैं। चीनियों की भाषा में वे साम्राज्यवादियों के "पत्तलचट्ट पूंजीपति गुट" बन गये हैं।

बिड़ला के अख़बार दिन-रात मांग किया करते हैं कि भारत सरकार को चाहिये कि वह अमरीका को अधिक से अधिक सुविधाएँ दे। वे अमरीकी वैदेशिक नीति का खुलेआम समर्थन करते हैं। **हिन्दुस्तान टाइम्स** ने तो २६ दिसम्बर, १९४७ में ही लिख दिया था कि अमरीका से क़र्ज़ लिये बग़ैर भारत का औद्योगीकरण नहीं किया जा सकता।

"भारत को अमरीका इस प्रकार की मदद देना पसन्द करेगा या नहीं, यह इस बात पर निर्भर है कि भारत कैसी वैदेशिक नीति अपनाता है विदेशों में और कैसे लोगों को अपनी नीति समझाने के लिये भेजता है। अभी विदेशों में भारत का कार्य सन्तोषजनक नहीं है।"

ईस्टर्न इकोनोमिस्ट नामक बिड़ला के एक दूसरे पत्र ने २ जुलाई, १९४८ को एक सम्पादकीय लेख में लिखा था :

"ऐसी तटस्थता जिससे आर्थिक क्षेत्र में कोई लाभ न हो, भली वस्तु हो सकती है, परन्तु वह कोई बहुत अच्छी चीज़ नहीं है।... अमली तौर पर, इसका मतलब है कि हम अमरीका की ओर झुकने का निश्चय करें। झुकने की दिशा और मात्रा को हम चाहें तो छिपा लें —आख़िर कूटनीति इसी काम के लिये तो बनी है। परन्तु झुकना ज़रूरी है—हमारी बुनियादी आर्थिक आवश्यकताएँ हमें झुकने पर मजबूर कर रही हैं।"

ईस्टर्न इकोनोमिस्ट के सम्पादक यदि हमें अमरीकी मदद का लालच दिखाते हैं तो 'ओडीसस' उपनाम से लिखने वाला उनका लेखक हमें अमरीकी हमले की धमकी देता है। २३ नवम्बर, १९५१ के अंक में उसने लिखा था :

"हमें अपने को धोखा नहीं देना चाहिये। अगर तीसरा महायुद्ध शुरू हुआ तो कोई शक्ति भारत को उससे अलग नहीं रख पायेगी...। याद रखना चाहिये कि हथियारों और सामान के मामले में हमारी सेनाएँ विदेशों पर निर्भर करती हैं और इससे भी बड़ी बात यह है कि भारत की आबादी का बहुत बड़ा भाग अपने भोजन के लिये भी बाहर से आने वाले अन्न पर निर्भर करता है।

"आज की अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति में मुझे भारत और ब्रिटेन की स्थिति में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। दोनों क़ानून की नज़रों में स्वतंत्र राष्ट्र हैं; परन्तु, वास्तव में, दोनों का जीवन बाहर से आने वाले माल पर निर्भर है।... जिन्दा रहने के लिये दोनों को अमरीका से समझौता करना ही पड़ेगा और शुरू में दोनों में से किसी को ऐसा सौदा भला नहीं लगेगा... ।"

भूतपूर्व समाजवादी मीनू मसानी भी, जो आजकल टाटा के नौकर और अमरीका के भारी प्रशंसक हैं, इसी तरह खुलेआम अमरीका की सारी शर्तें मान लेने की सलाह दिया करते हैं।

देशी राजे-महाराजे, जमींदार-जागीरदार और साम्प्रदायिक संगठनों के नेता विदेशियों की मदद से अपने निहित स्वार्थों की रक्षा करना चाहते हैं। इसलिये वे भी उन लोगों की मण्डली में शामिल हैं जो जबर्दस्ती भारत को अमरीका की गोद में धकेल देना चाहते हैं।

बड़े पूंजीपति और सामन्ती तत्व शक्तिशाली तो बहुत हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। यदि उन्हें कुछ और लोगों की मदद न मिलती तो हमारे देश में अमरीका का सामाजिक आधार बहुत संकुचित रह जाता, उनके सहायकों की संख्या बहुत कम रह जाती।

शुरू में बहुत से छोटे पूंजीपति भी, इस आशा से विदेशियों का साथ देने लगे थे कि अमरीकियों की मांगें मानी जायेंगी तो उनकी स्थिति भी सुधर

जायगी। जब अमरीकियों की हरकतों से खुद उनका नुक़सान होने लगा, तब कहीं जाकर उन्होंने अपना रवैया बदला। कुछ दिनों से छोटे पूंजीपति, भारत सरकार की अमरीकी पूंजीपतियों के साथ पक्षपात करने की नीति के प्रति अपनी नाराज़गी जाहिर करने लगे हैं।

अमरीका के मित्रों की चौथी क़िस्म कुछ पँच-मेल बुद्धिजीवियों की है। ये वे लोग हैं जिनकी राष्ट्रीयता ग़ायब हो चुकी है और जो अमरीकियों की तरह से सोचते-विचारते हैं, हिन्दुस्तानियों की तरह नहीं। इनमें से कुछ डाक्टर अम्बेडकर और एम. एन. राय की तरह के अंग्रेजों के पुराने समर्थक हैं और इसलिये उन्हें अमरीका के समर्थक बनने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। कुछ वैसे लोग हैं जिन्हें अमरीका से घूस मिलती है या दूसरी तरह की सुविधाएँ प्राप्त हैं।

ऐसे बुद्धिजीवियों का सबसे महत्वपूर्ण दल सोशलिस्ट पार्टी के नेताओं में मिलता है। इस पार्टी के विदेशी मामलों के विशेषज्ञ, डा. राममनोहर लोहिया ने पिछले वर्ष कहा था :

"एशिया में उसके (अमरीका के) सबसे अच्छे मित्र सोशलिस्ट हैं।"

सोशलिस्ट नेता बातें तो 'तीसरी शक्ति' बनाने की करते हैं, परन्तु उनका दृष्टिकोण, वास्तव में, अधिकाधिक अमरीका-परस्त होता जाता है। कोरिया के सवाल पर इन लोगों ने भारतीय पूंजीपतियों से भी आगे बढ़ कर खुल्लमखुल्ला उत्तरी कोरिया, चीन और सोवियत संघ से दुश्मनी की नीति अपनायी। ९ जुलाई १९५० को सोशलिस्ट पार्टी के मद्रास अधिवेशन में कोरिया में अमरीकी हस्तक्षेप का समर्थन करते हुए एक प्रस्ताव पास हुआ। दूसरी किसी भी भारतीय पार्टी ने ऐसा नहीं किया। १९५० के अन्तिम दिनों में सोशलिस्ट नेताओं ने मांग की कि भारत सरकार को सक्रिय रूप से तिब्बत में हस्तक्षेप करना चाहिये। १९५१ के शुरू में, जब अमरीका गेहूं के बदले में हमसे अपनी वैदेशिक नीति मनवाना चाहता था और भारतीय जनता में इसके खिलाफ़ प्रबल असंतोष था, तब डाक्टर लोहिया ने पंडित नेहरू की आलोचना की और फ़रमाया कि नेहरू बहुत ज्यादा बोल कर मामला बिगाड़ रहे हैं। मार्च १९५१ में सोशलिस्ट नेता जयप्रकाश नारायण और अशोक मेहता ने एक सांस्कृतिक स्वतंत्रता सम्मेलन बुलाने में प्रमुख भाग लिया जो अमरीकी मदद

से संगठित हुआ था और जिसका मुख्य उद्देश्य भारतीय "तटस्थता" की भावना का विरोध करना था। ४ मई, १९५१ को डॉ. लोहिया ने बम्बई की एक सभा में बोलते हुए कहा कि यह क़तई अनुचित न होगा यदि विदेशी मदद के बदले में भारत से आबादी का बढ़ना रोकने, भूमि-सम्बंधी क़ानूनों को बदलने, छोटे उद्योग-धंधे क़ायम करने और मदद देने वाले देश के शत्रुओं को सैनिक सहायता न करने को कहा जाय। जून १९५१ में फ्रैंकफ़र्ट में योरप की दक्षिण-पंथी सोशल डेमोक्रैटिक पार्टियों का जो सम्मेलन हुआ था और जिसने पश्चिमी देशों की फ़ौजी तैयारी तथा कोरिया में अमरीकी नीति का समर्थन किया था, उसमें डॉक्टर लोहिया ने दर्शक के रूप में भाग लिया था। उसके बाद उन्होंने पहले यूगोस्लाविया और फिर अमरीका की यात्रा की और सान फ्रांसिस्को में स्वतंत्र एशिया समिति के तत्वावधान में भाषण दिया। यह समिति जनवादी चीन से लड़ने के लिये बनायी गयी है। अमरीका से लौटते हुए डॉक्टर लोहिया ने जापान में एक बयान दिया जिसमें उन्होंने चीन की जनवादी सरकार पर हमला किया।

आम चुनाव में सोशलिस्ट पार्टी ने डाक्टर अम्बेडकर के साथ गंठ-बंधन किया जो खुलेआम कह रहे थे कि भारत सरकार को हर मामले में अमरीका का साथ देना चाहिये।

भारत की सोशलिस्ट पार्टी के इस रवैये की एक वजह यह है कि उस पर सोशलिस्ट इंटरनेशनल और ब्रिटिश लेबर पार्टी का बहुत असर है। ३० अगस्त, १९५१ को सोशलिस्ट इंटरनेशनल के ब्यूरो ने एशिया में सोशलिस्ट पार्टियों के बनाने में मदद करने की एक ब्रिटिश योजना स्वीकार की थी। लेबर पार्टी ने इस काम के लिये एक हजार पौण्ड हर साल देने का वायदा किया था। उसी साल १६ दिसम्बर को इंटरनेशनल की जनरल काउंसिल ने भी इस योजना को मंजूर कर लिया।

सोशलिस्ट इंटरनेशनल की नीति कितनी समाजवादी है, यह लेबर पार्टी के अन्तरराष्ट्रीय मंत्री डेनिस हीली के एक लेख से जाहिर हो जाता है। उन्होंने लिखा था :

"हम बहुत बड़ी ग़लती करेंगे, यदि हम यह न समझेंगे कि मौजूदा अमरीकी सरकार अपनी नीति में इतनी प्रगतिशील और विवेकपूर्ण

निःस्वार्थ भावना प्रयोग में ला रही है जितना कोई दूसरा शक्तिशाली देश आज तक नहीं कर पाया।"

फ्रैंकफ़र्ट सम्मेलन में भाग लेने वाले दो एशियाई प्रतिनिधि मण्डलों के बारे में बताते हुए मि. हीली ने लिखा :

"अधिकतर एशियवासी ठण्डे युद्ध को अधिक से अधिक केवल अटलांटिक साम्राज्यवाद और सोवियत साम्राज्यवाद का झगड़ा समझते हैं और उसमें पड़ना नहीं चाहते।...

"फिर भी, युद्ध के बाद से योरपीय समाजवाद ने एशिया में एक नयी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है... बहुत से एशियाई सोशलिस्ट, पार्टी संगठन और आर्थिक योजना बनाने के बारे में ब्रिटिश लेबर पार्टी से सलाह लेना चाहते हैं। और किसी अन्तरराष्ट्रीय संगठन का सबसे ज्यादा असर सदा उसके कमजोर सदस्यों पर होता है। इस सबसे नये इंटरनेशनल के सामने सुनहला अवसर उत्पन्न हो गया है...।"

सोशलिस्ट इंटरनेशनल एशिया की सोशलिस्ट पार्टियों को आर्थिक सहायता क्यों दे रहा है, यह ऊपर के बयान से स्पष्ट हो जाता है।

क्या भारत की आम जनता में से भी कुछ लोगों का समर्थन प्राप्त करने की आशा अमरीका करता है? हाँ, उसे उन लोगों से मदद की उम्मीद है जो पादरियों और अमरीका-परस्त पूंजीपतियों, जमींदारों और बुद्धिजीवियों के असर में हैं। इसके अलावा, हाल में अमरीका ने सीधे-सीधे हमारे गाँवों में अपना आधार तैयार करना शुरू किया है और उसी के वास्ते कम्युनिटी प्रोजेक्टों (सामुदायिक योजनाओं) के अन्तर्गत अमरीकी विशेषज्ञों का देहातों में जाल बिछाया जा रहा है।

अन्त में, अमरीका में रहने वाले कुछ भारतीयों का जिक्र कर देना भी जरूरी है। इन लोगों में दो दल ऐसे हैं जो भारत को अमरीकी प्रभाव क्षेत्र में घसीट लाने की कोशिशें कर रहे हैं। पहले दल के नेता हैं अमरीका की इंडिया लीग के अध्यक्ष सरदार जे० जे० सिंह। वह अक्सर भारतीय समाचार पत्रों में अमरीका के समर्थन में लेख लिखा करते हैं।

१९४८ के अन्त में, अमरीका में रहनेवाले कुछ भारतीयों ने मिलकर एक अपील निकाली थी। उसमें भारत के लोगों से कहा गया था कि उन्हें ब्रिटिश

कौमनवेल्थ को छोड़ कर अमरीकी गुट में शामिल हो जाना चाहिये। अपील में आगे कहा गया था :

"हमारी आशा है कि स्वतंत्र भारत अपने सर्वोत्तम हितों को ध्यान में रखते हुए, स्वयं अपनी ज़िम्मेदारी पर, और खुद पहल-क़दमी करके, अंग्रेज़-अमरीकी शक्तियों के नेतृत्व में काम करने वाले संसार के जनतांत्रिक देशों का समर्थन करेगा—बशर्तें कि ये शक्तियाँ भारत के बुनियादी हितों के खिलाफ़ कभी काम न करें—और दुनिया के सभी बड़े सवालों पर उनका साथ देगा।" (**मौडर्न रिव्यू**, कलकत्ता, जनवरी १९४२)

इस अपील पर हस्ताक्षर करने वालों में ये लोग थे : डॉक्टर तारकनाथ दास, रामलाल वाजपेयी, मणीन्द्र गुहा, रामनाथ पुरी, गोविन्द बिहारी लाल, हरनाम सिंह, श्रीमती रामचन्द्र, एस० एन० उपाध्याय, वी० कोकटनूर, प्रफुल्ल मुकर्जी, गोदाराम चन्ना, नृपेन्द्र लाहिड़ी, और स्वामी निखिलानन्द।

इस दल के नेता डॉ. तारकनाथ दास हैं जो १९०६ से अमरीका में रह रहे हैं और वहीं के नागरिक हैं। वह नियमित रूप से **मौडर्न रिव्यू** में लिखते रहे हैं और कुछ दिनों से उन्होंने भारतीय जन संघ के मुखपत्र **औगनाइज़र** में भी लिखना शुरू कर दिया है। अपील पर हस्ताक्षर करने के समय वह वाटूमल फ़ाउण्डेशन के सलाहकार बोर्ड के अध्यक्ष थे।

डॉ० दास के बाद गोविन्द बिहारी लाल इस बोर्ड के अध्यक्ष हुए। ये सज्जन अमरीका के घोर प्रतिक्रियावादी पत्रों में (हर्स्ट के समाचार पत्रों में) वैज्ञानिक लेख लिखा करते हैं। ६ सितम्बर, १९५१ को **न्यू यौर्क जर्नल अमरीकन** के अपने एक लेख में उन्होंने लिखा था :

"उसे (भारत को) अमरीका की प्रेरणा और सहयोग की आवश्यकता है, क्योंकि और कहीं से उसे यह नहीं मिल सकता।

"सभ्यता और संस्कृति की रचना के लिये जिन बड़ी चीज़ों की आवश्यकता है, उनके लिये गौतम बुद्ध की तरह पात्र हाथ में लेकर भीख मांगने के लिये निकलना अच्छे गुणों में गिना जायगा। और अमरीका विशाल हृदय और उदारता के साथ भीख देना जानता है।"

अठारहवां अध्याय

उपसंहार

"अंग्रेजों ने अगले वर्ष भारत का नियंत्रण छोड़ कर वहाँ से हटने का निश्चय कर लिया है, परन्तु उसके वाद भी वे भारत की रक्षा में सहयोग देंगे। भारत के लिये वड़ा खतरा सिर्फ़ रूस से है। प्रश्न यह है कि कुछ समय वाद यदि इंगलैण्ड में—अमरीकी मदद के विना—भारत की रक्षा करने का अपना वचन पूरा करने की सामर्थ्य न रही, तो क्या होगा।...

"यदि ब्रिटिश साम्राज्य के टुकड़ों को हमें ही उठाना है तो फिर और टुकड़ों के साथ वड़े और केन्द्रीय टुकड़े भी हम क्यों नहीं उठा लेते? यदि हमें दिवालिये साम्राज्य का रिसीवर (लेनेवाला) वनना ही है तो फिर हम पूरी शक्ति और अधिकार की मांग क्यों नहीं करते?"

—**न्यू यॉर्क डेली न्यूज़** का अग्रलेख, ४ मार्च, १९४७.

अमरीका के सवसे अधिक पढ़े जाने वाले अखबार में इस सम्पादकीय को निकले पाँच वर्ष हो गये हैं। इन पाँच वर्षों में अमरीका के भारत का रिसीवर वनने की वात एक भारी खतरा वन गयी है।

भारत की अर्थ-व्यवस्था पर अमरीकी नियंत्रण वढ़ता जाता है और उससे भारतीय समाज के निकृष्टतम तत्वों को वल मिल रहा है। प्रोफ़ेसर डी. आर. गाडगिल भारत में अमरीकी पूंजी के आने के समर्थक हैं, परन्तु उन्होंने भी लिखा है:

"केवल एक देश है जो वर्तमान समय में पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्थाओं को कई वरस तक लगातार वड़े पैमाने पर मदद देने की सामर्थ्य रखता है। वह है अमरीका। परन्तु लगता है कि इस देश की सवसे अधिक दिलचस्पी एक ऐसे सामाजिक दर्शन का अनुसरण करने में है जो विशेष प्रकार की परम्पराओं वाले एक धनी देश के लिये भले ही वहुत उपयुक्त हो; परन्तु दूसरी परिस्थितियों में उससे

ऐसी व्यक्तिवादी भावनाओं और समाज-विरोधी हितों के मजबूत होने का खतरा है जो अर्थ-व्यवस्था का सुनियोजित संगठन करने के प्रयत्नों को सख्त धक्का पहुँचा सकती है। इसलिये, यदि जिसकी आशा नहीं है, वह बात भी हो गयी, और भारत जैसे देश की उन्नति के लिये (अमरीका ने) बड़े पैमाने पर पूंजी लगाना स्वीकार कर लिया, तो उससे भी, वर्तमान परिस्थितियों में, तत्काल हमारे सामाजिक उद्देश्य पूरे नहीं होंगे; बल्कि एक ओर एकाधिकारी पूंजी की शक्तियाँ मजबूत होंगी और दूसरी ओर, सामाजिक असंतोष और विग्रह बढ़ जायेंगे।"

दूसरे शब्दों में, अमरीकी मदद को सामाजिक विग्रह बढ़ाने का नुस्खा समझना चाहिये।

जैसा कि **डेली न्यूज़** बता चुका है, अमरीका की नीति भारत के साधनों को तीसरे महायुद्ध के वास्ते इस्तेमाल करने की है। **न्यू यौर्क टाइम्स** के भूतपूर्व सम्वाददाता, जौर्ज ई० जोन्स ने १९४८ में ही लिख दिया था कि :

"भौगोलिक दृष्टि से वह (भारत) पूरब और पच्छिम के मुख्य हवाई रास्तों के बीचोबीच पड़ता है...और उसकी विशाल भूमि भविष्य में हमला करने के अड्डे के काम आ सकती है।"

अमरीकियों की नजरों में भारत से अच्छा कोई फ़ौजी अड्डा नहीं हो सकता। यहाँ उन्हें विशाल क्षेत्रफल, बड़ी आबादी, अतुलित साधन और सैनिक महत्व की अनेक वस्तुएँ भारी परिमाण में मिलती हैं। उस पर बहुत ज्यादा ख़र्चा भी नहीं करना पड़ेगा क्योंकि भारतीय और पाकिस्तानी सरकारें स्वयं अपनी अधिकतर आमदनी फ़ौजी महकमों पर ख़र्च कर रही हैं। कोरिया के उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि इस अड्डे का इस्तेमाल करते समय अमरीका, भारत के लोगों की जान और माल को दो कौड़ी का समझेगा और सदियों की मेहनत से बनी इस सभ्यता को नेस्तनाबूद करवा देने में एक क्षण के लिये भी न हिचकेगा।

और यह अमरीकी योजना हम पर उस वक्त लादी जा रही है जब हम एक दूसरे क्रूर साम्राज्यवाद से पीढ़ियों तक लड़ने के बाद अपने स्वतंत्रता संग्राम के चरम शिखर पर पहुँचे हैं। जिस सपने को सच्चा बनाने के लिये हमारी जनता ने अनेकों कष्ट सहे और मृत्यु तक से लोहा लिया; शोषण और उत्पीड़न

से रहित, सुखी और समृद्ध, संसार के सभी दलित देशों को प्रेरणा देने वाले जिस स्वतंत्र भारत की रचना करने के लिये भारतीय देशभक्तों ने लाठियाँ और गोलियाँ सहीं और फाँसी का फन्दा चूमा, उसे हम आज कैसे भूल सकते है? स्वयं पंडित नेहरू हमारे इस स्वप्न की, इस लक्ष्य की, अनेक बार चर्चा कर चुके हैं। २३ मार्च १९४७ को एशियाई सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए उन्होंने कहा था :

> "हम एशिया के लोगों को पश्चिम के राजमहलों और दरबारों में फ़रियाद लेकर जाते बहुत दिन हो गये। अब यह क़िस्सा खतम होना चाहिये। अब हम अपने पैरों पर खड़े होंगे और उन सबसे सहयोग करेंगे जो हमसे सहयोग करने को तैयार हैं। भविष्य में, हम दूसरों के हाथों का खिलौना नहीं बनेंगे।"

परन्तु इस शानदार ऐलान को कार्यान्वित करने के लिये जिस साहस और दृढ़ता की आवश्यकता थी, एक महान क़ौम के नेताओं में जो हिम्मत और पुख़्तगी होनी चाहिये थी, वह हमारी सरकार अपने में पैदा न कर सकी। मुख्य और महत्वपूर्ण सवालों पर उसने भारतीय जनता के हितों की दृढ़ता से रक्षा नहीं की, बल्कि दुश्मनों से समझौता करने की कोशिश की, और उससे भी काम नहीं चला तो उसके सामने सिर झुका दिया। उसने देश के साधनों और जनता की शक्ति पर भरोसा करने के बजाय विदेशियों से क़र्ज़े मांगना और बदले में राष्ट्रीय साधन गिरवी रख देना ज़्यादा पसन्द किया। वह बराबर ऐसे काम करती गयी जिससे सरकार और जनता के बीच खाई पैदा हो गयी, जिसका स्पष्ट परिणाम पिछले चुनाव में देखने को मिला। अमरीकी दबाव के सामने वह जिस तरह सिर झुकाती जा रही है, उससे देश में आन्तरिक कलह के बीच पड़ रहे हैं।

यदि देश को इस सत्यनाशी सम्भावना से बचाना है तो बीच की राजनीतिक शक्तियों को, और प्रधानतः छोटे पूंजीपतियों और बुद्धिजीवियों को इस काम का भार अपने कंधों पर लेना पड़ेगा। वे चाहें तो समय रहते परिवर्तन कराके देश को रक्तपात से बचा सकते हैं।

अभी तक अमरीकी बढ़ाव के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व वामपक्षी लोग करते आये हैं, और अधिकतर छोटे पूंजीपति उससे अलग रहे हैं। अमरीकियों के हाथों उनकी भारी हानि होते रहने पर भी अभी उन्होंने आगे बढ़ कर अमरीकी साम्राज्य के खिलाफ़ आवाज नहीं उठायी है। परन्तु

अब और चुप रहना न उनके हित में है, न देश के। यदि अब भी वे चुप्पी साधे रहे तो वे अमरीका के गुलाम बन जायेंगे और एकाधिकारियों द्वारा पीस डाले जायेंगे।

चीन में, विदेशी पूंजी से बंधे 'दलाल' पूंजीपतियों की शक्ति तो अवश्य नष्ट कर दी गयी है, परन्तु राष्ट्रीय पूंजीपतियों को क्रान्ति के बाद भी एक ऐसे वर्ग के रूप में मान्यता दी गयी है जो अभी बहुत वर्षों तक समाज में मौजूद रहेगा। भारत में भी उन्हें यह अधिकार मिलेगा या नहीं, यह पूंजीपतियों के अपने कामों पर निर्भर करता है। यदि राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग ज़िन्दा रहना चाहता है और सम्मान के साथ ज़िन्दा रहना चाहता है तो उसका एक ही रास्ता है—उसे आम जनता के बुनियादी हितों को अपना त मानना चाहिये।

भारत का राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग कई पीढ़ियों से अंग्रेज़ी साम्राज्य से लड़ता आ रहा है। अनेक बार वह देश के लोगों का नेतृत्व कर चुका है। मिसाल के लिये, अंग्रेज़ी माल के बहिष्कार का आन्दोलन उसी के नेतृत्व में चला था। आर्थिक क्षेत्र में, अनेक भारतीय पूंजीपतियों ने बड़ी हिम्मत और साहस दिखा कर, विदेशी प्रतियोगिता और साम्राज्यवादी बंधनों से न घबराते हुए, राष्ट्रीय उद्योगों की स्थापना की थी और उन्हें विकसित किया था। अतः आज यदि देश उनसे यह आशा करे कि वे अमरीकी साम्राज्य-लिप्सा का डट कर मुक़ाबला करेंगे, तो बहुत अनुचित न होगा।

बुद्धिजीवियों का भारतीय समाज में बहुत ऊँचा स्थान है। वे संख्या में कम हैं, पर उनका कृतित्व बड़ा है। देश के इतिहास की सबसे संकटपूर्ण घड़ियों में भी उन्होंने सदा जनता का साथ दिया है और त्याग और बलिदान के आदर्श क़ायम किये हैं। अमरीकियों के चन्द टुकड़ों के बदले में यदि बुद्धिजीवियों ने जनता का स्नेह खो दिया, तो क्या यह उचित होगा?

और यदि बुद्धिजीवियों और पूंजीपतियों ने अमरीकी ख़तरे से देश को बचाने के संघर्ष में मेहनतकश जनता का साथ दिया तो निस्सन्देह संघर्ष अधिक सुगम और सरल हो जायगा। वे लोग चाहें तो देश को गृहयुद्ध से और संसार को तीसरे महायुद्ध से बचा सकते हैं। और ऐसा करके वे न केवल अपने हितों की रक्षा करेंगे, बल्कि अपने देश और समस्त मानवता के प्रति अपना कर्तव्य भी पूरा करेंगे।



भारत और पाकिस्तान में काम करने वाली कुछ ऐसी कम्पनियाँ जो अमरीकी नियंत्रण में हैं

अमरीकन एक्सप्रेस कम्पनी, इनकौर्पोरेट : कलकत्ता, बम्बई और कराँची में दफ़्तर हैं। लेन-देन और यात्रियों की दलाली का काम करती है।

अमरीकन फ़ौरेन इन्श्योरेंस एसोसियेशन : मुख्य दफ्तर कलकत्ता में, शाखा बम्बई में। (एसोसियेशन के सदस्य : अमरीकन इन्श्योरेंस कम्पनी ऑफ़ न्यू जर्सी, ग्रेट अमरीकन इन्श्योरेंस कम्पनी ऑफ़ न्यू यौर्क, हार्टफ़ोर्ड फ़ायर इन्श्योरेंस कम्पनी, और होम इन्श्योरेंस कम्पनी ऑफ़ न्यू यौर्क।)

अमरीकन इन्श्योरेंस कम्पनी लिमिटेड ऑफ़ न्यू जर्सी : कलकत्ता। आग लगने से बचाव का बीमा करती है।

अमरीकन इंटरनेशनल अंडरराइटर्स (इंडिया) लिमिटेड : कलकत्ता। (सदस्य : हैनोवर फ़ायर इन्श्योरेन्स कम्पनी और न्यू हैम्पशायर फ़ायर इन्श्योरेंस कम्पनी।)

ऐन्गस कम्पनी लिमिटेड, कलकत्ता : ग्राम ऐन्गास, जिला हुगली के ऐन्गस जूट वर्क्स और ऐन्गस इंजीनियरिंग वर्क्स के मालिक। इस्थमेनियन स्टीमशिप लाइन्स के एजेन्ट। (मैनेजिंग एजेन्ट : टौमस डफ़ एंड कम्पनी, लि०।)

एसोसियेटेड इलेक्ट्रिकल इंडस्ट्रीज (इंडिया) लिमिटेड : मुख्य दफ़्तर कलकत्ता में; शाखाएँ बम्बई, मद्रास, बंगलौर, कोयम्बतूर, नागपुर में। कई बिजली कम्पनियों के एजेन्ट।

कैलटैक्स (इंडिया) लि० : मुख्य दफ़्तर बम्बई में। पैट्रोल की बिक्री का व्यवसाय करते हैं। अब विज़गापट्टम में तेल साफ करने का एक कारख़ाना खोल रहे हैं। (इस कम्पनी की मालिक अमरीका की दो बड़ी

तेल कम्पनियाँ—स्टैण्डर्ड ऑयल कम्पनी ऑफ़ कैलीफोर्निया और टैक्सस कम्पनी हैं।)

कौलगेट पामऔलिव (इंडिया) लि० : बम्बई। साबुन, क्रीम आदि के विक्रेता।

कोलम्बिया फिल्म्स ऑफ इण्डिया लि० : मुख्य दफ्तर कलकत्ता में। शाखाएँ बम्बई, नयी दिल्ली, लाहौर, मद्रास में। फिल्मों का वितरण करते हैं।

फैल्ट एंड टरॅन्ट (इंडिया) कम्पनी : मुख्य दफ्तर कलकत्ता में। शाखाएँ बम्बई, मद्रास, कानपुर, और दिल्ली में।

फायरस्टोन (पाकिस्तान) लि० : कराँची। रबर टायर और ट्यूब बेचते हैं।

फ़ायरस्टोन टायर एंड रबर कं० ऑफ़ इंडिया लि० : मुख्य दफ़्तर बम्बई में। शाखाएँ अनेक जगह। टायर, ट्यूब आदि बनाते हैं।

फोर्ड मोटर कम्पनी ऑफ इंडिया लि० : मुख्य दफ़्तर बम्बई में। शाखाएँ कलकत्ता और मद्रास में। मोटर गाड़ियाँ और उनके पुर्ज़े विदेश से मंगा कर बेचते हैं।

जनरल इलेक्ट्रिक कं० ऑफ इंडिया लि० : मुख्य दफ़्तर कलकत्ता में। शाखाएँ बम्बई, मद्रास, नयी दिल्ली, बंगलौर, सिकन्दराबाद में। (अमरीका की दैत्याकार जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी से सम्बंधित लन्दन की जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी की यह भारतीय शाखा है।)

जनरल इलेक्ट्रिक कं० ऑफ पाकिस्तान लि० : मुख्य दफ़्तर कराँची में। शाखाएँ लाहौर और चटगाँव में।

जनरल मोटर्स इंडिया लि० : बम्बई। मोटर गाड़ियों के पुर्ज़े और हिस्से विदेश से मंगा कर यहाँ गाड़ियाँ खड़ी करते हैं और भारत, पाकिस्तान, लंका और अफ़गानिस्तान में उनका वितरण करते हैं।

जनरल मोटर्स ओवरसीज कार्पोरेशन : कराँची।

गेत्ज इंडिया लि० : कलकत्ता और बम्बई। आयात-निर्यात कार्य करते हैं।

गुडइयर टायर एंड रबर कं० ऑफ इंडिया लि० : मुख्य दफ़्तर कलकत्ता में। शाखाएँ बम्बई, मद्रास, लाहौर, दिल्ली में।

ग्रेट अमरीकन इन्श्योरेंस कम्पनी, कलकत्ता : आग का, और जहाज़ों का, और दुर्घटनाओं का बीमा करते हैं।

हार्टफोर्ड फ़ायर इन्श्योरेंस कं० : कलकत्ता। आग का बीमा करते हैं।

इंडियन अल्यूमीनियम कं० लि० : मुख्य दफ़्तर कलकत्ता में। कारखाने वगल हिल और मुरी जंक्शन (विहार), वेलूर (प० वंगाल), वेलगांव और कालवा (वम्बई) और अलवै (त्रावणकोर-कोचीन) में।

इन्श्योरेंस कम्पनी ऑफ़ नॉर्थ अमरीका, मार्फ़त वौल्कर्ट व्रदर्स, वम्बई। जहाज़ों का बीमा करते हैं।

इंटरनेशनल जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी (इंडिया) लिमिटेड : मुख्य दफ़्तर वम्बई में। शाखा कलकता में। अमरीका की जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी और अमरीकन लोकोमेटिव कम्पनी ऑफ़ न्यू यौर्क के सोल एजेन्ट।

कोडक लिमिटेड : वम्बई, करांची, कलकत्ता, इत्यादि। फ़ोटोग्राफ़ी का सामान वेचते हैं।

लुडलौ जूट कम्पनी लिमिटेड : कलकत्ता। जूट का सामान वनाते और सप्लाई करते हैं। जूट भी वेचते हैं।

मेट्रो-गोल्डविन-मेयर इंडिया लि० : मुख्य दफ़्तर वम्बई में। शाखाएँ कलकत्ता, नयी दिल्ली, मद्रास में। फ़िल्मों का वितरण करते हैं।

मेट्रो थियेटर, कलकत्ता, लि० : कलकत्ता।

मॉरिसन क्नुडसन, अफ़गानिस्तान, इनकौर्पोरेटेड : दफ़्तर करॉंची में है।

मुलर एण्ड फ़िप्स (इंडिया) लि० : वम्वई।

नेशनल कार्वन कं० (इंडिया) लि० : कलकत्ता। एवेरेडी वैटरियों के वनाने वाले।

नेशनल कैश रजिस्टर कम्पनी : मुख्य दफ़्तर कलकत्ता में। शाखा वम्बई में; दूसरे शहरों में एजेन्ट।

नेशनल सिटी वैंक ऑफ़ न्यू यौर्क : वम्बई और कलकत्ता।

न्यू हैम्पशायर इन्श्योरेंस कम्पनी : कलकत्ता। आग का, जहाजों का और दुर्घटनाओं का बीमा करते हैं।

ओरिएन्ट इन्श्योरेंस कम्पनी, कलकत्ता। आग का बीमा करते हैं।

पैरामाउन्ट फ़िल्म्स ऑफ़ इंडिया लि० : मुख्य दफ़्तर बम्बई में। शाखा कलकत्ता में। फ़िल्मों का वितरण करते हैं।

पार्क डेविस एण्ड कम्पनी : बम्बई। दवाइयाँ बेचते हैं।

पियरलेस (इंडिया) लि० : मुख्य दफ़्तर बम्बई में। शाखा कलकत्ता में। फ़िल्मों का वितरण करते हैं।

क्वीन इन्श्योरेंस कम्पनी ऑफ़ अमरीका : कलकत्ता। आग का बीमा करते हैं।

रेमिंग्टन रैण्ड इनकॉर्पोरेटेड : मुख्य दफ़्तर कलकत्ता में। दूसरे शहरों में शाखाएँ और एजेन्ट हैं। कारख़ाना कलकत्ता में है। टाइपराइटर बनाते और बेचते हैं।

स्टैण्डर्ड वैकुअम ऑयल कम्पनी : मुख्य दफ़्तर बम्बई में। शाखाएँ और गोदाम सारे हिन्दुस्तान में फैले हुए हैं। पैट्रोल का वितरण करते हैं। बम्बई के नज़दीक तेल साफ़ करने का एक कारखाना खोल रहे हैं।

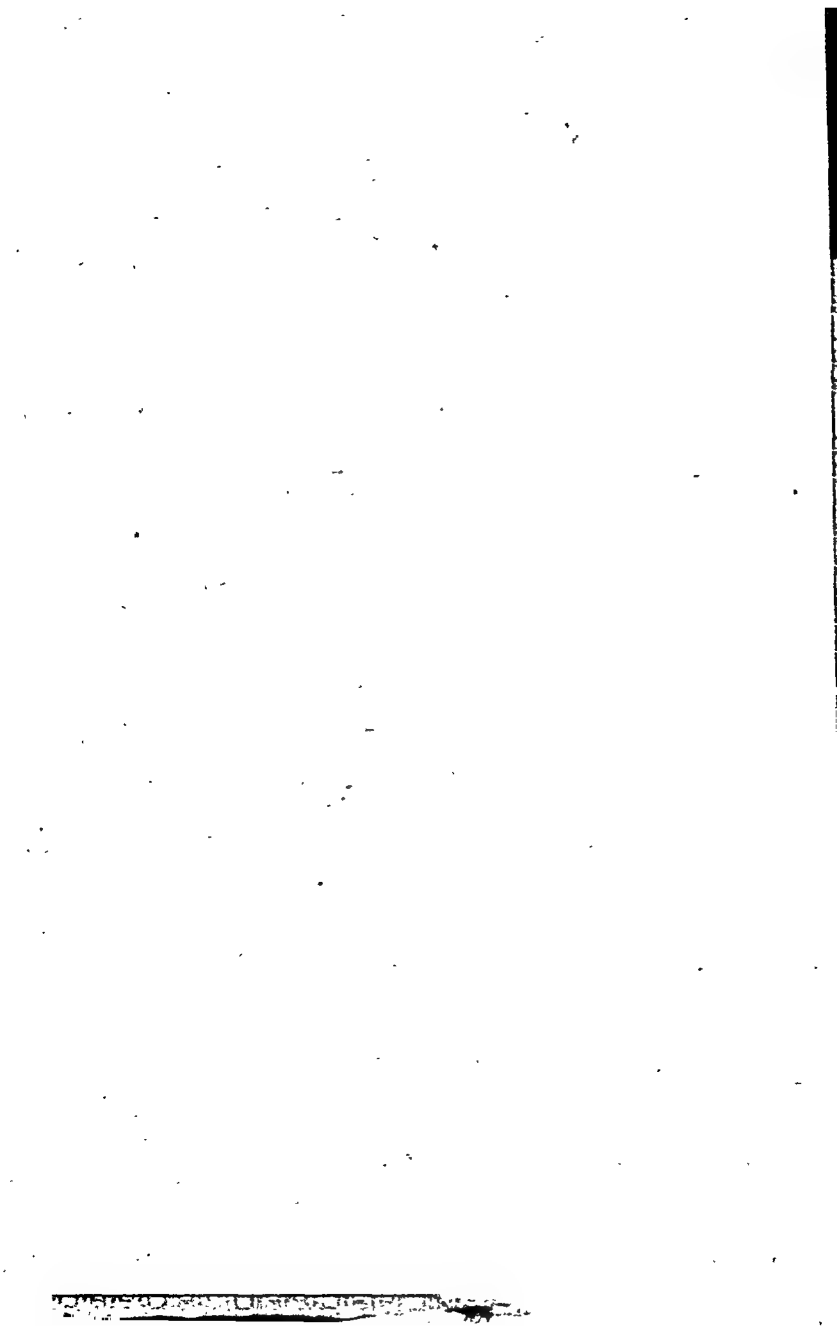
टाटा हाइड्रो-इलेक्ट्रिक एजेंसीज लि० : बम्बई। टाटा हाइड्रो-इलेक्ट्रिक पॉवर सप्लाई कं., आंध्र वैली पॉवर सप्लाई कं., टाटा पॉवर कं., और युनाइटेड पॉवर लि. की मैनेजिंग एजेन्ट। (इसमें टाटा और एक अमरीकी कम्पनी का साझा है।)

टॉम्पसन कम्पनी (ईस्टर्न) लि. : मुख्य दफ़्तर बम्बई में। शाखाएँ बम्बई और कलकत्ता में। विज्ञापन और सौदागरी का काम करते हैं।

ट्वंटियथ सेंचुरी फौक्स कोर्पोरेशन (इंडिया) लि.। मुख्य दफ़्तर बम्बई में। शाखा कलकत्ता में। फ़िल्मों का वितरण करते हैं।

युनाइटेड आर्टिस्टस कॉर्पोरेशन ऑफ न्यू यौर्क : कलकत्ता और बम्बई। फिल्मों का वितरण करते हैं।





अमरीका के येल विश्वविद्यालय, राष्ट्रीय भूगोल समिति और स्मिथ-सोनियन इंस्टीच्यूट ने एक वैज्ञानिकों की टुकड़ी नेपाल भेजी थी। इसके नेता डॉ० सिडनी डिलन रिपले थे। रिपले साहब की जीवनी पर नज़र डालिये तो पता चलता है कि १९४२ में हरवर्ड विश्वविद्यालय की पढ़ाई खतम करने के बाद उन्हें ऑफ़िस ऑफ़ स्ट्रैटेजिक सर्विसेज़ (केन्द्रीय जासूसी विभाग) ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में जासूसी के कामों का संचालक नियुक्त कर दिया था और युद्ध के अन्त तक वह इसी पद पर बने रहे थे। १९४६ में उनको येल के पीवडी अजायबघर का सहायक संचालक नियुक्त किया गया और उसके बाद फ़ौरन ही उन्हें नेपाल भेज दिया गया।

अमरीकी योजनाओं में नेपाल का महत्व उस समय मालूम हुआ जब चीन के साथ तिब्बत के सम्बंधों का सवाल सामने आया। २४ नवम्बर, १९४९ को **हिन्दू** ने समाचार छापा था :

"ब्रिटिश दृष्टिकोण के अनुसार एकमात्र सम्भव नीति यही हो सकती है कि तिब्बत को अपने घोषित स्वायत्त शासन के अधिकार पर जमे रहने के लिये प्रोत्साहित किया जाय और काठमाण्डू स्थित ब्रिटिश राजदूत के ज़रिये कोशिश की जाय कि तिब्बती सरहद से कम्युनिज़्म को दूर रखने की इच्छा से प्रेरित होकर नेपाल दरबार ल्हासा के लामा शासन का बराबर समर्थन करता रहे।"

अमरीकी भी बराबर इसी ढंग की बातें कर रहे थे और रानाओं को भी ये बातें अच्छी लगती थीं। जुलाई, १९५० में नेपाल के महाराजा ने **न्यू यौर्क टाइम्स** के सम्वाददाता से कहा कि उसे "यह देख कर बड़ी खुशी है कि कोरिया में संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्रवाई को इतना अधिक समर्थन प्राप्त हुआ है।"

६ नवम्बर, १९५० को युनाइटेड प्रेस ऑफ़ अमरीका ने कलकत्ता से समाचार भेजा कि नेपाल के प्रधान मंत्री ने बड़ी घबराहट में अमरीका से अपील की है कि तिब्बती सरहद पर सुरक्षा की व्यवस्था करने के लिये वह जल्द से जल्द काफ़ी हथियार नेपाल भेजे। नयी दिल्ली में नेपाली दूतावास ने तो इस समाचार का खण्डन किया, पर राणाशाही के नेपाली विरोधियों का कहना था कि यह समाचार सही है।

राणाशाही पर अमरीकी असर को बढ़ते हुए देख कर भारत के सरकारी हल्कों में भी चिन्ता पैदा हुई क्योंकि यहाँ नेपाल को भारत के प्रभाव क्षेत्र में समझा जाता था। जिस रोज नेपाल के प्रधान मंत्री द्वारा अमरीका से हथियार मांगने का समाचार निकला था, उसी रोज यानी ६ नवम्बर को नेपाल के राजा ने काठमाण्डू में भारतीय राजदूतावास में शरण ली। एक सप्ताह के भीतर नेपाली कांग्रेस की फ़ौजों ने भारत से नेपाल पर चढ़ाई कर दी। अंग्रेज़ और अमरीकी अखबारों को आशा थी कि विद्रोह बहुत जल्द कुचल दिया जायगा। इसलिये, उन्होंने ऐलान कर दिया कि राजा शासन करने के अयोग्य है, और पश्चिमी सरकारों को उसके तीन वर्ष के बालक को राजा मान लेना चाहिये। प्रधान मंत्री ने इस बच्चे को गद्दी पर बैठा दिया था।

परन्तु तराई में राना-विरोधी शक्तियाँ बल पकड़ती गयीं और जनवरी में रानाशाही ने घुटने टेक दिये। उधर भारत सरकार को डर था कि विद्रोह कहीं बहुत आगे न बढ़ जाय। उसने नेपाली कांग्रेस के नेताओं पर रानाओं से समझौता करने के लिये जोर दिया। समझौता हो गया और रानाओं तथा कांग्रेसी नेताओं की संयुक्त सरकार क़ायम हुई। परन्तु जन-आन्दोलन के एक भाग ने संघर्ष जारी रखा। इसे कुचलने के लिये भारतीय फ़ौजों को नेपाल सरकार से सहयोग करने का हुक्म दिया गया। जब यह कोशिश नाकामयाब रही तो रानाओं का पक्ष और कमज़ोर हो गया।

पर नेपाल में अमरीकियों की सरगर्मियाँ नहीं रुकीं। २३ जनवरी, १९५१ को राना-कांग्रेस समझौता होने के कुछ दिन बाद, अमरीका और नेपाल ने 'चौथे सूत्र' के समझौते पर दस्तख़त कर दिये। खनिज पदार्थों का एक विशेषज्ञ प्राथमिक जाँच करने के लिये तुरन्त नेपाल पहुँच गया। २७ अप्रैल, १९५१ को दोनों सरकारों ने अपने-अपने दूतों का पद बढ़ा कर उन्हें राजदूत बना दिया। अमरीका बार-बार काठमाण्डू में अपना राजदूतावास खोलने के लिये इजाजत माँग रहा था। परन्तु पं. नेहरू ने नेपाल सरकार को सलाह दी कि उसे ऐसी इजाजत नहीं देनी चाहिये क्योंकि फिर चीन सरकार भी काठमाण्डू में दूतावास खोलना चाहेगी।

ठीक इन्हीं दिनों भारतीय समाचार पत्रों में खबरें छपीं कि अमरीकी पादरी भारत-नेपाल सीमा के निकट कुछ अनुचित कार्यों में व्यस्त हैं।

परन्तु वर्ष के अन्त तक, रानाओं की भाँति कांग्रेसी सरकार भी कम्युनिस्टों का हौआ खड़ा करने लगी। दिसम्बर १९५१ में, एम० पी० कोइराला ने **न्यू यॉर्क टाइम्स** के सम्वाददाता को बताया कि नेपाली फ़ौजें तिब्बत वाली सीमा की रक्षा करने को पहुँच गयी हैं। नेपाली पुलिस के इंस्पेक्टर जनरल ने कहा कि तिब्बत से कम्युनिस्ट नेपाल में घुस रहे हैं, उन्हें रोकने ने लिये फ़ौज सीमा पर भेजी गयी है। यह कम्युनिस्टों के नेपाल में घुसने की बात पहाड़ों पर चढ़ने के शौकीन एरिक शिप्टन नामक एक अंग्रेज़ की रिपोर्ट के आधार पर कही जा रही थी।

तिब्बत

सदियों से यह बात सभी लोग मानते हैं कि तिब्बत चीन का एक अविभाज्य अंग है, यद्यपि उसे स्वायत्त शासन के अधिकार प्राप्त हैं। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये यदि कुओमिन्तांग सरकार को चीन से खदेड़ने के बाद चीन की नयी सरकार इस सम्बंध को क़ायम रखना चाहती है। परन्तु, भारत सरकार ने उसे राय दी कि उसकी फ़ौज को तिब्बत में नहीं घुसना चाहिये और जब उसकी सलाह नहीं मानी गयी तो भारत सरकार ने खुलेआम चीनी सरकार की निन्दा की। वह यह भी भूल गयी कि कुछ ही दिन पहले उसकी फ़ौजें भी ठीक इसी तरह हैदराबाद में घुसी थीं। कहा जाने लगा कि भारत और चीन के सम्बंध अब टूट जायेंगे। **स्टेट्समैन** ने तिब्बत में चीन का विरोध करने के लिये भारत, पाकिस्तान और बर्मा का संयुक्त मोर्चा बनाने की अपील की। चीनियों का कहना था कि विदेशियों के प्रभाव के कारण तिब्बत का मसला शान्ति के साथ हल नहीं हो पा रहा है। अमरीका, और भारत में उसके मित्र इस बात से इनकार करते थे। भारत और चीन की दोस्ती को तोड़ने के लिये विदेशियों की ओर से जो कोशिशें हो रही हैं, उन्हें समझने के लिये तिब्बत के सवाल पर ज़रा विस्तार से सोचने की आवश्यकता है।

चीनी सेना के घुसने के बहुत पहले से ही अमरीका तिब्बत में दिलचस्पी लेने लगा था। १९४२ में दो अमरीकी जासूसों को तिब्बत भेजा गया था। युद्ध काल में कई बार अमरीकी हवाई जहाज़ तिब्बत में उतरे (इस बहाने से

कि जहाज़ खराब हो गये थे) और अमरीकी सरकार ने तिब्बत के अधिकारियों को विना तार के तार के यंत्र (वायरलेस सेट) भेंट किये।

३ मार्च, १९४६ को एक तिब्बती सद्भावना-मण्डल दिल्ली आया और अमरीकी प्रतिनिधि से मिला। वह राष्ट्रपति ट्रूमन के नाम मित्र राष्ट्रों की विजय पर बधाई का सन्देश लाया था। इसके कुछ दिन बाद लन्दन और न्यू यौर्क से प्रकाशित होने वाली **इन्टेलीजेंस डाइजेस्ट** की ओर से अमौरी दि राइनकोर्ट नामक एक फ्रांसीसी पत्रकार कलिम्पोंग के रास्ते से तिब्बत गया। भारत में अंग्रेज़ अधिकारियों ने और तिब्बत में उनके प्रतिनिधियों ने उसकी मदद के लिये कुछ न उठा रखा। यहाँ तक कि स्वयं दलाई लामा ने भी उससे मुलाक़ात की। १९४७ में अमरीका के एक अनुभवी जासूस निकल स्मिथ को फौजी अड्डों के लिये स्थान चुनने के उद्देश्य से कश्मीर और पश्चिमी तिब्बत का दौरा करने की इजाजत और आवश्यक सुविधाएँ दी गयीं।

जैसे-जैसे कुओमिन्तांग के पतन का समय नजदीक आता गया, वैसे वैसे लासा की लामाशाही अमरीका के नज़दीक आती गयी और चीन से तिब्बत को अलग करने की कोशिश करने लगी। १९४८ में तिब्बत का एक व्यापारी मिशन अमरीका और ब्रिटेन गया। तिब्बत स्वतंत्र और प्रभुसत्ता प्राप्त देश नहीं था। वह चीन का एक प्रान्त मात्र था। परन्तु, इस मिशन को अंग्रेज़ और अमरीकी अधिकारियों ने तिब्बती पासपोर्टों के आधार पर अपने देशों में आने की अनुमति दे दी। क्रिस्टौफ़र रैण्ड नामक पत्रकार ने एक साल बाद लिखा कि "बहुत से जानकार लोगों का ख़याल है कि यह मिशन वास्तव में, फ़ौजी मदद मांगने गया था।"

८ जुलाई, १९४९ को तिब्बत के अधिकारियों ने कुओमिन्तांग के प्रतिनिधियों को अपने यहाँ से निकला दिया। साथ ही वे लोग कुछ स्वतंत्रता का ढोंग रचने लगे। चन्द हफ़्ते बाद, अमरीकी रेडियो पत्रकार लौवेल टौमस और उसका पुत्र अमरीका गया। उन्होंने राष्ट्रपति ट्रूमन का एक पत्र दलाई लामा को दिया। उसमें क्या लिखा था, यह आज तक मालूम नहीं हो सका है। एक राज्य का अध्यक्ष दूसरे देश के एक प्रान्त के शासक को पत्र लिखे— कूटनीति के इतिहास में यह एक अनोखी कार्रवाई थी।

१० अक्तूबर, १९४९ को लौवेल टौमस ने कलकत्ता में कहा कि तिब्बत के अधिकारी कम्युनिज़्म के बढ़ाव को रोकने के लिये बाहरी मदद चाहते हैं और भारत को इस काम में प्रमुख भाग लेना होगा। एक सप्ताह बाद, उसने न्यू यौर्क के अखबारों के प्रतिनिधियों से कहा कि अमरीका को चाहिये कि वह तिब्बत को आधुनिक हथियार भेजने का कोई तरीक़ा निकाले और छापेमार लड़ाई के उपाय बताये। उसने यह भी बताया कि टूमन और एचीसन के नाम वह तिब्बती शासकों से पत्र और जबानी सन्देश लाया है।

इन सन्देशों में क्या था, यह २५ अक्तूबर के **न्यू यौर्क टाइम्स** में प्रकाशित इस समाचार से मालूम हो सकता है कि अमरीका का वैदेशिक विभाग तिब्बत को एक स्वतंत्र देश के रूप में मानता देने के प्रश्न पर विचार कर रहा था। आगे अखबार ने लिखा था:

"इस सवाल को लेकर कुछ कूटनीति की पेचीदगियाँ पैदा हो जाती हैं क्योंकि अमरीका तिब्बत के पहाड़ी इलाक़े को बहुत दिनों से चीन का भाग मानता आया है।...

"...तिब्बती सरकार...ने अभी तक ग़ैर-सरकारी तौर पर कम्युनिस्ट फ़ौजों को रोकने के लिये सैनिक सहायता मांगी है।

"तिब्बत को अलग देश मान लेने पर अमरीका के लिये यह सम्भव हो सकेगा कि कम्युनिज़्म को रोकने के लिये विदेशों को हथियारबन्द करने के वास्ते जो फ़ण्ड (रुपया) है, उसमें से कुछ रक़म वह तिब्बत के लिये खर्च कर सके।..."

ये खबरें पं० नेहरू की अमरीका यात्रा के समय निकली थीं। ध्यान रहे कि तिब्बत में हथियार भेजने का भारत के सिवा और कोई रास्ता नहीं था।

नवम्बर में, तिब्बत के कार्यवाहक राज्याधिकारी (रीजेन्ट) ने एक अमरीकी खबर एजेंसी के सवालों का जवाब देते हुए तिब्बत की आज़ादी का ऐलान कर दिया और "सभी राष्ट्रों से" सहायता की अपील की।

इस समय तक भारत सरकार भी तिब्बत में खूब दिलचस्पी लेने लगी थी। २७ जुलाई, १९४९ को रायटर ने समाचार भेजा कि पं. नेहरू निकट भविष्य में लासा जाने की बात सोच रहे हैं। २९ जुलाई को लन्दन के **टाइम्स** ने दिल्ली का यह समाचार छापा:

"तटस्थ दर्शकों का विचार है कि हाल में भारत सरकार और दलाई लामा की सरकार के बीच जो अधिक घनिष्ठ सम्बंध स्थापित होने के आसार दिखाई दे रहे हैं, उनसे प्रतीत होता है कि कम्युनिज़्म को पश्चिम की ओर फैलने से रोकने के लिये एक और मजबूत दीवार खड़ी हो रही है।"

१० अगस्त को युनाइटेड प्रेस आफ़ अमरीका ने बताया कि वाशिंग्टन के राजनीतिक क्षेत्र "पुराने चीन-तिब्बत सम्बंध की जगह भारत-तिब्बत सम्बंध स्थापित करने की सम्भावना पर" विचार कर रहे हैं। इसके कुछ दिन बाद सिक्किम स्थित भारतीय राजनीतिक अफ़सर एच. एस. दयाल किसी विशेष काम के लिये लासा चल दिये।

१० जनवरी, १९५० को एक अमरीकी खबर एजेंसी ने लन्दन से समाचार भेजा कि "तिब्बत की स्वाधीनता की रक्षा करने के लिये क्या किया जाय, इस प्रश्न पर भारत, ब्रिटेन और अमरीका के बीच समझौता हो गया है।" दो दिन बाद नयी दिल्ली के वैदेशिक विभाग ने ऐलान किया कि ऐसा कोई समझौता नहीं हुआ है, पर उसने यह नहीं कहा कि इस प्रकार की कोई बातचीत भी नहीं हुई है। हिन्दू ने १३ जनवरी, १९५० को लिखा :

"जहाँ तक भारत का सम्बंध है, तिब्बत की मदद में भारतीय फ़ौज के जाने का कोई सवाल नहीं उठता। परन्तु, यदि तिब्बत को हथियार और गोला-बारूद की मदद भेजनी है, तो जाहिर है कि यह मदद भारत होकर ही जा सकती है।... पर स्पष्ट है कि यह एक ऐसा नाजुक सवाल है जिस पर कोई सरकारी बयान नहीं निकल सकता।"

इसके चन्द दिन बाद लासा से एक सद्भावना-मण्डल भारत, अमरीका और कुछ दूसरे देशों की यात्रा के लिये रवाना हो गया। उसका चीन जाने का इरादा नहीं था।

जनवरी १९५०, में चीन में जनवादी राज्य के स्थापित होने के तीन महीने बाद तिब्बत में यह हालत थी। लासा की लामाशाही चीन से लड़ने के लिये सक्रिय रूप से विदेशों से मदद पाने की कोशिश कर रही थी। अंग्रेज़ और अमरीका वाले तिब्बत को चीन से अलग रखने की चेष्टा कर रहे थे। भारत की नीति ऐसी थी जिससे उनकी इस कोशिश में मदद मिलती थी।

चीन की जनवादी सरकार तिब्बत के सवाल का कोई शान्तिमय हल निकालने की कोशिश कर रही थी। २१ जनवरी, १९५० को उसने तिब्बत के अधिकारियों को निमंत्रण दिया कि वे "सवाल का शान्तिमय हल निकालने के वास्ते बातचीत चलाने के लिये" अपने प्रतिनिधि को पीकिंग भेजें। ३० जनवरी, १९५० को उसने मांग की कि विदेशों को भेजा गया सद्भावना-मण्डल वापिस बुला लिया जाय। साथ ही उसने तिब्बत को "उचित क्षेत्रीय स्वायत्त शासन अधिकार" देने का आश्वासन दिया।

तिब्बत के शासकों की तत्काल प्रतिक्रिया यह हुई कि ३१ जनवरी को 'रेडियो तिब्बत' ने ऐलान किया कि दलाई लामा ने सम्भव हमले का मुक़ाबला करने के लिये पड़ोस के देशों से मदद मांगी है। यह रेडियो रेजिनाल्ड फ़ौक्स नामक एक अंग्रेज़ ने तैयार किया था। हर्रार नामक एक अस्ट्रियन को पूर्वी मोर्चे पर फ़ौज की कमान हाथ में लेने को भेजा गया। औफ़श्नाइडर नामक एक दूसरे अस्ट्रियन को महत्वपूर्ण पुलों और नदियों की देखरेख करने का काम सौंपा गया।

इसके बाद शायद लामा सरकार की राय में कुछ परिवर्तन हुआ और उसने टालमटूल की नीति पर चलना शुरू किया। फ़रवरी में चीन सरकार से बातचीत करने के लिये एक मिशन भी लासा से रवाना हो गया। परन्तु, वह भारत में आकर अटक गया और चीन जाना स्थगित करने के लिये नित नये बहाने तलाशने लगा। वह अप्रैल में कलकत्ते पहुँच गया था। जून तक वह हांगकांग जाने के लिये अंग्रेज़ अधिकारियों की अनुमति की बाट देखता रहा। ५ जून को भारतीय पुलिस ने बताया कि मिशन का वीसा (अनुमति पत्र) रद्द कर दिया गया है। ब्रिटिश हाई कमिश्नर ने उसे राय दी कि चीनी राजदूत के आने तक उसे भारत में ही इन्तज़ार करना चाहिये। मिशन के सदस्यों ने तुरन्त इस राय को मान लिया।

इस बीच दलाई लामा का भाई, ग्यालो थोण्डुप एक दूसरे मिशन पर निकला। उसके लिये उसे न पासपोर्ट की दिक्क़त हुई, न वीसा की। वह कलकत्ता में ठहरे हुए तिब्बतियों से मिला और फिर मई में च्यांग काई-शेक से मिलने फ़ार्मोसा चला गया।

९ मई, १९५० को कलकत्ता में ठहरे हुए मिशन के नेता ने ऐलान

किया कि तिब्बत को नेपाल-तिब्बत संधि के अनुसार नेपाल से फ़ौजी मदद पाने की आशा है।

१० मई को, कलकत्ता के बोटानिकल गार्डन्स के सुपरिन्टेन्डेन्ट डॉ. के. बिस्वास कुछ वैज्ञानिकों के साथ दार्जीलिंग से तिब्बत के लिये रवाना हो गये। बताया गया कि वह वनस्पति जीवन का अध्ययन करने के लिये तिब्बत गये हैं।

२० अगस्त को **न्यू यॉर्क टाइम्स** ने समाचार छापा :

> "तिब्बत वालों ने भारत से ज़्यादा हथियार खरीदना शुरू कर दिया है...
>
> "भारत ने निश्चित रूप से कूटनीतिक क्षेत्र में दलाई लामा की ओर से लड़ना शुरू कर दिया है।"

२४ अगस्त को नयी दिल्ली में एक प्रेस कान्फ्रेंस के सामने बोलते हुए पं० नेहरू ने बताया कि वाशिंगटन, लन्दन, मास्को, और पीकिंग में तैनात भारतीय राजदूत इस बीच तिब्बत के सवाल पर अक्सर विचार-विनिमय करते रहे हैं।

२ सितम्बर, १९५० को **मैनचेस्टर गार्ज़ियन** ने लिखा कि कलकत्ता में पड़े हुए तिब्बती मिशन के नेता का कहना है कि यह " स्वतंत्र संसार पर निर्भर करता है " कि उसकी सरकार तिब्बत के दर्रों की रक्षा करेगी या नहीं।

तिब्बती मिशन ने ६ सितम्बर तक भारत में चीनी प्रतिनिधियों से मिलने की कोई कोशिश नहीं की। ६ सितम्बर को वह कलकत्ता में चीनी प्रतिनिधि से मिला। उसने कहा कि मिशन को फ़ौरन पीकिंग के लिये रवाना हो जाना चाहिये। परन्तु तिब्बती प्रतिनिधियों ने चीनी राजदूत का इन्तज़ार करना बेहतर समझा, यद्यपि उसने भी आकर पीकिंग जाने की ही सलाह दी।

मिशन चूँकि कलकत्ता से हिलने का नाम नहीं ले रहा था, इसलिये अन्त में, २४ अक्तूबर, १९५० को चीनी आज़ाद फ़ौज को पूर्वी तिब्बत में प्रवेश करने का हुक्म दे दिया गया। दो दिन बाद **न्यू यॉर्क हेराल्ड ट्रिब्यून** ने समाचार छापा कि तिब्बत के सर्वोच्च शासक के यहाँ से लन्दन में कुछ प्राइवेट तार आये हैं जिनसे पता चलता है कि "उनके विचार में पश्चिमी शक्तियों ने तिब्बत के साथ विश्वासघात किया है।" २५